









५  
५०

५  
१५

५  
१५















८५  
८५







॥ श्री श्री विश्वेश्वरो जयति ॥

## ॥ यति धर्म निर्णयः ॥

❀ पूर्व भागः ❀

अविमुक्त वाराणसीक्षेत्रे कामरूपमठस्थ पूज्यपाद  
श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमहादेवा  
नन्द तीर्थ स्वामिनः शिष्येण श्रीपरमानन्द  
तीर्थ स्वामिना संगृहीत यतिधर्मनिरूप  
णमुपक्रम्य वेदस्मृतिपुराणेतिहासोक्त  
चतुर्वर्णाश्रम धर्मः प्रदर्शितः ॥

वासिष्ठ श्रीप्रियनाथतत्त्वरत्न परिशोधितः

श्रीयुक्त सेठजि किशोरिलाल  
श्रीयुक्त सेठजि मकुन्दलाल महोदययोः ।

संपूर्ण साहाय्येन मुद्रितोऽयं ग्रन्थः ।

॥ काशी ॥

नौगवर्षव्याप्तय मुद्रणालय

सन्वत् १९२४





॥ श्रीश्रीविश्वेश्वरो विजयते ॥

यतिधर्मनिर्णयः ।

पूर्वभागः ।

अविमुक्त वाराणसीक्षेत्रे कामरूपमठस्थ पूज्यपाद  
श्री १०८ मठ परमहंस परिव्राजकाचार्य  
श्रीमहोदयानन्दतीर्थस्वामिनाम् शिष्येण  
श्रीपरमानन्दतीर्थस्वामिना संगृहीतो  
वेदस्मृतिपुराणोत्तहासेनतत्तुर्व-  
र्णाश्रमधर्मप्रदर्शनपरः ॥

काशीराजसभापण्डितकाशीधर्मसभाध्यक्ष

वाशिष्ठ

श्रीप्रियनाथतत्त्वरत्नेन परिशोधितः ।

श्रीयुक्त सेठजी किशोरीलाल श्रीयुक्त सेठजी मुकुन्दलाल  
महोदययोः सम्पूर्णसाहाय्येन

काश्याम्

नागेश्वरयन्त्रालये मुद्रितश्च ।

सम्वत् १९१४



# यतिधर्मनिर्णयोत्तरभागस्य सूचीपत्रम् ।

| सूचीपत्रम् ।                   | पृष्ठम् | पंक्तिः | सूचीपत्रम्                        | पृष्ठम् | पंक्तिः |
|--------------------------------|---------|---------|-----------------------------------|---------|---------|
| मङ्गलाचरणम्                    | १       | ४       | कलौ संन्यास ग्रहण                 | ११५     | २१      |
| संन्यास लक्षण विचारः           | १       | १२      | विधिवचनानि                        | ११५     | २१      |
| अधिकारि भेदः                   | ५       | १८      | संन्यासस्य विप्रकर्तृदोषः         | ११५     | २१      |
| श्रुपिलक्षणं                   | ६       | ५       | कलौ युद्धिष्ठिराद्यश्वमे-         | ११५     | २१      |
| जीवन्मुक्तपुरुष लक्षणम्        | ६       | १३      | धादि यज्ञ करणप्रमाणम्             | १२०     | १२      |
| स्वकामेभ्यः पदानां             | ८       | १       | संन्यास ग्रहणं कलौ केजनाः         | १२२     | ४       |
| ब्राह्मण्यहानिः                |         |         | कृतवन्तः                          |         |         |
| शुद्धचित्तस्य संन्यासिनः       | ९       | १४      | संन्यासग्रहणे ब्राह्मणस्य         | १२४     | १०      |
| धेष्टव्यम्                     |         |         | धिकारस्तत्प्रमाणञ्च               |         |         |
| शुक्लप्रतिजनकसंवादः            | २१      | २१      | दशविध ब्राह्मणलक्षणं              | १४१     | २०      |
| संन्यासलक्षणम्                 | २२      | १०      | विप्रस्य लक्षणं                   | १४३     | २३      |
| पण्डितलक्षणं                   | ३५      | ७       | पतितस्य संन्यासग्रहणनिषेधः        | १४४     | ६       |
| ब्राह्मणस्य लक्षणम्            | ३५      | २२      | जन्मना ब्राह्मणः कश्चित्          | १४६     | ८       |
| मूर्खलक्षणम्                   | ३७      | ४       | जन्मना जायते शुद्र                |         |         |
| धृतराष्ट्र प्रश्नः             | ३८      | १३      | इति विचारः                        | १५१     | १५      |
| सनत् सुजातं प्रति              | ४४      | १४      | क्षत्रियवैश्यानां तुभ्यां श्रमो   | १५३     | १६      |
| ब्रह्मजिज्ञासा हेतुः           |         |         | लिग धारणं च निषिद्धं              |         |         |
| संन्यासाश्रमचतुर्विध्यम्       | ५८      | २०      | क्षत्रियस्य भिक्षाटनं निषिद्धं    | १५३     | १६      |
| तुरीयातीतः बध्नत प्रमाणम्      | ६५      | १३      | रघुनन्दनमहाचार्येण कृतः           | १५४     | १६      |
| कुटीचकः पुत्राक्ष              | ७२      | ६       | संन्यास विचारः                    | १५६     | ११      |
| जीवी गृहस्थयत् बहुदक-          | ७५      | ४       | आनुरविधिः                         | १५९     | १       |
| संन्यास लक्षणम्                |         |         | लिगधारणं दोषः                     |         |         |
| हंस लक्षणम्                    | ७६      | ३       | क्षत्रियवैश्यानां र्वाभारमार्गमनं | १६०     | १६      |
| परमहंसलक्षणम्                  |         |         | स्त्रीशूद्रयोः संन्यास            |         |         |
| कुटीचकादिधर्मः                 | ७९      | १५      | ग्रहण विचारः                      | १६१     | १४      |
| कुटीचकादि संन्यासः             | ८४      | १५      | यथाक्त साधन संपन्नस्य             | १७२     | ९       |
| विधिनिर्णयः                    |         |         | संन्यासाधिकारः                    |         |         |
| चतुर्विधावधतप्रकारान्तरः       | १०५     | १२      | विश्वेश्वर पद्धतौ मतं             | १७८     | २१      |
| कलौ संन्यासग्रहणं शास्त्रे वि- | १०८     | ६       | स्वधर्मपालकस्य ब्रह्मप्राप्तिः    | १८२     | १८      |
| हितं निषिद्धं वा तद् विचारः    |         |         | मनुसंहितायां संन्यासध-            |         |         |
| कलौ पुराणां कं संन्यास         | ११५     | ३       | धर्म कथनं १९ संहितायां च          | १९४     | ११      |
| ग्रहणं निषिद्धम्               |         |         | पौराणिक सममत यतिधर्मः             |         |         |
|                                |         |         | यत्याश्रम निर्णयः                 | २०६     | ११      |
|                                |         |         | काशीचरणे संन्यासधर्मः             | २१५     | ३       |

# सूचीपत्रम् ।

| क्रि. | सूचीपत्रम् ।                  | पृष्ठसं. | पंक्तिः | सूचीपत्रम् ।                  | पृष्ठसं. | पंक्तिः |
|-------|-------------------------------|----------|---------|-------------------------------|----------|---------|
| २१    | प्रकृतत्वं निर्णयः            | २२२      | ९       | ततः पयोदधिघृतानि त्रि-        | २८९      | २       |
| २१    | चतुर्थांशधर्मस्य ब्राह्मण-    | २३३      | ११      | घृतं कृतानि प्राश्नीयान्तत्   |          |         |
| २१    | कर्त्तव्यता                   |          |         | प्रमाणं शक्नु भक्ष्यान्ते     |          |         |
| १२    | युधिष्ठिर नारदसंवादः          | २३४      | १३      | सावित्री प्रवचः               | २९१      | १४      |
| १२    | भगवदुद्धवसंवादः               | २३९      | २       | आदित्यास्तमयान् पूर्व         | २९५      | ३       |
| १२    | आत्मपरायणं संन्यासधर्मं       | २४३      | १२      | स्वयच्छोक्त प्रकारतः श्रौतं   |          |         |
| १२    | निर्णयः                       |          |         | स्मार्त्तं तथवाग्निनिर्घपेत्॥ |          |         |
| १२    | सुमुक्तप्रकरणं वैराग्यश्च     | २५३      | १०      | यदन्यथा ध्यानं मुक्तं तदाह    | २९७      | १७      |
| १०    | सुमुक्तप्रयोगः                | २५५      | १६      | आहिताग्निर्वैश्वानरीष्ट       | ३१३      | ७       |
| १०    | संन्यासारम्भकालीनप्रथमं       | २५८      | १७      | कुर्यात्                      |          |         |
| २०    | प्रयश्चित्तम्                 |          |         | विरजाहोममपि केचिदाहुः         | ३१५      | २०      |
| २३    | संन्यास विधिनिरूपणं           | २६६      | २३      | संन्यास कर्त्तव्यं            | ३१८      | ११      |
| १६    | अष्ट आह कर्त्तव्यता           | २६८      | २       | अथ दण्डलक्षणं                 | ३१९      | ६       |
| १६    | संन्यास ग्रहणात् पूर्व        | २७१      | १९      | अथ दण्डस्वरूपादिकथनं          |          |         |
| १६    | दिवसेमंगलादि कर्त्तव्यं       |          |         | अथ ब्रह्ममुद्रासहितं दण्ड     |          |         |
| १६    | आहोर्बुदेवतामाह               | २७५      | ४       | संस्कारः ।                    | ३२२      | २०      |
| १५    | अस्यविचारः                    | २८१      | १२      | कदाचिद्भूमौ पतितेदण्डे        | ३२३      | १५      |
| १५    | अष्ट आह प्रयोगः               |          |         | दण्डान्तरं ग्रहणमन्त्रः       |          |         |
| १६    | आहानन्तरं वपनं कर्त्तव्यं     | २८३      | २१      | तीर्थे दण्डालोडनादि           | ३२४      | ११      |
| १६    | तत् प्रमाणं                   |          |         | दण्ड व्यवधाने प्रायश्चित्तं   | ३२५      | १७      |
| १६    | प्रथमपानानन्तरं राक्तमुष्ट्या | २८७      | ३       | व्यवधाने मतान्तरं             | ३२६      | ४       |
| १६    | दिग्रहणं तत् प्रमाणम्         |          |         |                               |          |         |

पूर्वभागः समाप्तः ।





\* ॐ तत् सत् \*

## ॥ यति धर्म्मनिर्णयः संन्यासदर्पणं ॥

---

॥ ॐ श्रीगणेशाय नमः ॥

ॐ नारायणाय नमः । ॐ श्रीगुरवे नमः ।

॥ ॐ श्रीसरस्वत्यै नमः ॥

नमः श्रीगुरवे नित्यं सच्चिदानन्द रूपिणे ॥  
तस्य पादाम्बुजे स्मृत्वा यतिधर्म्मो वितन्यते ॥ १ ॥  
भिक्षुणां पटलं यत्र विश्रान्ति मगमत् सदा ॥  
तत्रैपदं ब्रह्मतत्त्वं ब्रह्ममात्रं करोतु माम् ॥ २ ॥  
सन्न्यासोपनिषद्वेद्यं सन्न्यासिपटलाश्रयम् ॥  
सत्ता सामान्यविभवं स्वमात्रमितिभावये ॥ ३ ॥  
महादेवं गुरुं नत्वा तीर्थानन्दस्वरूपिणम् ॥  
परमानन्दशिष्येण सन्न्यास ग्रन्थ उच्यते ॥ ४ ॥

---

॥ ज्ञानं संन्यास लक्षणमिति योगशास्त्रे ॥

एकमेवाद्वितीयं यद्गुरोर्वाक्येन निश्चितम् ॥  
एतदेकान्त मित्युक्तं न मठो न वनान्तरम् ॥ १ ॥  
असंशयवतां मुक्तिः संशयाविष्टचेतसाम् ॥  
न मुक्तिर्जन्मजन्मान्ते तस्माद्विश्वासमाप्नुयात् ॥ २ ॥



कर्मत्यागान्न संन्यासो न प्रेषोच्चारणेन तु ॥

सन्ध्यो जीवात्मनो रैक्यं सन्न्यासः परिकीर्तितः ॥ ३ ॥

वमनाहारवद्वयस्य भाति सर्व्वेषणादिषु ॥

तस्याधिकारः सन्न्यासे त्यक्त देहाभिमानिनः ॥ ४ ॥

( भागवते ) ऋतञ्च सूनृतावाणी कविभिः परिकीर्तिता ॥

कर्मस्वसङ्गमः शौचं त्यागः संन्यास उच्यते ॥ ५ ॥

### ॥ नृसिंहोत्तरतापन्युपनिषदि ॥

वानप्रस्थशतमेकमेकेन यतिः तत् समम् ॥

यतीनान्तु शतं पूर्णमेक मेकेन रुद्रजापकेन तत् समम् । ६ ॥

॥ निरालम्बोपनिषदि ॥ स्वप्रकाशमानन्दधनं शून्यं  
मभवदेवंवित् स्वप्रकाशं परमेव ब्रह्मभवति ते देवाः पुत्रैष-  
णायाश्चयुश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च ससाधनेभ्यो  
व्युत्थाय निरागारा निष्परिग्रहा अशिखा अयज्ञोपवीता  
अन्धा वधिरा मुग्धाः क्लीवा मूका उन्मत्ता इव परिवर्त्तमानाः  
शान्ता दान्ता उपरता स्तितिक्ष्वः समाहिता आत्मरतया  
आत्मक्रीडा आत्मभिधुना आत्मानन्दाः प्रणवमेव परंब्रह्मात्म-  
प्रकाशं शून्यं जानन्तः तत्रैव ॥ ७ ॥

### ॥ सर्व्वोपनिषदि ॥

निरालम्बं समाश्रित्य सालम्बं विजहाति यः ॥

स संन्यासी च योगी च कैवल्यं पदमश्नुते ॥ ८ ॥

॥ कः संन्यासीत्याशङ्क्याह ॥ संन्यासी सर्व्वधर्म्मन्  
परित्यज्य निर्म्ममो निरहंकारो भूत्वा ब्रह्मेष्टं शरणमुपगम्य

तत्त्वमासि सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेहनानास्ति किञ्चनेत्यादि  
महावाक्यार्थानुभवज्ञानात् ब्रह्मैवाहमस्मीति निश्चित्य निर्वि  
कल्पसमाधिना स्वतन्त्रो यतिश्चरति स संन्यासी स मुक्तः  
स पूज्यः स योगी स परहंसः सोऽवधूतः स ब्राह्मण इति ॥ ६ ॥

## ॥ निरालम्बोपनिषदि ॥

यतीनां भूषणं ज्ञानं सन्तोषो हि द्विजन्मनाम् ॥

सम्यक् परीक्ष्यदातव्यं मांसं षणमासवत्सरम् ॥ १० ॥

## ॥ महाभारते शान्तिपर्वणि युधिष्ठिरवाक्यमाह ॥

तपसा सहदाप्नोति बुद्ध्या वै विन्दते महत् ॥

त्यागेन सुखमाप्नोति सदा कौन्तेय तत्त्ववित् ॥ ११ ॥

भ्रातुरस्य हितंवाक्यं शृणु धर्मज्ञसत्तम ॥

दण्ड एव हि राजेन्द्र क्षत्रधर्मो न मुण्डनम् ॥ १२ ॥

सुखञ्च दुःखञ्च भवाभवौ च लाभालाभौ मरणं जीवितञ्च ॥

पर्यायतः सर्वमवाप्नुवन्ति तस्माद्धीरो नैवहृष्येन्न शोचेत् ॥

सन्तोषात् स्वर्गमाप्नोति सन्तोषात् परमं सुखम् ॥

याभिः प्रत्याहरेत् कामान् कुर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ॥ १४ ॥

यदाचायं न विभेति यदा चास्मान्न विभ्यति ॥

यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ १५ ॥

यदा न भावं कुरुते सर्वभूतेषु पापकम् ॥

कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ १६ ॥

नीत मानमोहश्च बहुसङ्गविवर्जितः ॥

आत्मज्योतिषः साधो निर्वर्ण सुपद्यते ॥ १७ ॥



अकामद्वेषयुक्तस्य दण्डनत्या युधिष्ठिर ॥  
 समदर्शिनो भूतेषु भैक्षाश्रमपदं भवेत् ॥ १८ ॥  
 सर्वार्णयेतानि कौन्तेय विद्यन्ते मनुजर्षभ ॥  
 साध्वाचारप्रवृत्तानां चतुराश्रम्य कारिणाम् ॥ १९ ॥  
 वेत्ति ज्ञानं विसर्गश्च निग्रहानुग्रहं तथा ॥  
 यथोक्त वृत्तेर्धीरस्य क्षेमाश्रमपदं भवेत् ॥ २० ॥  
 अर्हान् पूजयतो नित्यं संविभागेन पाण्डव ।  
 सर्वतस्तस्य कौन्तेय भैक्षाश्रमपदं भवेत् ॥ २१ ॥  
 वेदाध्ययन नित्यत्वं क्षमायाचार्य्य पूजनम् ॥  
 अथोपाध्याय शुश्रूषा ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥ २२ ॥  
 आह्निकं जपमानस्य देवान् पूजयतः सदा ॥  
 धर्मेण पुरुषव्याघ्र धर्माश्रमपदं भवेत् ॥ २३ ॥  
 कर्मणा वर्द्धते धर्मो यथा धर्मस्तथैव सः ॥ इति ॥ २४ ॥  
 ईश्वरार्पितं नैष्कर्म्यव्यतिरेकेन न सिध्यति ( न लभते )  
 अतएव तद्दर्शयति भागवते एकादशस्कन्दे ।

### ॥ आविहोत्रउवाच ॥

कर्माकर्म विकर्मेति वेदवादो न लौकिकः ।  
 वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥ २५ ॥  
 पराक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ॥  
 कर्मणाख्याय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥ २६ ॥  
 नाचरेद्व्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञो जितेन्द्रियः ।  
 विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्यु मुपैति सः ॥ २७ ॥

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसंज्ञो ऽर्पितमीश्वरे ॥  
 नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥ २८ ॥  
 य आशुहृदयग्रन्थि निर्जिहीर्षुः परात्मनः ॥  
 विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥ २९ ॥  
 लब्धानुग्रह आचार्य्योक्तेन संदर्शितागमः ॥  
 महापुरुषमभ्यर्च्यैन्मूर्त्यभिमतयात्मनः ॥ ३० ॥  
 शुचिः संमुखमासीनः प्राणसंयमनादिभिः ॥  
 पिण्डं विशोध्य संन्यासः कृतरक्षोऽर्चयेद्धरिं ॥ ३१ ॥  
 (उद्धवउवाच) योगेश योगविन्यास योगात्मन् योगसंभव ॥  
 निश्रेयसाय मे प्रोक्त स्त्यागः संन्यासलक्षणम् ॥ ३२ ॥  
 त्यागोयं दुष्करो भूषन् कामानां विषयात्मभिः ॥  
 सुतरां त्वयि सर्वात्मन भक्तैरिति मे मतिः ॥ ३३ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

वद्धोमुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः ॥  
 गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम् ॥ ३४ ॥  
 एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते ॥  
 बन्धोऽस्याविद्ययानादि विद्यया च तथेतरः ॥ इति ॥ ३५ ॥

(अथ वायुपुराणे अधिकारि विभेदेनाह)

अधिकारि विभेदेन कर्मज्ञानोपदेशतः ॥  
 एतत्सर्वं जगन्न्यूनं शब्दब्रह्मात्ममूर्तिभिः ॥ १ ॥  
 ज्ञानाच्छ्रेयस्तथा यज्ञो यज्ञाच्छ्रेयस्तथातपः ॥  
 न्यासस्तपसः श्रेयान् तस्माज्ज्ञानं गुरुःस्मृतम् ॥ २ ॥



सन्न्यासः कर्मणोन्यासः कृतानामकृतैः सह ॥  
 कुशलाकुशलानाञ्च ग्रहणं त्याग उच्यते ॥ ४ ॥  
 अव्यक्ताद्व्येऽविशेषाच्च विकारोऽस्मिन्न चेतने ॥  
 चेतनाऽचेतनान्यत्वविज्ञानं ज्ञानमुच्यते ॥ इति ॥ ४ ॥

२ नैदमुपलक्षणम्  
 प्रत्ययेऽत्र

॥ वायुपुराणे ऋषिलक्षणमाह ॥

एवमाश्रमधर्माणां साधनात् साधवः स्मृताः ॥  
 गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ॥ ५ ॥  
 न च देवा न पितरो मुनयो न च मानवाः ॥  
 अयं धर्मोऽह्यं नेति ब्रुवन्तोऽभिन्न दर्शनाः ॥ ६ ॥  
 धर्माधर्माविहप्रोक्तौ शब्दावेतौ क्रियात्मकौ ॥  
 कुशलाकुशलं कर्म धर्माधर्माविति स्मृतौ ॥ ७ ॥

( इति ऋषिलक्षणमुक्तं )

॥ जीवन्मुक्त पुरुषलक्षणमाह ॥

स्वशरीर व्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा षट्पद वृत्त्यास्थित्वा  
 स्वरूपानु सन्धानं कुर्वन् सर्वमनन्यबुद्ध्या स्वस्मिन्नेव मुक्तो  
 भवति स विराट् सपरिव्राट् सर्वक्रियाकारकनिर्व्वर्त्तकः  
 गुरुःशिष्यः शास्त्रादि विनिर्मुक्तः सर्वसंसार विसृज्य मायामो  
 हितः परिव्राट् वाच्यः । कथं निर्धनिकः सुखी धनवान् ज्ञाना  
 ज्ञानोभयातीतः सुखदुःखातीतः स्वयंज्योतिः प्रकाशः स  
 वेद्यः सर्वज्ञः सर्वसिद्धिदः सोऽहमिति तद्विष्णोः परमं प  
 यत्रगत्वा न निवर्त्तन्ते योगिनः ॥ इति ॥

## ॥ रामरहस्ये उपनिषदि ॥

भुक्तिमुक्ति पदं चैतत्तस्मादप्यतिरिच्यते ॥

मनुष्येषु सर्वेषामधिकारोऽस्ति देहिनाम् ॥ १ ॥

॥ मनुः ॥ श्रुतिस्मृति सदाचारा आज्ञारूपाहि मे मताः ॥

आज्ञाच्छेदी ममद्रोही स याति नरकं सदा ॥ २ ॥

जन्मना जायते शूद्रः कर्मणा जायते द्विजः ॥

जीवन् कर्मपरित्यागं यः करोति नराधमः ॥ ३ ॥

समूढो नरकं याति यावदाभूतसंश्रवम् ॥ इति ॥

॥ अस्यार्थः ॥ यत् आत्मनः श्रेयःसाधनं तपोयोगादिकमाचरति ततश्च मोक्षं प्राप्नोति । किन्तु वेदविहितधर्ममुत्सृज्य यः कामंचरते यथेष्टं इच्छते वर्त्तते स सिद्धिं तत्त्वज्ञानं न प्राप्नोति । इति आश्रमधर्मानुकूलं कर्म सर्वेषामलङ्घ्यं तस्यैव तपःशब्दवाच्यत्वात् सन्न्यासिनामपि विहितं कर्मकर्तव्यमेव कर्महीने तु पातित्यमिति दर्शनात् ॥ अहरहः सन्न्यासुपासीत उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति, उद्यन्तमस्तमयपर्यन्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते ऽसावादित्यो ब्रह्मेति ब्रह्मैवसद्ब्रह्माप्येति य एवं वेद इति च सर्वे वेदा ब्राह्मणोचितं नित्यकर्मप्रशंसन्ति श्रौतस्मार्त्तादिकं यतः कर्मार्थमेव श्रुतिप्रवृत्तिः ॥ अतः सर्वैराश्रमिभिर्वेदोक्तं कर्म अवश्यकर्तव्यमेव ।

देवाच्चर्चनस्नान भिक्षाचर्यादिकं कर्म यतीनाञ्च विद्यत एव ॥

ब्रह्मचारिण स्तु स्नानसन्ध्यास्वाध्यायेश्वरपूजागुरुकूलवासा



दिकं कर्म उचितं । अतःस्वकर्मभ्रष्टाणां ब्राह्मण्यहा  
प्रसाक्तिः स्यात् ॥ इति ॥

विप्राणां कर्मणाधर्मं साध्यं स्यादिति मे मतम् ॥

धर्मेण सर्वपापौघो नष्टं याति शुचिब्रतात् ॥ ४ ॥

पापसंघे तथा नष्टे मनः शुद्धिः प्रजायते ॥

शुद्धे मनसि सर्वात्मसाक्षात् कारो भवत्यलम् ॥ ५ ॥

स एवमुक्तः सर्वेषां ब्राह्मणानां पुरः स्थितः ॥

वेदनिन्दापरा ये तु तदाचार विवर्जिताः ॥ ६ ॥

ते सर्वे नरकं यान्ति यद्यपि ब्रह्मबीजजाः

( इति मनुवचनादुक्तं ) ( मैत्रेय उपनिषदि )

इन्द्रियार्थ विमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥ ७ ॥

चित्तमेव हि संसार स्तत् प्रयत्नेन शोधयेत् ॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ॥ ८ ॥

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चा शुद्धमेव च ॥

अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं काम विवर्जितम् ॥ ९ ॥

मनएवमनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥

बन्धाय विषया सक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥ १० ॥

सत्यशौचरतोयस्तु देवतातिथि पूजने ॥

स याति ब्रह्मणोलोकं यावदिन्द्राश्चतुर्दश इति ॥ ११ ॥

( पुराणेऽपि ) द्वेषे वासुदेवस्य चरश्चाचरमेव च ॥

चरं सन्यासिनां रूपमचरं प्रतिमादिकमिति ॥ १२ ॥

( गीतायां ) क्षरः सर्वाणि भूतानि कुटस्योऽक्षर उच्यते ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मे त्युदाहृतः ॥ १३ ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानिचात्मनि ॥  
 संपश्यन् ब्रह्मपरमं याति नान्येन हेतुना ॥ १४ ॥  
 अद्वैतं ज्ञानमत्युग्रं तेन मुक्तो भवेन्नरः ॥  
 इहामुत्रैक रूपत्वात् प्राणिनः कर्म संक्षये ॥ १५ ॥  
 देहत्यागो विमुक्तिः स्यादिति वेदविदो विदुः ॥  
 अद्वैतनिन्दां कुर्वन्ति ये मूढादुःखभोगिनः ॥ १६ ॥  
 ते सर्वे नरकं यान्ति मातृनिन्दापरा यथा ॥  
 अद्वैतनिरतो यत्र सदेशः पुण्यवर्द्धनः ॥ १७ ॥  
 तद्दर्शनपरा ये तु ते मुक्ताः स्युर्नसंशयः ॥  
 आत्मनाश्च सहस्राणि बहूनि भरतर्षभ ॥ १८ ॥  
 योगी कुर्यात् बलं प्राप्य तैश्च सर्वामहीं चरेत् ॥  
 प्राप्नुयाद्विषयान् कांश्चिदुग्रहं सतपश्चरेत् ॥ १९ ॥  
 संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यस्तेजोगणानिव ॥

( शुद्धचित्तस्य संन्यासिनः श्रेष्ठत्वमाह )

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकराबुभौ ॥ ३० ॥  
 तयो स्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥  
 ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ॥ ३१ ॥  
 लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥  
 कायेन मनसा बुद्ध्या केवलै रित्न्द्रियैरपि ॥ ३२ ॥  
 योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥  
 संन्यास स्तु महाबाहो दुःखसामुमयोगतः ॥  
 योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ३३ ॥

अस्यार्थः ॥ पञ्चमाध्याये गीतायां अभिप्रायमाह । यस्मात्



सन्न्यासः कर्मयोगस्य मोक्षैक फलकत्वं प्रदर्शित न्यायेनति  
 तस्मादपक्वान्तः करणेन मोक्षार्थिना कर्मैव कर्तव्यं न तु  
 न्न्यासः । अपक्वान्तरात्मनः सन्न्यासो दुर्घट इत्युपदिशना  
 सन्न्यास इति ॥ अयोगतस्त्वयोगे कर्मयोगानुष्ठानजन  
 चित्तशुद्ध्यभावे संन्यासो ज्ञाननिष्ठालक्षण आप्तुमधिग  
 दुःखं दुर्घटं चित्तशुद्ध्येकसाध्यत्वात् ज्ञाननिष्ठालक्षण सन्न्या  
 स्य कारणाभावे कार्यभावे इति न्यायेन कर्मसंभावितचि  
 शुद्ध्यभावे संन्यासो न सिध्यतीत्यर्थः । एवं संन्यासस्य कर्म  
 योगानुष्ठानसंभावितचित्तप्रसादैकलभ्यत्वं निश्चित्य इदं  
 कर्मयोगेन सुपक्वान्तः करणस्य तु मुमुक्षोः संन्यासः कर्त  
 इत्याशयेनाह ॥ योगेति ॥ गीताषष्ठाऽन्याये । अनाश्रित  
 कर्मफलं कार्यकर्म करोतियः ॥

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ ३४ ॥  
 यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ॥  
 न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥ ३५ ॥

॥ अस्यार्थः ॥ अविशुद्धचित्तत्वात् संन्यासोऽपि नास्ति  
 इत्याशंका । ब्रह्मणीति ॥ ब्रह्मण्याध्याय परमेश्वरे समर्प्य तत्  
 फले च सङ्गंत्यक्त्वा यः कर्माणि करोति । असौ पापेन बन्धहे  
 तया पापिष्ठेन पुण्यपापात्मकेन कर्मणा न लिप्यते । यथा  
 पद्मपत्रमम्भसीव ॥ बन्धकत्वाऽभावमुक्त्वा मोक्षहेतुत्वं स  
 चरणं दर्शयति । कायेन स्नानादि मनसाध्यानादि बुद्ध्या तत्  
 निश्चयादि केवलैः कर्माभिनिवेशरहितैरिन्द्रियैः श्रवण कीर्त  
 नादि लक्षणं कर्मफलसङ्गंत्यक्त्वा चित्तशुद्ध्ये कर्मयोगिनः

कुर्वन्ति ॥ परमेश्वरैकनिष्ठः सन् कर्मणां फलं त्यक्त्वा कर्माणि  
कुर्वन् आत्यन्तिकीं शान्तिं मोक्षं प्राप्नोति । एवं तावत्  
चित्तशुद्धिशून्यस्य संन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते इत्ये-  
तत् ॥ शुद्धचित्तस्य संन्यासः श्रेष्ठ इत्याह ॥ सर्वकर्मणीति  
वशी जितचित्तः सर्वकर्मणि विक्षेपकानि मनसाविवेक-  
युक्तेन संन्यस्य सुखं यथा भवति एवं ज्ञाननिष्ठः सन्नास्ति ।

॥ इति भावः ॥

सर्वकर्मणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ॥  
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ इति ॥ ३६ ॥

सूतसंहितायां ।

चित्तपाकानु गुण्येन प्रव्रज्यां कुरुते पुनः ॥  
तत्र मुमुक्षुः संन्यासी प्रेरितः परमेश्वरात् ॥ १ ॥

गीता षोडशाऽध्याये ।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिं ज्ञानयोगं व्यवस्थितिः ।  
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवं ॥ १ ॥

॥ अस्यार्थः ॥ पूर्वाध्यायान्ते एतदुद्धां बुद्धिमान् स्यात्  
कृतकृत्यश्च भारतेत्युक्तं तत्र क एतत्तत्त्वं बुध्यते को वानबु-  
ध्यत इत्यपेक्षायां तत्त्वज्ञानेऽधिकारिणोऽनधिकारिणश्च विवे-  
कार्थं निरूपिते हि कार्यार्थे चाधिकारि जिज्ञासा भवति तदुक्तं  
भट्टैः ॥ भारो यो येन बोद्धव्यः स प्रागान्दोलितो यज्ञः ।  
तदा कस्तस्य बोधेति शक्यं कर्तुं निरूपणमिति ॥  
तत्राधिकारी विशेषणभूतां देवीं संपदमाह । अभयमिति ।  
अभयं भयाभावः । इत्याद्युक्तं ॥ ११ ॥



## ॥ नारदोपनिषदि परिव्राजके ॥

संसारदोषदृष्ट्वैव विरक्तिर्जायते सदा ॥

विरक्तस्य तु संसारात् सन्यासः स्यात् न संशयम् ॥ १ ॥

विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान् सरक्तस्तु गृहे वसेत् ॥

सरागोनरकं याति प्रव्रजन् हि द्विजाधमः ॥ २ ॥

यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरंकरः ॥ ३ ॥

यदा मनसि संजातं वैतृष्ण्यं सर्व्ववस्तुषु ॥

तदा सन्यासमिच्छन्ति पतितः स्याद्विपर्य्यये ॥ ४ ॥ इति ॥

अथेदानीं अन्तःकरणशुद्धिं विना सर्व्वकर्म

सन्यासो त्यागो न सम्भवति तदाह ।

(टीका) सर्व्वकर्म सन्यासो वा इति निर्विवादं चतुर्थे  
निर्णीतं ॥ अज्ञेन त्वन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तये क  
र्माण्यनुष्ठेयानि । तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिष  
न्ति यज्ञेन दानेन तपसा ऽनाशकेन इति श्रुतेः ॥ सर्व्वक  
र्माखिलं पार्थ ज्ञाने परित्यज्यते ॥ इति भगवद्वचनात्  
एवं सर्व्वकर्माणि ज्ञानार्थानि तथा सर्व्वकर्मसन्यासोऽपि  
ज्ञानार्थः श्रूयते एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति  
शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं  
न पश्येत् प्रथमकृत सन्यासेनैव ज्ञानाधिकारलाभे तदुक्त  
काले कर्मानुष्ठानवैयर्थ्यञ्च तस्मादादौ भगवदर्पणबुद्ध्या  
निष्कामकर्मानुष्ठानादन्तःकरणशुद्धौ तीव्रेण वैराग्येण  
विविदिषायां दृढायां सर्व्वकर्मसन्यासः श्रवणमननादि-

रूपवेदान्तवाक्य विचाराय कर्तव्य इति भगवतो मतं तथा  
चोक्तं ॥ न कर्मणा मनारम्भा नैष्कर्म्यं पुरुषोऽनुते ॥ इति  
च आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते । योगारूढस्य  
तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ इति च योगोऽत्र तीव्रवैराग्य  
पूर्विका विविदिषा तदुक्तं वार्त्तिककारैः "प्रत्यग्विविदिषा सि-  
द्ध्यै वेदानुवचनादयं ब्रह्मावाप्त्यै तु तत्त्याग ईप्सन्तीति श्रुते  
वर्वालादिति स्मृतिश्च ।" कषायपक्तिः कर्मणि ज्ञानन्तु प-  
रमागतिः । कषाये कर्मभिः पक्षे ततो ज्ञानं प्रवर्तते ॥ इति क्वे  
मोक्षधर्मे च ॥

कषायं पाचयित्वा च श्रेणीस्थानेषु च त्रिषु ॥

प्रव्रजेच्च परंस्थानं परिव्राज्यमनुत्तमं ॥

भावितैः कारणैश्चायं बहुसंसारयोनिषु ॥ १ ॥

आसादयाति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे ॥ २ ॥

तमासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चितः ॥ इति श्लोकः ॥

॥ टीका ॥ त्रिष्वश्रमेषु कोन्वर्थो भवेत् परमभीप्सत

इति मोक्षं वैराग्यं एतेन क्रमाश्रमसंन्यासौ द्वावपि दर्शितौ

॥ तथा च श्रुतिः । ब्रह्मचर्यं समाप्य गृहीभवेद् गृहादवनी

भूत्वा प्रव्रजेद्यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा

वनाद्वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदिति तस्मादस्याविर

क्ततादशायां कर्मानुष्ठानमेव तस्यैव विरक्ततादशायां स-

न्यासः श्रवणाद्यवसरदानेन ज्ञानार्थ इति ॥

कर्मणां यावज्जीवादि श्रुतिविहितानां नित्यानां नैमि

त्तिकानां च संन्यासं त्यागं जिज्ञासूनामज्ञं प्रति कथयसि

दि-



वेदमुखेन पुनस्तद्विरुद्धं योगञ्च कर्मानुष्ठानरूपं शंसा  
एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति तमेतं वेदा  
वचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाश  
नेत्यादिना वाक्यद्वयेन ॥

निराशीर्यत चित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः शरीरं वे  
वलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ छित्त्वेन संशयं यो  
मान्तिष्ठोतिष्ठ भारत ॥ इति गीतावाक्यद्वयेन वा तत्रै  
मज्ञं प्रतिकर्म तत्यागयो विधानादयुगपदुभयानुष्ठानासम्  
वात् एतयोः कर्म तत्यागयोर्मध्ये यदेकं श्रेयः प्रशस्य  
मन्यसे कर्म वा तत्यागं तावन्मे ब्रुहि सुनिश्चितं तव मतम  
ष्ठानाय ॥ इति मधुसूदनी टीका ॥ उक्तं ॥

## ॥ गीतायां १८ अष्टादशाध्याये ॥

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुं ।  
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक् केशिनिसूदन ॥

मधुसूदनीटीकाः ॥ अभिप्राय माह ।

इदानीं तु सन्न्यास त्रैविध्यकथनेन सन्न्यासिनामा  
त्रैविध्यं वक्तव्यं तत्र तत्त्वबोधनानन्तरं यः फलभूतः सर्व  
कर्मसन्न्यासः ॥ स चतुर्दशाध्याये गुणातीतत्वेन व्या  
ख्यातत्वात् सात्त्विकराजसतामस भेदमर्हति ॥ योऽपि  
तत्त्वबोधात् प्राक् तदर्थं सर्वकर्मसन्न्यासस्तत्त्व बुभुत्सु  
वेदान्तवाक्य विचाराय भवति सोऽपि त्रैगुण्यविषया वेद  
निस्रैगुण्योभवाज्जुनं त्यादिना निर्गुणत्वेन व्याख्यातः ।

यस्त्वनुत्पन्न तत्त्वबोधानामनुत्पन्न तत्त्वबुभुत्सूनां च  
कर्मसंन्यासः स संन्यासीच योगीचेत्यादिनां गौणो  
व्याख्यातस्तस्य त्रैविध्य सम्भवान्तद्विशेषं बुभुत्सुः अवि-  
दुषामनुपजातविविदिषानाञ्च कर्माधिकृतानामेवकिञ्चित्  
कर्म ग्रहेण किञ्चित् कर्मपरित्यागो यः स त्यागांशगुणं  
योगात् संन्यासशब्देनोच्यते ॥ एतादृशस्यान्तःकरण  
शुद्ध्यर्थमविद्वत् कर्माधिकारि कर्तृकस्य संन्यासस्य के-  
नचिद्रूपेण कर्मत्यागस्य तत्त्वं स्वरूपं पृथक् सात्त्विक रा-  
जस तामस भेदेन वेदितुमिच्छामि त्यागस्य च तत्त्वं वेदितु  
मिच्छामि किं संन्यासत्यागशब्दौ घटपटशब्दाविव भिन्न  
जातीयार्थौ किं वा ब्राह्मण परिव्राजकशब्दाविवैक जातीयार्थौ  
इति प्रश्नः ॥ श्रीभगवानु वाच ॥ काम्यानां कर्मणां न्यासं  
संन्यासं कवयो विदुः ॥ सर्वकर्मफल त्यागं प्राहुस्त्यागं  
विचक्षणाः ॥

॥ टीका ॥ तत्र प्रश्ने निराकरणायोत्तरमाह ॥ काम्या-  
नामिति । काम्यानां फलकामनया चोदितानामन्तःकरण  
शुद्धावनुपयुक्तानां कर्मणामिष्टि पशुसोमादीनां न्यासं त्यागं  
संन्यासं विदुर्जानन्ति कवयःसूक्ष्मदर्शिनः ॥ केचित् तमेतं  
वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा  
नाशकेनेति ॥ वाक्येन वेदानुवचनशब्दोपलक्षितस्य ब्रह्मचारि  
धर्मस्य यज्ञदानशब्दाभ्यामुपलक्षितस्य । गृहस्थधर्मस्य  
तपो ज्ञाशकशब्दाभ्यामुपलक्षितस्य ॥ वानप्रस्थधर्मस्य  
नित्यस्य नित्येन हितेन पापक्षयेन द्वारेणात्मज्ञानार्थत्वंबो-



ध्यते ॥ न च विनियोग वैयर्थ्य ॥ ज्ञानमुत्पाद्यते पुंसां क्षया  
 पापस्य कर्मणः ॥ इत्यनेनैव लब्धत्वादिति वाच्यं विनियोग  
 भावे हि सत्यपि नित्य कर्मानुष्ठाने ज्ञानं स्याद् वा न वास्त  
 सति तु विनियोगे ज्ञानमवश्यं भवेदेवेति नियमार्थत्वा  
 तस्मान्नित्य कर्मणामेव वेदेन विविदिषायां वा विनियोग  
 सत्त्वशुद्धि विविदिषोत्पत्ति पूर्वक वेदनार्थिना नित्याने  
 कर्माणि भगवदर्पणबुद्ध्याऽनुष्ठेयानि काम्यानि तु सर्वा  
 सफलानि परित्याज्यानीत्येक मतं । अपरमतं सर्वका  
 फलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः सर्वेषां काम्यानां नित्या  
 च प्रतिप्रदोक्त फलत्यागं सत्त्व शुद्ध्यर्थितया विविदिषा संयो  
 नानुष्ठानं विचक्षणा विचारकुशलास्त्यागं प्राहुः इति  
 ईश्वरार्पणबुद्ध्यानुष्ठीयमानः सत्त्वशुद्ध्ये भवति फलाभि  
 न्धिवर्जितः शुद्धसत्त्वस्य च ज्ञाननिष्ठा ॥ योग्यता प्राप्तिद्वारे  
 ज्ञानोत्पत्ति हेतुत्वे च निःश्रेयसहेतुत्वमपि प्रतिपद्यते  
 संन्यास लक्षणं इति गीतान्ते भगवता उक्तं अर्जुनाय ।

सर्वं धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ॥

अहं त्वां सर्वं पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ १ ॥

शंकरानन्दसरस्वती टीकाभिप्रायमाह । एवं आ  
 रुक्षो मोक्षार्थमीश्वरैकशरणत्वेन कर्तव्यः कर्मयोग  
 ति निर्धार्यत्वारूढस्य आविर्भूतात्मविज्ञानस्याप्रतिबद्ध  
 सिद्धये सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकं ज्ञाननिष्ठैव कर्तव्येति  
 धारयितुमाह ॥ सर्वधर्मानिति । नन्वस्य वचनस्य क  
 प्रकरणान्तः पातित्वात् कर्मपरत्वमेव न त्वकर्मपर



मितिचेन्न सर्वधर्मानिति । सर्वकर्मसंन्यासश्रवणात् न  
 ह्यारुरुक्षो मुमुक्षो गृहिणः सर्वकर्मसंन्यास उपयुज्यते  
 ( ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानु तिष्ठन्ति मे मतं ॥ सर्वज्ञान  
 विमूढां स्तान् विद्धि नष्टान चेतस इति ) सर्वकर्मवहि  
 ष्कृत इति ॥ तद्विहीनः पतत्येव ह्यालम्बरहिताऽन्धवदिति  
 स्मरणात् सर्वकर्मपरित्यागे दुर्ब्राह्मणत्वपातितत्वादि दोषा-  
 पत्तेः । ननु मामेकं शरणं ब्रजेतीश्वरभजनात्मकस्य  
 कर्मणो विहितस्यात्यक्तत्वादुक्तदोषानसम्भवन्तीति चेन्न  
 ( स्वकर्मणा तमभ्यर्च्येति ) स्मरणान्नामकीर्त्यादि लक्षणस्य  
 कर्मणः श्रुतिस्मृत्यविहितत्वात् स्वधर्मत्वानुपपत्ते विहित  
 त्यागाविहितकरणदोषौ च प्रसज्येयातां ( श्रेयान् स्वधर्मो  
 विगुण ) इति विगुणस्यापि स्वधर्मस्य श्रेष्ठत्व स्मरणात्  
 ( नियतं कुरुकर्मत्वं कर्मज्यायोह्य कर्मण ) इति कर्मण्ये  
 वाधिकारस्त इति न कर्मणामनारम्भादिति न हिसंन्यसना-  
 देव सिद्धिसमधिगच्छतीति । तस्माद सक्तः सततं कार्यं कर्म  
 समाचरेति ॥ मत् कर्म कृन्मत् परम इति ॥ यज्ञदानतपः  
 कर्म न त्याज्यं कार्यमेवतदिति ॥ उपनयनं वेदाध्ययनं  
 फलवन्ति च कर्माणीति दारं कृत्वाग्नीनाधायकर्माण्या-  
 रभन्त इतिपाणिग्रहणादि गृह्यं परिचरेदिति ॥ उदिते सूर्ये  
 प्रातर्जुहोति ॥ यावज्जीवाग्निमूहोत्रं जुहोतीत्यादि श्रुति  
 स्मृति कोटिभि ब्राह्मणांदैविकस्यैव कर्मणः स्वधर्मत्वेन  
 कर्त्तव्यत्वविधानात् ॥ ननु सर्वधर्मान् परित्यज्येत्यत्र  
 लक्षणया सर्वकर्मफलत्याग एवाच्यते न तु कर्मपरि-



त्याग स्ततः कर्मप्रकरणाङ्गत्वमेवास्य वचनस्येति  
 सम्बन्धानुपपत्तिभ्यां लक्षणेति न्यायेनाऽत्रार्थानुपपत्त्या  
 ब्रह्मलक्षणाऽप्रसक्ते मुख्यस्य गत्यन्तराभावे खलु लक्षणा  
 त्यन्तराभावाभावाल्लक्षणा नात्रप्रसज्यते । कथं गत्यन्त  
 मिति चेदुच्यते ॥ लोकेस्मिन् द्विविधानिष्ठा पुराप्रो  
 मयानघ । ज्ञान योगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगि  
 मिति ॥ योगिनामारुरुक्षूणां कर्मिणा कर्मयोगेन ति  
 सांख्यानामारूढानां संन्यासिनां ब्रह्मविदां ज्ञानयोगे  
 निष्ठेति निष्ठाद्वयमुपक्रम्य ( नियतं कुरु कर्मत्वमिति  
 कर्मयोगमारभ्य ॥ प्रतिजाने प्रियो सिमे इत्यन्तेन ग्रन्थे  
 रुरुक्षो नियमेन कर्तव्यतया कर्मयोगं साङ्गसफलं  
 निर्धार्यार्थ साङ्ख्यानां ब्रह्मविदां सर्वकर्मसंन्यासिना  
 रूढानां ॥ यस्वात्मरतिरेवस्यादित्यारभ्य सर्वकर्मसं  
 मनसेति ॥ योगारूढस्य तस्यैवेति ॥ योगी युञ्जीत सतत  
 मात्मानं रहसिस्थितः इति ॥ ध्यानयोगपरोनित्यमिति  
 ॥ ब्रह्मभूयाय कल्पतइति ॥ ततोमां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशन्ति  
 तदनन्तरमित्यन्तेन ग्रन्थेन सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकत्वं  
 नियमेन कर्तव्यतया ज्ञाननिष्ठांसफलां निर्धार्यन्ते तामेव निष्ठा  
 मुक्तलक्षणां साङ्गां सफलामुपसंहरति ( सर्वधर्मेति ) यत्  
 स्ततो नास्य वचनस्य कर्मप्रकरणान्तःपातित्वं कर्मपरत्वमिति  
 सिद्ध्यति ॥ नन्वा रूढस्यापि यतेः सर्वकर्मसंन्यासो न युक्त  
 किन्तु यत् किञ्चित्स्मार्त्तेन कर्मणा भवितव्यमेवेति न शक्यं  
 नीयं ॥ तृतीयाध्याये श्रीभाष्य रुद्धिरेवैषांशङ्कापरिहृता तत्र

दृष्ट्या ग्रन्थविस्तरभयान्नात्र मीमांस्यते ॥ जन्मान्तराऽनेकश-  
 तेषु श्रद्धाभक्तिभ्यां समनुष्ठितैरीश्वरप्रसादैकप्रयोजनैः श्रौत  
 स्मार्त्त कर्मभिर्निःशेष निर्धूताशेषपापौघतया विशुद्धान्तः  
 करणस्त्वं सम्यग्विज्ञातात्मरूपो भूत्वात्पन्नज्ञानस्याप्रति-  
 वद्धत्व सिद्धये ज्ञाननिष्ठां कर्तुंकामः सन्नादौ प्रयोजनरहि-  
 तान् सद्विषयान्निष्ठाप्रतिबन्धकत्वेन दुष्टांश्च सर्वधर्मान्  
 सर्वेच ते धर्माश्च तान् श्रौतानि स्मार्त्तानि च सर्वाण्यपि  
 च कर्माणि स-साधनानि परित्यज्य ॥ ननु कर्मणां शास्त्रो-  
 क्तानामसद्विषयत्वमप्रयोजनवत्त्वं चानुपपन्नं ब्राह्मणा वि-  
 विदिषन्ति यज्ञेन दानेनेति यज्ञदानादीनां फलवत्ता श्रव-  
 णात् ॥ स्वकर्मणा तमभ्यर्च्येति ॥ कर्मणामीश्वरा-  
 राधनात्मकत्वाद-स्त्येवसद्विषयत्वंफलत्वं चेति चेत् सत्य-  
 मस्त्येव कर्मणामीश्वराराधनात्मकत्वं चित्तशुद्ध्येकप्रयोज-  
 नत्वं च तथा पि तदज्ञविषयं कर्तृत्वादिकारकभेदबुद्धि-  
 निवन्धनत्वान्नात्मैकत्व दर्शिनो विदुषः कर्मोपयुज्यते  
 ज्ञानकर्मणोः परस्परविरोधिनोः सहभावाऽयोगाच्चित्तशुद्धि-  
 तत्फलं ज्ञानं च प्राप्तवत् स्तैः प्रयोजनमपश्यतो ब्रह्मविद-  
 स्तत् परित्यागे युक्त एव भवति ॥ सत्याऽनृते सुखदुःखे-  
 वेदानिमं लोकममुश्च परित्यज्यात्मानमन्विच्छेदिति ॥  
 स्वाध्यायश्च सर्वकर्मणि संन्यस्येति विदुषः सर्वकर्म-  
 परित्याग श्रवणात् ॥ ननु कर्मणेश्वरः प्रीयते तत् प्रीत्यै-  
 कर्म कर्तव्यमेवेति चेन्न । ब्रह्मनिष्ठया परमेश्वरस्य ततोऽधि-  
 कतर प्रीत्युत्पत्तेः जीवेशावाभासेन करोतीति श्रवणान्ममा



भासिकं मायिकमसत्य स्वरूपं परित्यज्य मायातत्कार्यं सं-  
 न्धरहितं नित्यंनिरन्तरं निराभासं निष्कलं निष्क्रियं शान्तम-  
 नन्तमनाद्यन्तं सच्चिदानन्दैकरसं प्रमाणान्तरावाध्यं परिपूर्ण-  
 मद्वैतं परंब्रह्ममामेकं एवायमुपास्त इति ॥ यथार्थदर्शिनो  
 सत्यवादिनि सत्यनिष्ठे ब्रह्मविदि परमेश्वरस्याधिकतर प्रीति-  
 संभवान्मम वैभवमयं निर्व्वहतीति यथाराज्ञःशूरतमे तद्वत् प्रि-  
 योहिज्ञानिनोऽत्यर्थमहंसचममाप्रिय इत्युक्तत्वात्ब्रह्मविदिपर-  
 माप्रीतिः परमेश्वरस्य युक्ता पितुःपुत्रादौगुणाधिक्ये प्रीत्याधि-  
 क्यं दृश्यते तद्वत्ततःसिद्धं परमेश्वरस्यनिर्गुणं नित्यममाया-  
 स्वरूपं प्राप्तुमिच्छया श्रवणमनननिदिध्यासनादावेव श्रद्धया  
 नियमेनप्रवृत्तेषु सत्यनिष्ठेषु सत्सुमुमुक्षुषु परमाप्रीतिरिति ।  
 ननुसर्व्वधर्मान् परित्यज्येति धर्मस्यैव परित्यागोविधीयते  
 नत्वऽधर्मस्यात स्तत्रप्रवृत्तिः प्रसज्जतएवेति चेन्न न कलञ्ज-  
 भक्षयेदिति पूर्व्वमेव परित्यक्तस्य कलञ्ज भक्षणादेर धर्मस्य  
 तत्कालेप्रसक्तप सम्भवाद्वद्वाच्यं एवपरित्यक्तस्य पर्य्युषिता-  
 भोजनस्य गार्हस्थे यथा प्रवृत्तिर्नप्रसज्जते तद्वत्तथापित्यजधर्म-  
 मधर्मञ्चेति ॥ न तेषां धर्माधर्माविति वचनात् सर्व्वधर्म-  
 पदेनाधर्मोऽपि गृह्यते ततोधर्ममधर्मञ्च परित्यज्य यद्यपि  
 अर्जुनस्य संन्यासोऽनुपयुक्तस्तथापि मुमुक्षुब्राह्मणं विषयी-  
 कृत्योच्यते । सर्व्वधर्मान् परित्यज्येतिज्ञान कर्मणो स्तम-  
 स्तेजसोरिव परस्पर प्रतियोगित्वेनैकाश्रयत्वानुपपत्तिं निर्वा-  
 र्द्य भगवता ततः सर्व्वधर्मान् परित्यज्यविधिना संन्यस्य मा-  
 मेक मयमात्मा ब्रह्मतत्त्व मसीत्यादि श्रुतिभिर्ब्रह्मात्मनोरे

कत्व प्रतिपादनात् अस्थूलमनण्वह्रस्वमिति सर्व्वं हेतदब्रह्मे  
त्यादि श्रुतिभिरारोपितस्य जगतोऽपवादपूर्व्वकं सर्व्वस्य  
ब्रह्ममात्रत्व निरूपणात् एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म एक एव हि भू-  
तात्मा एकएव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थूरित्यादि श्रुतिभिर्ब्र-  
ह्मण एकत्वावधानादेकं सजातीय विजातीयस्वगत भेदर-  
हितं नित्यशुद्धबुद्ध मुक्तस्वभावमपूर्व्वमनपरमनन्तरम बाह्य  
मखण्डं चिदेकरसमद्वितीयं मां परंब्रह्म शरणं ब्रज । सर्व्वमिद-  
महं च ब्रह्मैवेति प्रत्यगृह्णानु सन्धेहि ॥ साधकस्यैवाभ्यास  
दशायां बुद्ध्याविशुद्धयायुक्तो धृत्यात्मानं नियम्यच शब्दादीन्  
विषयांस्त्यक्तेत्यादि देशकाल दृष्टिस्थापनादि नियमः ॥ इति ॥

॥ सूतसंहितायां पञ्चत्रिंशाऽध्याये ॥

कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहोदम्भस्तथैवच ॥

आलस्यमपि मात्सर्य्यं ज्ञानानुत्पत्ति कारणम् ॥ १ ॥

शान्तिदान्त्यादयः सर्व्वे गुणा एव मुनीश्वराः ॥

अङ्गानि ब्रह्मविद्यायाः श्रवणं कारणंबुधाः ॥ २ ॥

विद्या फलोपकारि स्यान्मननं चिन्तनं तथा ॥

ज्ञानमज्ञान विच्छिन्नौ न सहाय मपेक्षते ॥ ३ ॥

कर्मणा शुद्धचित्तस्य संसृतेर्दोष दर्शनम् ॥

पुन विरक्तिः संसारान्मोक्षेच्छा जायते तथा इति ॥ ४ ॥

( देवीभागवते प्रथमस्कन्धे अष्टादशाऽध्याये )

शुकं प्रति जनक उवाच ।

शृणु विप्रेण कर्त्तव्यं मोक्षमार्गाश्रितेन यत् ॥

उपनीतो वसेदादौ वेदाभ्यासाय वै गुरौ ॥ ५ ॥



अधीत्य वेदवेदान्तान् दत्त्वा च गुरुदक्षिणाम् ॥  
 समावृत्तस्तु गार्हस्थे सदारो निवसेन्मुनिः ॥ ६ ॥  
 न्यायवृत्तिस्तु सन्तोषी निराशी गतकल्मषः ॥  
 अग्निहोत्रादि कर्माणि कुर्वाणः सत्यवाक्शुचि ॥ ७ ॥  
 पुत्रपौत्रं समासाद्य वानप्रस्थाश्रमे वसेत् ॥  
 तपसा षड्भिषून् जित्वा भार्या पुत्रे निवेश्य च ॥ ८ ॥  
 सर्वानग्नीन् यथान्याय मात्मन्यारोप्य धर्मवित् ॥  
 वसेत्तूर्याश्रमे श्रान्तःशुद्धे वैराग्यसम्भवे ॥  
 त्रिविक्तस्याधिकारोऽस्ति संन्यासे नान्यथा क्वचित् ॥ ९ ॥

### ॥ अथेदानीं मन्न्यासलक्षणमाह ॥

विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः न्यासः संन्यास इति

ये तु परमार्थ दर्शिनः साङ्गस्तेषां ज्ञाननिष्ठायामेव सर्वकर्मसंन्यासलक्षणायामधिकारो नान्यत्रेति न ते विवल्पाः ॥ इति ॥ यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् इति श्रुतेः ॥ वैराग्यं परमेतस्य मोक्षस्य परमोऽवधिरिति ॥ स्मृतिः अथ ज्ञानसाधनं ज्ञानोत्पत्तिकारणं यज्ज्ञानं तदाह ॥ गीतायाममानित्व मदम्भित्व महिंसाक्षान्तिरार्जवम् ॥

आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्म विनिग्रहः ॥ १ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ॥

जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम् ॥ २ ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ॥

नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्ठोपपत्तिषु ॥ ३ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ॥

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ ४ ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ॥

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ५ ॥

अस्यार्थः ॥ एवं महाभूतान्यहंकार इत्यादिना क्षेत्रस्य स्वरूपनिरूप्याथ क्षेत्रज्ञे निरूपितव्ये सति तज्ज्ञानंतत् साधनाभावे न सिध्यति जिज्ञासो स्तन्नियतसाधन संपत्तिमतस्तज्ज्ञानं सुलभ मित्यादावेवात्मज्ञानोत्पत्ति साधनान्याह पञ्चभिः ॥ अमानित्व इति ॥ अमानित्वं स्वगुणद्रलाघा राहित्यं ॥ आचार्योपासनं ज्ञानोपदेष्टुराचार्यस्य श्रद्धाभक्तिभ्यां शुश्रूषादिक्रिययाराधनमुपासनं ॥ अन्यत्स्पष्टं ॥ १ ॥

स्थैर्यसिद्धेः साधनमाह ॥ इन्द्रियार्थेष्विति ॥ इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु भोग्यपदार्थेषु तेषु श्रुतेषु दृष्टेषु च सर्वत्र वैराग्यं निःशेषरागत्याग एव मनो निग्रहे तन्नैश्वल्ये च कारणं यते रिदमेव सम्यक् संपादनीयं तथैवानहं कारश्च जातिवर्णाश्रमाचार विद्याकुल शीलदिभिः श्रेष्ठत्वाभिमानोऽहंकारः । ज्ञात्यादिष्वहङ्कारहेतुषु सत्स्वपि बन्धकत्वं बुद्ध्यातद्रहितत्वमनहङ्कारः ॥ सर्वत्र वैराग्य संजननेतत् कार्यनिष्पत्तौ च परमकारणं ॥ एवं जन्ममृत्यु जराव्याधि दुःखदोषानु दर्शनमेव ॥ जन्मादिषु पुनः पुनर्दुःखदोषानु दर्शनेन विवेकिनः पुण्यशीलस्य सर्वत्र तीव्रं वैराग्यं मोक्षेच्छा च तत् सिद्धौ प्रवृत्तिश्च सिध्यत्य तएव तद्दर्शनं मुमुक्षोः सम्यक् कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ८ ॥ जन्मादिषु दुःखदोषदर्शनस्य फलमाह । असक्तिरिति ॥ असक्तिः सक्तिर्भोगेषु अन्तःकरणस्य सङ्गोरागस्तदभावोऽसक्तिः । अप्राप्त इव प्राप्तेवस्तुनि सर्वत्र



विषयमात्रेऽप्रीतिराहित्यमसक्तिशब्दार्थः ॥ अनभिष्वङ्गः  
नाभिष्वङ्गोऽनभिष्वङ्गः ॥ मुमुक्षूणां सुसंपाद्यः कुत्रेत्याकाङ्क्ष  
यामाह ॥ पुत्रदारगृहादिषु । आदिशब्देन धनक्षेत्रादि गृह  
तेषुचित्तस्य लग्नता न कर्त्तव्येत्यर्थः ॥

ननु अनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु इत्यनेन गृहस्था  
मेव श्रवणाद्यधिकारो न तु यतीनामितरेषाञ्च तेषामधिकार  
त्वे पुत्रादिषु भिष्वङ्गो न कर्त्तव्येतिव्यतिरेकेन निषेधायोगात्  
सत्स्वेवपुत्रादिष्वभिष्वङ्गः प्रसज्यते प्रसक्तस्यैव निषेधोयुक्तो  
त्व प्रसक्तस्य न हि नानलं पिवेदिति निषेध उपयुज्यते ॥ त  
प्रसक्तप्रतिषेधवलात् गृहस्थानामेव श्रवणाधिकारो न आ  
मान्तरनिष्ठानामिति चेद्भवानत्रप्रष्टव्यः ॥ गृहिणां वेदान्त  
श्रवणं मोक्षाय वा उत अक्षरलाभाय वा विलासार्थं  
इति ॥ नाद्यः साधनानुपपत्तौ साध्यासिद्धेः श्रवणस्यव्यङ्गत्वेन  
साध्यज्ञान सिद्ध्यऽसम्भवात् मोक्षाभावः ॥ संन्यस्य श्रवणं  
र्यादिति संन्यासस्य श्रवणाङ्गत्वं स्मर्यते ॥ अथातो ब्रह्माजि  
लेस्यत्राप्यथ शब्दस्य संन्यासादि साधनसिद्ध्यऽनन्तरमेव वि  
ज्ञासाकर्त्तव्ये त्यानन्तर्यार्थकत्वं कथ्यते ॥ ततः संन्यासाद्यन्तरा  
साधन शून्यानां गृहिणा मेव श्रवणानऽधिकारो न तु मोक्षेच्छ  
या संन्यस्तसर्व्व कर्म तत् साधनानां यतीनां ब्रह्मात्मैकत  
विज्ञानं वेदान्तश्रवणादिना जायते परमहंसस्य यतेर्मुख्याभि  
कारिणः । नाश्रमान्तरनिष्ठस्येत्यङ्गशून्यानां कृतेपि श्रवणे  
ज्ञानानुत्पत्ति स्मरणान्ततोयतीनामेव परमहंसानां श्रवणा  
धिकारो ज्ञान तत्फल प्राप्त्यधिकारश्च ॥ वेदान्तविज्ञान सु-

निश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलो-  
केषु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्व्वे इति श्रुतेः ॥  
न द्वितीयः ॥ निरन्तरविक्षेपवतां संसारिणां यथा वदक्षर  
लाभासिद्धेः ॥ नापि तृतीयश्च ॥ काव्यनाटकादिवदत्र  
चमत्काराभावात् ॥ यत एवं ततो यतीनामेव श्रवणाद्वि-  
योग्यत्वमितिसिद्धम् ॥ ननु मोक्षेच्छया संन्यस्त सर्व्वकर्म-  
णां यतीनामेव श्रवणाधिकारित्वे पुत्रदारादिष्व भिषुङ्गो न  
कर्त्तव्य इति निषेधवचनस्यानर्थक्य मिति चेन्न ॥ तेषाम-  
पि पूर्व्ववासनया त्यक्तेष्वपि पुत्रदारादिष्व भिष्वङ्ग प्रसंगा-  
त्तन्निषेधपरत्वोपपत्तेः । मनसोवशे सर्व्वमिदं वभूव भीष्मो  
हि देवः सहसःसह्यानि ॥ बन्धायविषयासक्तमिति ॥  
प्रमाथिवलवद्दृढमिति ॥ ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूप-  
जायतइति ॥ विद्वयेनमिहवैरिणमिति । ज्ञानिनोनित्यवैरि-  
णेति च कामसङ्कल्पादि विकारवतोऽनादिदुर्वासनावा-  
सितान्तःकरणस्य दुर्धर्षत्वं दुर्निग्रहत्वं बन्धकत्वं विषय स्मृति  
मात्रेणानर्थकारित्वं ज्ञानिषु बद्धवैरित्वञ्च श्रूयतेस्मर्य्यते च ॥  
ततः संन्यासिनामपि त्यक्तेषुतेषुतेषु दुर्वासनया कचिदभि-  
ष्वङ्ग स्तद्वार्त्ता श्रवणादिभिः प्रसज्यते यथा विद्यमानेषु तु-  
च्छेषुपि कौपीनकन्थादिष्विदं समीचीनमिदमसमीचीन  
मितिसक्ति स्तथा ततस्तद्द्वयंप्रमादेनापि न कर्त्तव्यमिति  
व्यतिरेकमुखेनोपदिश्यते ॥ इति भावः ॥ ९ ॥ किञ्च ॥  
मयीति ॥ अनन्ययोगेन न विद्यते परमेश्वरात् अन्यः ॥  
इत्यनन्यः ॥ योगो भक्तियोगः ॥ मयि मां निर्विशेषं परंब्रह्म



विषयीकृत्य ब्रह्मैवाहमहमेवब्रह्मेति ॥ एकञ्च विविक्तं विविक्तं  
 सेवित्वं विविक्तान् जनसंमर्दरहितान् नदीपुलिनानि तदेत  
 कुहरारामारण्याद्येकान्तप्रदेशान् निदिध्याससिद्ध्यर्थं ज्ञान  
 तुं शीलमस्यास्तीति विविक्तदेशसेवी शून्यागारे देवता  
 तृणकुटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाऽग्निहोत्र नदी पुलि हिंस  
 गिरिकुहरकोटरकन्दरनिर्झर स्थण्डिलेष्व निकेतवासी मज्ञ  
 श्रुतेः ॥ तस्यभावो विविक्तदेशसेवित्वं जनसंसदि ज नित  
 नां वहिर्मुखानां संसदि संघाते वसितुमरतिरुचिश्च ॥ ११ ॥ णीय  
 किञ्चअध्यात्मेति ॥ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् आस  
 त्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविध आत्मा वा अरे द्रष्टव्य इत् योग  
 दिना आत्मानमधिकृत्य प्रवृत्तमध्यात्मं ज्ञायते आत्मत  
 मनेनेति ज्ञानमध्यात्मं च तज्ज्ञानञ्चा ध्यात्मज्ञानं वेदान्तज्ञान  
 तत्रनित्यत्वं निस्तत्त्वं तदेकप्रावण्य मेवज्ञानोत्पत्ते मुख्यंसाध  
 तत एवज्ञान मित्युक्तं ॥ तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं तत्त्वज्ञानस्या  
 फलरूपो मोक्षस्तस्य दर्शनं तत्सिद्धि प्रक्रियालोचनञ्च मोक्ष  
 खलु ब्रह्मात्मनाऽवस्थानं स श्रवणेन श्रावणेन वा मननेन क  
 निदिध्यासया वा समाधिना वा सर्वकामप्रमोकेन वा अ  
 न्यथा वा सिध्यतीति युक्त्यास्वानुभूत्या च ज्ञानपौष्कल्येन  
 सिद्धिसाधन संपत्तिमालोच्य स्वाधिकारानुरूपं तत् साधने  
 क्रमेण समनुतिष्ठेदिति बोधयति तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनमि विवेक  
 भगवान् ततोमोक्षैक कामस्य यतेरमानित्वादि ज्ञानसाधनं पा  
 प्रयत्नेन संपादनीयं यत् सिद्धयाज्ञानं सिद्ध्यति ज्ञानसिद्धि  
 मोक्षो यतः निरुक्तमन्तरङ्गसाधनं ज्ञानस्योपसंहरति । एत

दिति ॥ अमानित्वमारभ्यतत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तं यदुक्तं  
तदेतद्विशति संख्याकं ज्ञानसाधनं ज्ञानोत्पत्तिकारणत्वात्  
ज्ञानमिति महर्षिभिः प्रोक्तं । अत एतस्माद मानित्वादि लक्ष-  
णात् ज्ञानसाधनादन्यथा यदन्यद्विपरीतं मानित्व दम्भित्व  
हिंसाऽक्षान्त्यनार्जवादिकं रजस्तमोगुणजातं सर्वमज्ञान  
मज्ञान वृद्धिसाधनं संसारकारणं ज्ञानप्रतिबन्धकञ्च ततो मा-  
नित्वादिकं सम्यक् ज्ञातव्यं ज्ञात्वामुमुक्षुभिः सम्यक्परिहर-  
णीयमित्यर्थः ॥ ११ ॥ इतिभावः ॥ गीतायां षष्ठाध्याये ॥  
आरुरुक्षो मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते ॥

योगारूढस्य तस्यैव शमः कारण मुच्यते ॥ ३ ॥

अस्यार्थः ॥ शङ्करानन्दीसरस्वती टीकाः ॥ एवंमुमु-  
क्षूणां कर्मणोऽवश्यकर्तव्यत्वसिद्धये कर्मयोगं कर्मयो-  
गिनञ्च संन्यास संन्यासिभ्यां समत्वेन स्तुत्वाऽधुना कर्मयो-  
गस्य ज्ञानसाधनत्वं वदन् तत् कर्तव्यतया अवधिञ्च सूचय-  
त्तारूढस्य विदेहमुक्तेः कारणमाह । आरुरुक्षोरिति ॥ योगंसम्यक्  
दर्शननिष्ठमारुरुक्षो मुक्त्यैर्ज्ञानयोगं प्राप्तुमिच्छां कुर्वतोमुने  
र्भविष्यन्मुनेर्गृहस्थः ॥ स्त्रियमुदहेत् इति न्यायेनास्य भ-  
वेत्तस्य संन्यासित्वमादाय मुनित्वव्यपदेशः । गौणवृत्त्या वा  
मुनेर्गृहिणो ज्ञानयोग प्राप्तेः करणं कर्मैव चित्तशुद्धेः कर्मणा  
विधेनाऽन्येन सम्भावयितुम शक्यत्वात् कर्मैवपुरुषं चित्तशुद्धिं  
तपाय ज्ञानयोगमारोहत्य तः कर्मैव ज्ञानयोगप्राप्तेः कारण  
मेत्युच्यते ॥ ( मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन् तानि  
गीतायां बहुधा सन्ततानि तान्याचरथ नियतं सत्यकामा



इत्यादि श्रुतिभिः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः ॥ यस्यचित्तशुद्धौ का  
 योगो विहित स्तस्यैव नित्यनैमित्तिककर्मणुष्ठान संभावि  
 चित्तशुद्धौ सत्यामुदित विवेकवैराग्य शमदमादिसाधनसं  
 त्याप्राप्तश्रवणादिजन्यज्ञानेन योगारूढस्य योगंज्ञानयो  
 मारूढस्य संप्राप्तवतो यतेर्विदेह कैवल्यार्थिनः शमोवाहो ।  
 रमणमेव विदेहमुक्ते रन्तरङ्गसाधनमित्युच्यते ॥ तमेव  
 जानथ आत्मानमन्यावाचो विमुञ्चथ ) ( ओमित्येवंध्याय  
 आत्मानं ) ( तमेवधीरो विज्ञाय शान्तो दान्तउपरत सि  
 तिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येदिति ) ( आ  
 रतिरात्मक्रीड इत्यादि श्रुतिभिः ) ( नैतादृशं ब्राह्मणस्यापि  
 वित्तं ॥ यथैकता समता सत्यता च शीलंस्थितिर्दण्ड निष  
 मार्जवं तत स्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः नैवधर्मी न चा धर्म  
 न चैव हि शुभाशुभी यः स्यादेकासनेलीनस्तूष्णीं किं  
 चिन्तयन्नित्यादि स्मृतिभिश्च विज्ञातात्म तत्त्वस्य यतेः समा  
 प्रवृत्तस्य शम उपशमः सर्वोपरमणं कारणमित्युच्यते  
 ब्रह्मण्यारोपित नामरूपाय ग्रहणमेव शमशब्दार्थः ॥ स  
 संन्यासलक्षणः स एवविदेहमुक्तेः परमकारणमिति श्रु  
 स्मृतिभिरुच्यतइत्यर्थः ॥ यस्मादेवं तस्मान्मुमुक्षोरवश्यं नि  
 शुद्ध्यै श्रद्धयेश्वरार्पणबुद्ध्या च वैदिकमेव कर्मकर्तव्यं ॥  
 स्यैव कर्मणुष्ठानसम्भावित चित्तशुद्ध्या तदेकपरत  
 सम्यक् कृतश्रवणादि संप्राप्तज्ञानस्य समाधिनिष्ठायां तिष्ठत  
 सर्वकर्म संन्यास एव कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ आरुरुक्षो  
 कर्मकारणं तस्यैव योगारूढस्य शमःकारण मित्युक्त्या गन्तु

र्गमनं समुद्रपर्यन्तमेव ततः परन्तु गतेः परिसमाप्तिर्यथा तथा  
मुमुक्षोर्ज्ञान सिद्धिपर्यन्तमेव कर्मकर्तव्यं ज्ञानसिद्धौ सर्व  
कर्मसंन्यास एव कर्तव्य इति सूचितं भवति । तेन यावज्जी  
वमग्निहोत्रं जुहोति ) ( कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषे  
च्छतः समा इत्यादि श्रुतिवाक्यानां यावज्जीवमग्निहोत्रादि  
कर्मणः कर्तव्यत्वप्रतिपादकानामविद्वान् एव गतिं न तु वि-  
द्वान् ॥ अन्यथा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् ॥ सशि  
खं वपनं कृत्वा वह्निःसूत्रं त्यजेद्बुधः ॥ ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च  
वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाश्च भिक्षाचर्यं च-  
रन्ति ) ॥ यदा तु विदितं तत्त्वं परंब्रह्म सनातनम् । तदैक  
दण्डसंगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत् । इत्यादि श्रुतिस्मृति  
विरोधप्रसंगात् ॥ ननु जड जात्यन्ध मूकादीनामेव वैदिक  
कर्मा नधिकारिणां संन्यासो न तु विदुषः विद्वान्यजत इति  
विदुषो यागादि कर्मविधानादिति चेन्न निरुक्तश्रुतिस्मृतिवि  
रोधप्रसंगात् । वह्निःसूत्रं त्यजेद्बुध इति । किं प्रजया करि-  
ष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति ॥ यदा तु विदितं तत्त्वं  
भूमित्यादि श्रुतिस्मृति वाक्यार्थे सम्यग्विचार्यमाणे संन्यास  
विषय ब्रह्मविदेव योग्यो विषयो न तु जडादि स्तेषां वेद शास्त्रा-  
मुगीति शून्यानां । परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो-  
न्निर्व्वेदमायादित्येतच्छ्रुत्यर्थपदवाक्यप्रमाणबलेन लोकानां  
कर्मचितत्वाऽनित्यत्वाऽल्पफलत्वाऽसत्त्वपरीक्षा योग्यताऽस-  
म्भवात् वेदाध्ययन तदर्थविचारे तत्त्वनिश्चये कर्मणि लौकिके  
च सर्वत्र योग्यस्यैवाधिकार दर्शनाद् वेदाध्ययन तदर्थवि-



चारोऽनर्हाणां ब्रह्मतत्त्वावगमनं बुधत्वं च स्वप्नेऽपि न सं  
भावयितुं शक्यते ॥ ततो वेदान्त श्रवणादिनाऽधिगत ब्रह्म  
त्वानामेव बुधत्वं संन्यासश्च निरुक्तश्रुतिस्मृतिभिरव  
म्यते तत एव भगवताप्युच्यते आरुरुक्षोर्मुनेर्योग मित्या  
ऽतः सम्यग् विदितात्मतत्त्वस्यैव संन्यासो न तु जडादेर्ना  
परोक्षज्ञानिनः । महत्पदं ज्ञात्वा वृक्षमूलेवसेत् ॥ ज्ञात्वा नैष  
मर्थ्य माचरेत् तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमात् ।

अहमेवाक्षरं ब्रह्मवासुदेवाख्य मव्ययम् ॥

इतिभावो ध्रुवो यस्य तदा भवति भैक्ष्यभुक् ॥

यदा तु विदितं तत्त्वमित्यादि श्रुतिस्मृति शतेभ्यो ब्रह्म  
एव संन्यासः कर्तव्य इति सिद्धं ॥ इति भावः ॥ यदा हि नेत्रि  
र्येषु न कर्मस्वनुपज्जते ॥

सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढ स्तदोच्यते ॥

अस्यार्थः ॥ सर्वसङ्कल्पसंन्यासी सङ्कल्पाः द्रव्य  
कर्मादिगोचराः समीचीनत्वबुद्ध्यः सर्वविषयाः सङ्कल्प  
सर्वसङ्कल्पास्तान् संन्यसितुं शीलमस्यास्तीति सर्वसङ्क  
संन्यासी सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वेन निराश्रयान्न सर्व  
सङ्कल्पान् संन्यस्य सर्वब्रह्मैव इति सर्वत्र ब्रह्मदर्शन शक्ति  
ब्रह्मविद्यति यदा यस्मिन्काले इन्द्रियार्थेषु कचिद् भि  
टनादौ दृष्टेषु शब्दादिषु कर्मसु च कचिद् वासनया कर्तव्य  
त्वेन प्रतीतेषु स्नान शौचादिकर्मस्वपि नानुपज्जते ॥ भो  
क्तृ भोजन भोज्येषु कर्तृकारण कार्येषु च मिथ्यात्व बुद्ध्य  
स्वयमनुपज्जं आसक्तिं न करोति ॥ अनुपज्जोनाम अहंभुज्जो

अहं करोमीति भोक्तृकर्तृतादात्म्यापत्ति स्तां न करोति ॥ किंत्व  
सङ्गोदासीनत्वेन सर्वत्र साक्षीभूतस्तिष्ठतीत्यर्थः । यद्वा प्राक्तन  
संस्कारानुरूपाप्रवृत्तिरनुषक्ति स्तां न करोति । प्रवृत्तेः काम  
मूलत्वात् कामस्य सङ्कल्पमूलत्वात् संकल्पानां सर्वेषामप्या  
श्रयमिथ्यात्वविज्ञानेन संन्यस्तत्वाद्विदुषः शब्दादिषु कर्मसु  
चाप्यनुषङ्गभावोयुक्तः कारणाभावे कार्यभावा इतिन्यायात् ॥  
यद्वा विपरीतप्रत्यय निरसनपूर्वकं सर्वत्र ब्रह्मदर्शननिष्ठायां  
प्रवृत्तो ब्रह्मविद्यतिः स्वयं सर्वसंकल्पसंन्यासी अधिष्ठाना  
ऽज्ञानदोषेण शुक्तौरजतप्रत्ययवन्निर्विशेषेपरे ब्रह्मण्यद्वितीये  
घटःपटः कुड्यमिति भ्रान्तासम्यक् कल्प्यन्त इति सङ्कल्पा  
विपरीतप्रत्यया स्तान् सर्वान् सङ्कल्पान् संन्यसितुं चिद्वृ-  
त्त्या ब्रह्मणि प्रविलापयितुं शीलमस्यास्तीति सर्वसङ्कल्प  
संन्यासी ॥ विजातीयप्रत्यय प्रविलापनपरतया सजातीय  
प्रत्ययावृत्तिं कुर्वन्नित्यर्थः ॥ यदा यस्मिन् काले सर्वत्र ब्रह्ममात्र  
ग्रहणशीलाया बुद्धिवृत्तेःस्थिरीभावदशायां इन्द्रियार्थेषु क-  
चिदाभासतः प्रतीयमानेषु कर्मसु च चक्षुरादीन्द्रियै स्तत्त  
द्विषयग्रहणकर्मस्वपि नानुपज्जते अनुषक्तिं न करोति ॥  
अनुषक्तिर्नामाऽकस्माद्दृष्टार्थानुरूपेण पुनर्वृत्तेः परिणति स्तां  
चक्षुरादिभि रिन्द्रियैर्ग्रहणक्रिया च न करोति । किन्तु दृष्टान्  
विषयान् तद्वृत्तिद्रष्टारश्च प्रत्यावृत्त्याब्रह्मणिप्रविलापयतीत्यर्थः ।  
एवं द्रष्टृदर्शनदृश्यादिभेदभिन्नं विश्वं सर्वं यदा ब्रह्ममात्रं  
पश्यति तदा योगारूढः सर्वस्य स्वस्य च ब्रह्ममात्राकारप्र-  
त्ययो ऽप्रतिवद्धो योग स्तत्रारूढःप्रतितिष्ठत इति कृत्वा योगा



रूढ इत्युच्यते स्थितप्रज्ञो ऽयं जीवन्मुक्त इति पण्डितै रन्योन  
प्रतिभाष्यते इत्यर्थः ॥ विजानन् विद्वान् भवेत् नातिवादी  
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानित्यादि श्रुतिप्रसिद्धियो  
नार्थो हि शब्दः ॥ ४ ॥ इति ॥

॥ श्रीमद्भागवते ॥

जन्मान्तरसहस्रेषु यज्ञदानतपो ऽध्वरैः ॥

नराणांक्षीणपापानां कृष्णभक्तिःप्रजायते ॥१॥

स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात् ॥

साधनं प्रभवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम् ॥ २ ॥

नित्यनैमित्तिकैरेव नियमेनेश्वरार्पितैः ॥

बहुजन्मकृतैर्विप्रः सत्त्वशुद्धिं समश्नुते ॥ ३ ॥

स्वकर्मणातमभ्यर्च्य सिद्धिंविन्दति मानवः ॥

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ॥ ४ ॥

इति श्लोकतात्पर्यमाह ॥ प्राक्तनानामीश्वरार्पिता  
पुण्यकर्मणां चित्तशुद्ध्यैकप्रयोजनवत्त्वस्मरणात् ॥ ननु त  
संन्यासाद्रहणः स्थानमित्यादि स्मृतिप्रसिद्धसंन्यासक्रि  
मात्रलभ्या ब्रह्मलोक गतिर्विद्यत एवइतिचेन्न तत्संन्यासस  
न्यथा सिद्धत्वात् (एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्र  
न्ति ) संन्यस्य श्रवणं कुर्यादित्यादिश्रुति स्मृतिविहि  
संन्यासस्य श्रुत्यङ्गत्वेन श्रवणाद्यर्थसिद्धावेवोपक्षीणस्व  
क्तिकत्वाद्ब्रह्मलोकप्रापकत्वानुपपत्ते र्यथा ज्योतिष्टोमे  
स्वर्गकामो यजेत इति । तथा श्रवणाद्यर्थ सिद्धावेवोपकृ  
स्य विविदिषा संन्यासस्य श्रवणाद्यर्थप्रापण एव सामर्थ्य

न तु फलान्तरं इति । ततः श्रवणाद्यङ्गत्वेन कृतस्य विविदिषा संन्यासस्य श्रवणादावेवोपक्षीणत्वाद् यतेस्तदतिरिक्तपुण्य कर्मानुपलम्भाच्च युक्त एव अर्जुनस्यप्रश्न इति सिद्धम् ॥ ननु तर्हि संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थानमित्यादि स्मृति वाक्यानामा नर्थक्यस्यादिति चेदुच्यते ॥ संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थानमिति संन्यासस्य ब्रह्मस्थानं फलं स्मर्यते । तद्विद्वत् संन्यासस्य वा विविदिषा संन्यासस्य वा उत आपत् संन्यासस्य वा । नाद्यः न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीति विदुषः प्राणोत्क्रमणाभाव श्रवणात् तत् कर्तृकसंन्यासफलत्वानुपपत्तेः ॥ न द्वितीयः ॥ विविदिषा संन्यासस्य श्रवणाद्यर्थ सिद्धेयकफलत्वात् ॥ पुनः फलान्तरकल्पनाऽयोगात् । तृतीयोऽपि पारिशेष्यादापत्कालः संन्यासस्यैव ब्रह्मलोकः फलमित्यवसीयते ॥ तथैव स्मर्यते । ( आपद्य पि च कुर्वीत संन्यासं ब्राह्मणोत्तमः यदनुष्ठानमात्रेण प्रयाति ब्रह्मणः पदम् ) इतिश्लोकः ॥ अतः संन्यासाद्ब्रह्मणः स्थानमित्यादि स्मृतिवाक्यानामापत् संन्यासविषयत्वेन सार्थकत्वान्न कदाचिदप्यनुपपत्तिः ॥ नन्वापदि संन्यस्यापि पुनर्जीवित्वाऽविवेकी श्रवणादिना ज्ञानं संपाद्यमुक्तो भवति कथं आपत्संन्यासस्य ब्रह्मलोक एकफलत्वमिति चेदुच्यते ॥ जन्मान्तरे मोक्षेच्छया संन्यस्य श्रवणं कृतवतस्तस्य प्रातिबन्धवशात् ज्ञानानुत्पत्तौ पुनरत्रापि जन्मन्यापद्युपदेशेन पूर्वसंस्कारवशात् संन्यस्य श्रुत्यामत्या च ज्ञानं प्राप्यमुक्तो भवतीममेवार्थं ॥ श्रीभगवानपि वक्ष्यति (शुचीनां श्रीमतांगेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ इत्यादिना ।



ततो न कश्चिदत्र विरोधः ॥ ननु अप्राप्तयोगसंसिद्धेरपि योगिनो यतेः संन्यासस्य श्रवणाद्युपक्षीणत्वेऽपि) भिक्षाटनं जपशौचं स्नानं ध्यानं सुरार्चनं । कर्त्तव्यानि षडेतानि यतीनां नृपदण्डवत् ॥ स्वशाखोपनिषद्गीता मित्यादि स्मृत्युक्तं मन्त्रजपस्तोत्रसुरार्चनादि पुण्यकर्मणः स्वर्गादिहेतोः संभवास्त्येव तत् प्राप्यपुण्यलोकइति चेन्न । स्तोत्रमन्त्रजपादेभ्यो प्रत्ययघटितत्वेन विपरीतभावहेतुत्वात् ब्रह्मविद्विषयत्वनुपपत्तेः ॥ नैतादृशं ब्राह्मणस्याऽस्ति वित्तं उपरमः क्रियाभ्यामनैवधर्मी न चाधर्मीतृष्णीं किञ्चिदचिन्तयेदिति । योगिनो यतेः सर्वकर्मोपरमस्मरणात् । ध्यानयोगपरो नित्यं तत्र निदिध्यासस्य क्रियान्तरानवकाशार्थं नित्यप्रदमि श्रीभाष्यकृद्भिर्व्याख्यातत्वाच्च ॥ निरन्तरयोगनिष्ठास्य यतेर्मन्त्रजपादि पुण्यकर्मानुष्ठानाऽनुपपत्तौ तत्फलभूतपुण्यलोकगतिर्न सम्भवति एव इति भावः । (शान्तिपर्वणि राजधर्मे) ॥ सन्तोषात् स्वर्गमाप्नोति सन्तोषात् परमं सुखं ॥ तुष्टेर्न किञ्चित् परमं सा सम्यक् प्रतितिष्ठति ॥ क्रोहर्षाविनीतस्य सततं सिद्धिरुत्तमा ॥ याभिः प्रत्याहरेत्मानं क्रूर्मोऽज्ञानीव सर्वशः ॥ यदा चायं न विभेति याचास्मान्न विभ्यति ॥ यदानेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्मसंपद्यते तदा यदा न भावं कुरुते सर्वभूतेषु पापकं ॥ कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्मसंपद्यते तदा ॥ विनीतमानमोहश्च बहुसङ्गविर्जितः । तदात्मज्योतिषः साधो निर्वर्णमुपपद्यते ॥ स्वधर्मादिपेतेभ्यः प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः । शतं वर्षाणि ते

प्रेत्य पुरीषं भुञ्जते जनाः ॥ अनर्हते यददाति न ददाति यद  
हते । अहर्निर्हा परिज्ञानात् दानधर्मोऽपि दुष्करः ॥ लब्धा  
नामपि वित्तानां बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ । अपात्रे प्रतिपत्तिश्च  
पात्रेचाप्रतिपादनमिति ॥ ननु पात्रापात्रौ प्रतिपादनं पूर्वोक्तं  
तत् लक्षणं किमित्याह ॥ महाभारते उद्योगपर्वे धृतराष्ट्रं वै णि  
प्रति विदुरउवाच ॥

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते ॥

अनास्तिकः श्रद्धधान एतत् पण्डितलक्षणम् ॥ १ ॥

आत्मज्ञानसमारम्भ स्तितिक्षाधर्मनित्यता ॥

यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ २ ॥

क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीः स्तम्भोमान्यमानिता ॥

यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ ३ ॥

यस्य कृतं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः ॥

समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते ॥ ४ ॥

यस्य संसारिणीप्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्त्तते ॥

कामादर्थं वृणीते यः स वै पण्डित उच्यते ॥ ५ ॥

यथाशक्ति चिकीर्षन्ति यथाशक्ति च कुर्वते ॥

न किञ्चिदवमन्यन्ते नराः पण्डितबुद्धयः ॥ ६ ॥

न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमाने च तप्यते ॥

गाङ्गोद्द इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ॥ ७ ॥

तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम् ॥

उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पण्डित उच्यते ॥ ८ ॥

अथ सुखस्यलक्षणमाह ॥ अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च



महामनाः । अर्थाश्चाकर्मणा प्रेप्सु मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥  
 स्वमर्थयः परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति ॥ मिथ्याचरति मित्र  
 र्थे यश्च मूढः स उच्यते ॥ १० ॥ अमित्रं कुरुते मित्रं मि  
 द्रोष्टि हिनस्ति च ॥ कर्मचारभते दुष्टं तमाहु मूढचेतसः ॥  
 श्राद्धं पितृभ्यो न ददाति दैवतानि न चार्चति ॥ सुहृन्मि  
 न लभते तमाहु मूढलक्षणम् ॥ १२ ॥ आशिष्यं शास्ति  
 राजन् यश्च शून्यमुपासते ॥ कदर्यं भजते यश्च तमाहुर्मा  
 चेतसम् ॥ १३ ॥

एकमेवाद्वितीयं तत् यद्राजन् नावबुध्यसे ॥  
 सत्यंस्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ १४ ॥  
 एकोधर्मः परंश्रेयः क्षमैकाशान्ति रूतमा ॥  
 विद्यैका परमादृष्टि र्हिसैका सुखावहा ॥ १५ ॥  
 पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः ॥  
 पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभः ॥ १६ ॥  
 पञ्चैव पूजयेल्लोके यशः प्राप्नोति केवलं ॥  
 देवान् पितृन् मनुष्यांश्च भिक्षून्ऽतिथि पञ्चमान् ॥ १७ ॥  
 द्वाविमौ न विराजेते विपरीतेन कर्मणा ॥  
 गृहस्थश्च निरारम्भः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥ १८ ॥  
 द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरितिष्ठतः ॥  
 प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥ १९ ॥  
 न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ॥  
 अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रेचा प्रतिपादनम् ॥ २० ॥  
 द्वाविमावप्सु निक्षेप्यौ कण्ठेवद्धा महाशिलाम् ॥

धनवन्त मदातारं दरिद्रञ्चातपस्विनम् ॥ २१ ॥  
 द्वाविमौ पुरुषौलोके सूर्यमण्डल भेदिनौ ॥  
 परित्राड्योगयुक्तश्च रणेचाभिमुखोहतः ॥ २२ ॥  
 इदानीं ब्राह्मणस्य शमदमादि धर्मलक्षणं विशेषेणाह ॥  
 महाभारते उद्योगपर्वे विदुरउवाच धृतराष्ट्रप्रति ॥  
 शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे ॥  
 कुमारस्य तु या बुद्धिर्वेद तां शाश्वती महम् ॥ २३ ॥  
 ब्राह्मी हि योनिमापन्नः सुगुह्यमपि यो वदेत् ॥  
 न तेन गुह्योदेवानां तस्मादेतद्रवीमि ते ॥ २४ ॥  
 यो न शक्योमया वक्तुं तमस्मै वक्तुमर्हसि ॥  
 इह निःश्रेयसं प्राहुर्वद्धा निश्चितदर्शनम् ॥ २५ ॥  
 ब्राह्मणस्य विशेषेण दमोधर्मः सनातनः ॥  
 तस्यदान क्षमासिद्धिर्यथा वदुपपद्यते ॥ २६ ॥  
 दमोदानं तपोज्ञान मधीतञ्चानुवर्त्तते ॥  
 दमस्तेजो वर्द्धयति पवित्रं दम उत्तमम् ॥ २७ ॥  
 विपाप्मा वृद्ध तेजाश्च पुरुषो विन्दते महत् ॥  
 क्रव्याद्गृध्र इवभूताना मदान्तेभ्यः सदाभयम् ॥ २८ ॥  
 तेषाञ्च प्रतिषेधार्थं क्षत्रंसृष्टं स्वयम्भुवा ॥  
 आश्रमेषु चतुर्णाहुर्दम मेवोत्तमं व्रतम् ॥ २९ ॥  
 तस्य लिङ्गं प्रवक्ष्यामि येषां समुदयो दमः ॥  
 क्षमा धृति रहिंसा च समता सत्य मार्जवम् ॥ ३० ॥  
 इन्द्रियाभिजयो धैर्यं मार्दवं ह्री रचापलम् ॥  
 प्रकार्पण्य मसंरम्भः सन्तोषः श्रद्धधानता ॥ ३१ ॥



एतानि यस्य राजेन्द्र स दान्तः पुरुषः स्मृतः ॥  
 कामो लोभश्च दर्पश्च मन्युनिद्रा विकथनं ॥ ३२ ॥  
 मान ईर्ष्या च शोकश्च नैतान् दान्तो निषेवते ॥  
 अजिह्वमशठं शुद्ध मेतद्दान्तस्य लक्षणम् ॥ ३३ ॥  
 अलोलुप स्तथा लेप्सुः कामानामविचिन्तिता ॥  
 समुद्र कल्पः पुरुषः स दान्तः परिकीर्तितः ॥ ३४ ॥  
 सुवृत्तः शीलसंपन्नः प्रसन्नात्मात्मविदुधः ॥  
 प्राप्येहलोके सम्मानं सुगतिं प्रेत्य गच्छति ॥ ३५ ॥  
 अभयं यस्य भूतेभ्यः सर्वेषामभयं यतः ॥  
 स वै परिणतप्राज्ञः प्रख्यातो मनुजोत्तमः ॥ ३६ ॥  
 नैष्कर्म्यं वा समास्थाय ज्ञानतृप्तो जितेन्द्रियः ॥

कालाकांक्षी चरल्लोके ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ३७ ॥ इति ।  
 धृतराष्ट्र उवाच ॥ कस्यैष मौनः कतरन्नुमौनं प्रब्रुहि  
 ब्रह्मिह मौनभावं । मौनेन विद्वानुत याति मौनं कथं मुने  
 मिहाचरन्ति ॥ ३८ ॥ सनत्सुजात उवाच ॥ यतो न वेदा  
 नसासहै नमनु प्रविशन्ति ततोऽथमौनं । यत्रोत्थितो वेदश्च  
 स्तथायं स तन्मयत्वेन बिभातिराजन् ॥ ३९ ॥ धृतराष्ट्र उवाच  
 ऋचोयजुंषि योवेद सामवेदश्च वेदयः । पापानि कुर्वन् पा  
 नलिप्यते किं न लिप्यते ॥ ४० ॥ सनत्सुजात उवाच ॥ नै  
 सामान्यचोवापि न यजुंष्यविचक्षणं । त्रायन्ते कर्मणः पाप  
 नून ते मिथ्याब्रवीम्यहं ॥ ४१ ॥ न छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति  
 मायाविनं मायया वर्तमानं ॥ नीडंशकुन्ताइव जातपक्षाश्छ  
 न्दांस्येनं प्रजहत्य काले ॥ ४२ ॥ धृतराष्ट्र उवाच ॥ न चेद्वेद

विनाधर्मं त्रातुं शक्ताऽविचक्षणम् ॥ अथ कस्मात् प्रलापोऽयं  
ब्राह्मणानां सनातनः ॥ ४३ ॥ सनत् सुजात उवाच ॥  
तस्यैव नामादि विशेषरूपैरिदं जगद्भाति महानुभाव ॥  
निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदा स्तद्विश्ववैरूप्य मुदाहरन्ति ४४  
अस्मिल्लोके तपस्तप्तं फलमन्यत्र दृश्यते ॥

ब्राह्मणानामिमे लोका धत्वे तपसि तिष्ठताम् ॥ ४५ ॥ (स)?  
॥ धृतराष्ट्र उवाच ॥ कथं समृद्धमसमृद्धं तपो भवति केवलम् ॥  
सनत् सुजात प्रब्रूहि यथा विद्यामतद्वयं ॥ ४६ ॥

॥ सनत् सुजात उवाच ॥ निष्कल्मषं तपस्त्वेतत् केवलं परि-  
चक्षते । एतत् समृद्धमप्यृद्धं तपोभवति केवलं ॥ ४७ ॥  
तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि क्षात्रिय ॥

तपसा वेदविद्वांसः परं तत्त्वमवाप्नुयुः ॥ ४८ ॥

॥ धृतराष्ट्र उवाच ॥ कल्मषं तपसो ब्रूहि श्रुतं निष्कल्मषंतपः ॥  
सनत् सुजात येनेदं विद्यां गुह्यं सनातनम् ॥ ४९ ॥

॥ सनत् सुजात उवाच ॥ क्रोधादयो द्वादश यस्य दोषा-  
स्तथा नृशंसानि दशात्रि राजन् ॥ धर्मादयो द्वादश ते-  
पितृणां शास्त्रे गुणा ये विदिता द्विजानां ॥ ५० ॥ क्रोध-  
कामौ लोभमोहौ विधित् सा कृपासूये मानशोकौ स्पृहा च ।  
ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्य दोषा वज्ज्याः सदा द्वादशैते नरा-  
णाम् ॥ ५१ ॥ एकैकः पर्युपास्तेह मनुष्यान् मनुजर्षभ ॥  
लिप्समानोऽन्तरं तेषां मृगाणामिव लुब्धकः ॥ ५२ ॥

विक्रयः स्पृहया लुर्मनस्वी विधत् कोपश्च पलोऽरक्षणश्च-  
॥ एतान् पापापणनराः पापधर्मान् प्रकुर्वते नो व्रतन्तः



सुदुर्गे ॥ ५३ ॥ सम्भोग सम्बिद्धिषमोऽतिमानी दत्त्वानुतापी-  
कृपणे बलीयान् ॥ वग प्रशंसि वनितासु द्वेष्टा एते परे सप्त-  
नृशंसरागाः ॥ ५४ ॥

तूष्णींभूत उपासीत न चेष्टेन्मनसा पितृ ॥

उपावर्चस्व तद्ब्रह्म अन्तरात्मनि विश्रुतम् ॥ ५५ ॥

मौनान्न स मुनिर्भवति नारण्य वसनान्मुनिः ॥

स्वलक्षणन्तु योवेद स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ५६ ॥

सर्वार्थानां व्याकरणद्वयाकरण उच्यते ॥

तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा ॥ ५७ ॥

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्व्वदर्शी भवेन्नरः ॥

सत्ये वै ब्राह्मण स्तिष्ठन् तद्विद्वान् सर्व्वविद्ववेत् ॥ ५८ ॥

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः ॥

ब्रह्मचर्य्यव्रतस्यास्य प्रथमं पाद उच्यते ॥ ५९ ॥

आचार्य्यस्य प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि ॥

कर्मणा मनसा वाचा द्वितीयः पाद उच्यते ॥ ६० ॥

समा गुरौ यथा वृत्ति गुरुपत्न्यां तथा चरेत् ॥

तत् पुत्रे च तथा कुर्व्वन् द्वितीयः पाद उच्यते ॥ ६१ ॥

आचार्य्येणात्म रुतं विजानन् ज्ञात्वा चार्थ भावितेऽस्मीत्यनेन

यन्मन्यते तं प्रतिहृष्ट बुद्धिः स वै तृतीयो ब्रह्मचर्य्यस्य पादः ॥ ६२ ॥

नाचार्य्यस्यानपकृत प्रवासं प्राज्ञः कुर्व्वीत नैतदहं करोमि ।

इतीव मन्येत न भाषयेत् स वै चतुर्थो ब्रह्मचर्य्यस्य पादः ॥ ६३ ॥

कालेन पादं लभते तथार्थं ततश्च पादं गुरुयोगतश्च ॥

उत्साहयोगेन च पादमृच्छेत् शास्त्रेण पादश्च ततोऽभियाति-

॥ ६४ ॥ धर्मादयो द्वादशस्य रूपमन्यानि चाङ्गानि तथा-  
वलञ्च ॥ आचार्ययोगे फलतीति चाहुर्वह्मार्थयोगेन च-  
ब्रह्मचर्यं ॥ ६५ ॥ एवं प्रवृत्तो यदुपलभेत वै धनमाचार्या-  
य तदनुप्रयच्छेत् ॥ सतां वृत्तिं बहुगुणामेवमेति गुरोः -  
पुत्रे भवति च वृत्तिरेषा ॥ ६६ ॥ एवं वसन् सर्वतो-  
वर्द्धतीह बहून् पुत्राँल्लभते च प्रतिष्ठां ॥ वर्षन्ति चास्मै प्र-  
दिशो दिशश्च वसन्त्यस्मिन् ब्रह्मचर्ये जनाश्च ॥ ६७ ॥  
एतेन ब्रह्मचर्येण देवा देवत्वं माप्नुवन् ॥ ऋषयश्च महाभा-  
गा ब्रह्मलोकं मनीषिणः ॥ ६८ ॥ सनत्सुजात उवाच ॥ शोकः-  
क्रोधश्च लोभश्च कामो मोहः परासुता ॥ ईर्ष्यामानो वि-  
धित्सा च कृपासूयाजुगुप्सिता ॥ ६९ ॥ द्वादशैते महादोषा मनु-  
ष्यप्राणनाशनाः ॥ एकैकमेतेराजेन्द्रमनुष्यान्पय्युं पासते ॥ ७० ॥  
यैराविष्टोनरः पापंमूढसंज्ञो व्यवस्यति ॥ ७१ ॥ धर्मश्च स-  
त्यश्च तपोदमश्च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया । दानंश्रुत-  
ञ्चैवधृतिः क्षमा च महाव्रताद्वादश ब्राह्मणस्य ॥ ७२ ॥ यो नै-  
तेभ्यः प्रच्यवेद्द्वादशभ्यः सर्वानपीमां पृथिवीं सशिष्यात् ।  
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वार्थितो यो नास्य स्वमस्तीति च वेदि-  
तैर्ष्यं ॥ ७३ ॥ दमस्त्यागोऽथा प्रमादइत्येतेष्वमृतं स्थितम् ।  
एतानि ब्रह्ममुख्यानां ब्राह्मणानां मनीषिणाम् ॥ ७४ ॥  
अद्वाऽसद्वा परीवादो ब्राह्मणस्य न शस्यते ॥  
अवक प्रतिष्ठास्तेस्यु र्य एवं कुर्वते जनाः ॥ ७५ ॥  
मदोऽष्टादशदोषः स्यात् पुरायो ह्यप्रकीर्तितः ॥  
लोक द्वेष्यंप्रातिकूलमभ्यसूया मृषावचः ॥ ७६ ॥



कामक्रोधौ पारतन्त्र्यं परीवादोऽथपैशुनम् ॥  
 अर्थहानिं विवादश्च मात्सर्यं प्राणि पीडनम् ॥ ७४ ॥  
 ईर्ष्या मोहोऽतिवादश्च संज्ञानाशोऽभ्यसूयिता ॥  
 तस्मात् प्राज्ञो न मायेत सदाह्येतद्विगर्हितम् ॥ ७५ ॥  
 द्रव्यवान् गुणवानेवं त्यागी भवति सात्त्विकः ॥  
 पञ्चभूतानि पञ्चभ्यो निवर्त्तयति तादृशः ॥ ७६ ॥  
 यतोयज्ञाः प्रवर्द्धन्ते सत्यस्यैवावरोधना ॥  
 मनसान्यस्य भवति वाचान्यस्याथ कर्मणा ॥ ७७ ॥  
 सङ्कल्पसिद्धिं पुरुषमसंकल्पोऽ धितिष्ठति  
 ब्राह्मणस्य विशेषेण किञ्चान्यदपि मे शृणु ॥ ७८ ॥  
 अध्यापयेन्महदेतद्यशस्यं वाचोविकारान् कवयो वदन्ति ॥  
 अस्मिन् योगे सर्वमिदं य एतद्विदुरमृता स्ते भवन्ति ॥ ७९ ॥  
 न कर्मणा सुकृतेनैव राजन्सत्यं जयेज्जुहुयाद्वा यजेद्वा ॥  
 नैतेन वालोऽमृत्युमभ्येति राजन् रतिञ्चासौ न लभत्यन्तकाले ॥  
 तूष्णीमेक उपासीत चेष्टेत मनसापि न ॥  
 तथा संस्तुतिनिन्दाभ्यां प्रीतिरोषौ विवर्जयेत् ॥ ८० ॥  
 न दर्शनेतिष्ठति रूपमस्य पश्यन्ति चैनं सुविशुद्धसत्त्वाः ॥  
 हितोमनीषी मनसा न तप्यते ये प्रव्रजेयुरमृतास्ते भवन्ति ॥  
 योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥  
 अहमेव स्मृतो मातापितापुत्रोऽस्म्यहं पुनः ॥  
 आत्माहमपि सर्वस्य यच्च नास्ति यदस्ति च ॥ ८१ ॥  
 आत्मैवस्थानं समजन्मचात्मा ओतप्रोतोऽहमजरप्रतिष्ठः  
 अजश्वरो दिवारात्र मतन्त्रितोऽहं मा विज्ञायकविरास्ते

प्रसन्नः ॥ ८५ ॥ इति सनत्सुजातपर्वणि उदेयोगपर्वणि  
षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः समाप्तः॥ अथेदानीं वेदान्तसम्मत  
साधनचतुष्टयशमदमादिसम्पन्नस्य संन्यासे अधिकारित्वमाह ॥  
साधनचतुष्टयसम्पन्नइति ॥ वक्ष्यमाणसाधनचतुष्टयविशि-  
ष्टइत्यर्थः ॥ अयंभावः ॥ न तावद्देदाध्ययनं ब्रह्मजिज्ञा-  
साधिकारहेतु स्तस्य धर्मब्रह्मजिज्ञासयोः साधारणत्वात्त-  
न्मात्रेणेह नियमेन प्रवृत्त्यनुपपत्तेर्नापि धर्मविचारः प्राग-  
पि धर्मविचारादधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः ॥  
नापि धर्मानुष्ठानमिह जिज्ञासाहेतु विनापि धर्मानुष्ठानं ब्रह्म-  
चर्यादेव विरक्तस्य ब्रह्मजिज्ञासा दर्शनात् श्रुतिश्च भवति ॥  
विविदिपोः संन्यासविधायिनो यदिवा इतरथा ब्रह्मचर्यादेव  
प्रव्रजेदित्यादिका ॥ ननु जायमानो वै ब्राह्मणास्त्रिभिः ऋणवान्  
जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य  
एव वा अनृणो यः पुत्रीयज्वा ब्रह्मचारी वासीदिति श्रुतेः )  
मनुः ॥ ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ अन-  
पाकृत्यमोक्षन्तु सेवमानो ब्रजत्यधः ॥ १॥ इति स्मृतेश्च ऋण-  
त्रयापकरणमन्तरेण मोक्षशास्त्रे विचारप्रवृत्त्य युक्ततया ग-  
म्यमानात् ॥ कथं धर्ममननुष्ठाय संन्यासपूर्वकं ब्रह्मविचार  
प्रवृत्तिरिति चेत् उच्यते श्रुतिस्तावत् हृदयस्याग्नेऽव्यत्यस्य  
जिह्वाया अथ वक्षस इति पदवधदन एष विधिमपक्रम्य तदव-  
निरेवावदयते तदवदानानामवदानत्वमित्य वदाननि-  
र्वचनेनोपसंहाराद् वदानत्रयविध्यर्थं वादत्वात् न स्वार्थपरा  
अतः सा ब्रह्मचर्यादेवेति श्रुत्या नन्यपरयावाध्यते यदि-



ब्रह्मचर्यादिभिरपाकरणीयर्णत्रयमवदयत इत्यवदानश्रुतौ  
 ब्रह्मचर्यादे कृणुत्रयापाकरण हेतुत्ववचनं स्वार्थपरमेवमतं ।  
 तथापि जातमात्रस्यर्णत्रयसम्बन्धे प्रमाणाभावादधिकारी  
 जायमानो गृहस्थो जायमान इति वा व्याख्यानमुचितं स्मृति-  
 स्वविरक्तविषयताव्याख्याया एतेन यज्ञायुषीयजमानः जर-  
 यावान्मान मुच्येरन् वीरहा वा एषदेवानां योऽग्निमुद्वासयत  
 इत्यादिश्रुतयः ) एकाश्रम्यन्तु आचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्  
 गार्हस्थ्यस्येत्याद्याः स्मृतयश्चव्याख्याता वेदितव्याः ब्रह्म-  
 चर्यादेवप्रव्रजेत् (यद् हरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्)(अथ पु-  
 नरव्रती वा किमर्थावयमध्येष्यामहे किमर्थावयं यक्षामहे किं  
 प्रजया करिष्यामो येषांनोऽयमात्मेति याज्ञवल्क्यः प्रवव्रज ये  
 प्रजामीशिरे ते श्मशानानि भेजिरे ये प्रजां नेशिरे तेऽस्मृत-  
 त्वं हि भेजिरे इत्यादिश्रुति स्मृत्यविरोधात् । तस्मान्न धर्मा  
 नुष्ठानं ब्रह्मजिज्ञासाहेतुः ॥ अतोब्रह्मजिज्ञासा जायमाना  
 यास्मिन् सत्येवनियमेन जायते यास्मिन्न सतिनैव जायते तदे-  
 व तस्याः साधनमेषितव्यं तच्च वक्ष्यमाणं साधुनचतुष्टयमेवे-  
 ति ॥ कस्मात् पुनः साधनसम्पन्नस्तत्राह ॥ नितान्तोति ॥  
 नितान्तमत्यन्तंनिर्मलं शुद्धंस्वान्तमन्तःकरणं यस्य सः । तथा  
 कुतः स्वान्तस्य नैर्मल्यं ) प्रतिबन्धकरागादिवासनानि  
 वृत्तेत्याह ॥ निर्गतेतिरागादि वासनारूपकल्मष निवृत्ति-  
 रपि कुत स्तत्राह नित्येति ॥ काम्यकर्मभि स्तस्यानुष्ठीयमा-  
 मपि नित्यादि न साक्षात् कल्मषनिवृत्तिहेतुः कामवासना-  
 शुद्धप्रतिबन्धसम्भवान्तथा निषिद्धवर्जने पापेन प्रतिबन्धादि

त्यभिप्रेत्य नित्याद्यनुष्ठानं विज्ञिनष्टि काम्यनिषिद्धवर्जन-  
 पुरः सरमिति ॥ एवंनित्याद्यनुष्ठानस्य शुद्धेश्चैकभविकत्व  
 नियमं व्यावर्त्तयति ॥ अस्मिन्जन्मनिजन्मान्तरे वेति ॥ अने-  
 कजन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम् ॥ न हि कल्याणकृत्क  
 श्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ इत्यादिस्मृते जन्मान्तरानुष्ठि-  
 तस्यापि जन्मान्तरोपकारकत्वसम्भवादितिभावः ॥ एवं  
 काम्यनिषिद्धवर्जनपुरः सरमिहजन्मनि जन्मान्तरे वानु-  
 स्थितमित्यादिक्षयितकल्मषस्य विवेकादिसाधनचतुष्टयसम्पत्तौ  
 कारणतामाह ॥ आपातत इति ॥ आपाततो विचारे-  
 णेदं पर्यवधारणमन्तरेणाधिगतोऽखिलोवेदार्थो येन स तथा,  
 वेदशब्दो वेदान्तविषयः ॥ वेदार्थज्ञानं हेतुमाह । विधिब्रविति  
 ब्राह्मणेन षण्णोवेदो निष्कारणोऽध्येयोज्ञेयश्चेति वचना-  
 न्नित्याध्ययनविधावापादितवेदान्त वचोभिर्निरुक्त व्याकर-  
 णाद्यङ्गोपकरणैरनवनुद्ध्या तात्पर्यलिङ्गैः रधिगाताखिलवेदा-  
 न्तार्थ इत्यर्थः ॥ एतदुक्तं भवति ॥ वस्तुतश्चित् सदान  
 न्ब्रह्मस्वभावो ऽप्यात्मानाद्यनिर्वाच्या विद्यासम्बन्ध ल-  
 ष्वजीवभावो ऽविद्याकामकर्मवशागतः काम्यनिषिद्धाद्यऽ  
 न्वरतमाचरंस्तत्फलभूतस्वर्गनरकौ भुञ्जानस्तद्भोगवासना  
 परा सतस्तदनुरूपं पुनः कर्म पुनः फलमित्येवं घटीय-  
 नित्यवत् कुलालचक्रवच्चोर्द्धाधस्तिर्यग् भ्रमणमविश्रममनु-  
 स्तवन् हृष्टः कृतार्थो मूढो दुःखी वा इत्यात्मानं मृपैव मन्यते स  
 नः । एकः काम्योऽपरो नित्यस्तथा नैमित्तिकः परः । प्रा-  
 गन्येन फलं शुद्धि रार्थिकीकाम्यकर्मणः । प्राधान्येन मनः



शुद्धिनित्यस्य फलमार्थिकं । केवलं प्रत्यवायस्य निवृत्तिरि-  
 तरस्य तु इत्यादि पुराणवचनादतीतानेक जन्म सुकृत या-  
 दृक् पुण्यपुञ्ज परिपाकोदयवशात् काम्यफलेषु जातदोषबु-  
 द्धिराध्यात्मिकादि दुःखत्रयश्च निषिद्धाचरण फलमाकलयन्  
 काम्यनिषिद्धे परित्यजन्नीश्वरार्पणबुद्धानुष्ठितनित्यादि क्ष-  
 यितकल्मषतया लब्धविवेकादि साधनसम्पन्नः स्वात्मः । यथा  
 त्म्यजिज्ञासु वेदान्ताधिकारीति ॥ प्रत्यवाय शब्देनागामि दुः-  
 खमुच्यते ॥ येषामकरणे विज्ञायमाने तत्साध्यते ज्ञाप्यते-  
 तानि नित्यानीति यावत् ॥ ननु अकुर्वन् विहितकर्मनिन्दितञ्च  
 समाचरन् ॥ प्रसञ्जंश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति ॥ इति  
 स्मृतौ ॥ निर्निमित्तान्युपात्त दुरितक्षयार्थानि नित्यानीति ॥  
 नित्यकर्मलक्षणं नत्वकरणे प्रत्यवायोत्पादक लक्षणानीति ॥  
 अतएव नित्याद्यनुष्ठानकाले निद्रालस्यादि परवशं नरमा-  
 लोक्य शिष्टैर्लक्ष्यते यद्यस्य यथावा न्नित्य नैमित्तिकानुष्ठान  
 मभविष्यत्तदा सञ्चितदुरितक्षयोऽभविष्यन्नचायं विहितम-  
 कार्षीदतः प्रत्यवायी भविष्यतीति तथा च न प्रत्यवायस्या  
 करणहेतुकत्वं प्रत्यवायशब्दवाच्यस्य पापदृष्टस्य तज्जन्यागा-  
 मि दुःखस्य वा निषिद्धक्रियाजन्यत्वात् पापकारी पापो भवति  
 अथ य इह कपूयचरणाभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिं यानि  
 पथेरन्निति च श्रुतेः ॥ तस्माद करणे प्रत्यवाय साधनानि नित्य-  
 त्वाय ज्ञापकानि नित्यानीति व्याख्यानां सुव्याख्यानाम् ॥  
 सन्ध्यावन्दनादीनीत्यादि पदात् पञ्चमहायज्ञादिग्रहः ॥ इति  
 मित्तमात्रमासाद्यावश्यकर्तव्यतया विहितानि नैमित्तिका

एतदाह पुत्रेति॥ जातेष्टिर्नाम वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्व्वपेत्  
 पुत्रेजात इतिविहिता ॥ उपासनानां ज्ञानाद्भेदं दर्शयति॥ मान-  
 सव्यापाररूपाणीति ॥ निदिध्यासनाद्भेदमाह॥ सगुणेतिशाण्डि-  
 ल्यविद्यानामसर्व्वं खल्विदं ब्रह्म इत्युपक्रम्य सकृत्तुं कुर्व्वीतः,  
 मनोमयः प्राणशरीरोभारूप इत्यादिनाच्छान्दोग्ये विहिता ॥  
 वाजिनामग्निरहस्याख्येऽपिकाण्डे स आत्मानमुपासीत  
 मनोमयं प्राणशरीर मित्यादावुक्ता बृहदारण्यके च मनोम-  
 योऽयं पुरुषो भाः सत्यइत्यादौ प्रत्यभिज्ञाता विद्यापआदि पदा  
 हहरवैश्वानरादि विद्यान्तरग्रहणम् ॥ इदानीमुक्तलक्षणानां  
 नित्यादीनामीश्वरार्पणतया नुष्ठीयमानानां परमफलं दर्शयति॥  
 एतेषामिति आदिपदान्नैमित्तिक प्रायश्चित्तयोर्ग्रहः ॥ नित्या-  
 दीनामुपात्तदुरितक्षयद्वाराबुद्धिशुद्धि हेतुत्वमिति द्रष्टव्यं ।  
 निर्गतनिखिल कल्मषतयोक्तत्वात् । नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्व्वी-  
 णोदुरितक्षयमित्यादिस्मृतेः ॥ धर्मेण पापमपनुदतीति श्रुते-  
 श्च चित्तशुद्धेः परमप्रयोजनत्वं परमपरया मोक्षसाधनत्वात् ॥  
 तथाच स्मृतिः ॥ स्वेस्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः  
 स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथाविन्दति तच्छृणु ॥ इत्युपक्रम्य ॥  
 असक्तबुद्धिः सर्व्वत्रजितात्मा विगतस्पृहः ॥ नैष्कर्म्यसिद्धिं  
 परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ इतितदुक्तं ॥ नैष्कर्म्यसिद्धावपि  
 नित्यं कर्म्मनिष्ठानाद्धर्म्मोत्पात्तिः पापहानिः ततश्चित्त शुद्धि  
 स्ततः स्वसंसारत्मा यथात्म्यावबोधस्ततो वैराग्यं ततो मुमुक्षु-  
 त्वं तत स्तदुपाय पर्य्येषणं ततः सर्व्वकर्मसंन्यास स्ततो यो  
 गभ्यास स्ततश्चित्तस्य प्रत्यक्प्रवणता । ततस्तत्त्वमस्यादि



वाक्यार्थपरिज्ञानं ततोऽविद्योच्छेदस्ततः स्वात्मन्यवस्थान-  
मिति ॥ तस्यनित्याद्यनुष्ठानक्षयितकल्मषतया विशुद्धस्यचि-  
त्तस्य शास्त्रप्रकाशिते ध्येयेज्ञेये वा विषये ऐकाग्र्यं निश्चल-  
त्वमित्यर्थः सूक्ष्मार्थावधारणसमर्थत्वमितियावत् ॥ पूर्वो-  
क्तप्रकारेणानुष्ठीयमानानां नित्यादीनां उपात्तदुरितक्षयद्वारा  
शुद्ध्यादिपरम्परया ज्ञानहेतुत्वे प्रमाणमाह । विविदिषन्ती-  
ति ॥ आदिपदात्तपसाऽनाशकेनेति वाक्यशेषग्रहः ॥ विवि-  
दिषन्तीति विविदिषासम्बन्धे विधिप्रत्ययोऽनुसन्धेयोऽपू-  
र्व्वस्वात्तर्हि यज्ञादीनां विविदिषासंयोगः पूर्व्वं न प्राप्तो येनानु-  
वादत्वं वाक्यस्य कल्प्येत ॥ ननु यज्ञादीनां यावज्जीववाक्येना-  
वश्यकर्तव्यतया प्राप्तानां विविदिषार्थं यज्ञाद्यनुष्ठानमपरमि-  
ष्येत ततः संसारव्याविवृतसूनां द्विरनुष्ठानं स्यादिति चेन्न स्वा-  
दिरादिवत् संयोगपृथक्कोपपत्तेः । न च तर्हितेनैव न्यायेन क-  
र्मणां मोक्षार्थत्वेपीति शङ्कनीयं ज्ञानकर्मसमुच्चय निराकर-  
णात् तथा च न्यायः अतएवाऽनीन्धनान्यनपेक्षेति कर्मणां  
ज्ञानं प्रत्यादरादुपकारकत्वन्तु स्यात् सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रु-  
तेरश्ववदितिन्यायात्, उक्तञ्च भाष्यकृद्भिर्विविदिषासंयोगा-  
नुवाह्यान्तराणियज्ञादीनीति ॥ तत्रैवस्मृतिं सम्बादयति तप-  
सेति आदिपदात् कषायपक्तिः कर्माणीत्यादि स्मृत्यन्तग्रहः ॥  
ननु नित्यादेः सत्त्वशुद्धिर्तदैकाग्र्यफलकत्वे कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः सर्वत्र ते पुण्यलोका भवन्तीत्यादि श्रुतिः ॥ त्रि-  
त्यादीनां पितृलोकादिफलपरापीड्येतेति अत आह । नित्यनै-  
तिकयोरिति ॥ अत्र प्रायश्चित्ताग्रहणं तस्यावान्तरफलाभावात्

न ह्युपात्तदुरितक्षयमन्तरेण तस्य किञ्चित्फलं श्रुतमस्ति,  
 अनयोस्तु तत्श्रूयते इतिविशेषः । नित्यनैमित्तिकयोः पितृलो-  
 क प्राप्तिरवान्तरफलं उपासनानां सत्यलोकप्राप्तिरिति  
 विवेकः, तद्यथाम्रफलार्थे आरोपिते निमित्तेच्छाया गन्धाव-  
 नूत्पद्येते इतिस्मृत्युक्तच्छाया गन्धवत् पितृलोकादि फल-  
 स्यावान्तरत्वमानुषङ्गिकं तदुद्देशेन नित्यादेरविधानात् वि-  
 विदिषासंयोगस्य च विधानाच्छुद्धेरेव महाफलत्वमिति  
 भावः । ननु पितृलोकस्य कथंनित्यादि साध्यत्वंश्राद्धादि क-  
 र्मसाध्यत्वात्तस्य देवलोकस्य च अष्टाशीति सहस्राणां मुनी-  
 नामूर्ध्वरेतसा मुत्तरेणार्थस्य पन्था इत्यादिस्मृते त्रैष्टिकायूर्ध्व-  
 रेत आश्रमधर्ममात्र साध्यत्वावगमात् कुतोविद्याफलत्वमि-  
 तिचेत्तत्र पृच्छामः किंश्राद्धादि नित्यनैमित्तिकरूपं कर्म काम्यं  
 वेत्तिआद्ये कथं न नित्यादेः पितृलोकःफलं ॥ द्वितीये तस्य वि-  
 द्युद्देशफलेनैव निराकांक्षत्वात् पितृलोकफलसम्बन्धाभावात्  
 नापि विना विद्यामूर्ध्वरेत आश्रममात्रेणोत्तरमार्गगमनं स-  
 म्भवति, विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः । न तत्रद-  
 क्षिणायान्ति नाविद्वांसस्तपस्विन इति श्रुतौ विद्याविराहि-  
 तानामुत्तरमार्गनिषेधात्, निर्णीतश्चैतदाचार्यैर्गुणोपसंहारपा-  
 देअनियमः सर्वसाधुविरोधः शब्दानुमानाभ्यामित्यत्राधिक-  
 रणे स्मृतिर्न पुनरावृत्ति मूर्ध्वरेतसामाचष्टे किन्तु गमनमात्रं, श्रु-  
 तौ तु देवलोकशब्दित ब्रह्मलोकगतानां पुनरावृत्त्य भावोऽव-  
 गम्यते एतेन प्रतिपाद्यमाना इमं मानवमावर्त्तन्नावर्त्तन्त इति  
 तेषामिह न पुनरावृत्तिरिति च यत्पुनरत्रेममिहेति च वि-



शेषणात् कल्पान्तरे आवृत्तिरवगम्यते तद्विद्यारहितानां अना-  
 वृत्तिस्तु विद्यावतां क्रममुक्त्याम्नानादिति रहस्यं, नन्वेवंस-  
 ति च्छान्दोग्यभाष्यविरोधः तत्र हि महता संरम्भेण ये चे-  
 मेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासतइति पञ्चाग्निविद्यागतवाक्य-  
 व्याख्यानावसरेगृहस्थानां विद्यारहितानामनृत पैशुन्यमाया  
 भेदात् ब्रह्मचर्यादिभिरपूतत्वान्न स्वधर्मनिष्ठतामात्रेणोत्तर  
 मार्गगतिरस्ति ॥ इतरेषां नैष्ठिकवानप्रस्थमुख्य संन्यासिनांतु  
 तद्विपरीतत्वात् पूततया स्वाश्रमधर्मनिष्ठतामात्रेणोत्तरमार्ग  
 गतिरपुनरावृत्ति लक्षणाभावात् इत्याचार्यैरेव निरूपितं । न  
 तत्र दक्षिणेत्यादि श्रुतिः परमुक्त्यपेक्षेति व्याख्यातं तत्तत्कुत  
 एवं विभागवचनमितिचेत् सत्यं ऊर्ध्वरेतसामुत्तरमार्गेणब्र-  
 ह्मलोकगमनं विद्याविनापीत्येतावन्मात्रं तत्रोक्तं न पुनरात्य-  
 न्तिव्यपुनरावृत्तिस्तत्र विवक्षिता ॥ आभूतसंप्लवंस्थानममृत-  
 त्वं हि भाष्यते इत्यापेक्षिका भूतत्ववचनोदाहरणात् ॥ गुणोप-  
 संहारे च तस्मादिहश्रद्धातपोभ्यां विद्यान्तरोपलक्षणम् ॥ वा-  
 जसनेयिनस्तु पञ्चाग्निविद्याधिकारेऽधीयते य एवमेतद्विदुर्ये-  
 चामी अरण्ये श्रद्धांसत्यमुपासत इत्युदाहृत्य तत्रश्रद्धालवो  
 ये सत्यं ब्रह्मोपासत इति व्याख्येयं सत्यशब्दस्य ब्रह्मण्यसकृत्  
 प्रयुक्तत्वादिति तैरेव व्याख्यातत्वात् ॥ याज्ञवल्क्यश्चाह  
 सप्तर्षिनागस्वर्गस्थं देवलोकंसमाश्रिताः तावन्त एव मुनीयः  
 सर्वारम्भविवर्जिताः ॥ तपसाब्रह्मचर्येण सङ्गत्यागेनमेधया  
 तत्र गत्वावतिष्ठन्ते यावदाभूत संप्लवमिति ॥ तस्मादात्या-  
 क्यऽपुनरावृत्ति विद्यावतामेवेति युक्तक्रममुक्तिहेतुत्वादि

द्यायाः ॥ न च तर्हि मुक्तेरेव विद्यापरमप्रयोजनत्वाच्चित्तैका-  
ग्र्यस्य तदयुक्तमिति वाच्यं सगुणब्रह्मविदस्तथात्वेऽपि निर्गुण-  
ब्रह्मविद्याधिकारिणां चित्तैकाग्रतया एव परमप्रयोजनत्वात्  
तस्यापि साक्षात्कारोदयात् प्रागेव प्रमीतस्य ब्रह्मलोकगमनो  
पपत्तेः, प्राप्यपुण्यकृतान् लोकानुषित्वा शाश्वतीः समा इत्या-  
दिस्मृतेः ॥ सगुणब्रह्मविदोऽपि ब्रह्मलोकगतस्य तत्र सम्भोगं  
विद्यावान्तरफलं भुक्तवत् स्तत्रोत्पन्नचित्तैकाग्र्यद्वारा स्वय-  
म्भवदेवान्तवाक्यार्थज्ञानादेव मुक्तिरिति नियमात् भवत्येव  
चित्तैकाग्रतोपासनायाः परमप्रयोजनमिति न किञ्चिद्दूष्यति ॥  
तस्मात्सर्वत्र ते पुण्यलोका भवन्ति इति श्रुतेर्नित्य  
नैमित्तिकयोः फलस्य वाचनिकत्वात्तथात्वेऽप्युक्त लक्षणभेदेन  
काम्यवैषम्यात् फलविशेषस्य चाश्रुतत्वात् पितृलोकस्य  
च फलात्मनः कर्मविशेषाकांक्षितत्वान्नष्टाश्वदग्धरथन्यायेन  
कर्मणा पितृलोक इति श्रुतिरुपपद्यते काम्यप्रायश्चित्तयोः  
फलविशेषेद्देशेन पापक्षयमात्रार्थत्वेन च विधानात् फला-  
न्तरा कांक्षाभावात्, तथाङ्गववद्धानां कर्मसमृद्ध्यर्थत्वादन-  
ङ्गाववद्धानामपि पितृलोकोपासनानां ब्रह्मोपासनानाञ्चा-  
भ्युदयफलत्वात् कार्यकारण ब्रह्मोपासनानामवान्तरफलं  
देवलोक शब्दवाच्य ब्रह्मलोक इति परिशेषात् सिद्धिरतो युक्तं  
विद्यया देवलोक इति वचनमित्यलं प्रपञ्चेन ॥ साधनसम्पन्नः  
प्रमाताधिकारीत्युक्तं तत्र कानि साधनानि कियन्तीत्यपेक्षायां  
तानिविभजते ॥ साधनानीति ॥ विवेकमन्तरेण वैराग्ययो-  
गात् विवेकस्य प्राथम्यं न हीदं हेयमिदमुपादेय मिति



विवेचनमन्तरेण हेयाद्रागनिवृत्तिः सम्भवति अनिवृत्तरागस्य  
 शमाद्यभावात् शमाद्यपेक्षया विरागस्य पूर्वमुद्देशः । शा-  
 न्त्यादिहीनस्य मुमुक्षायोगात् ततः प्रागेव शमाद्युद्देशः । एतै  
 स्त्रिभिः साधनैः सम्पन्नस्य मुमुक्षाया अवश्यम्भावात् मुमुक्षा-  
 याञ्च नियमेन ब्रह्मजिज्ञासाप्रवृत्तेर्मुमुक्षान्तान्येव साधना  
 नि इत्यभिप्रायः ॥ विवेकादीन्युद्देशकमेण लक्षयति ॥ नि-  
 त्यानित्यवस्तुविवेकस्तावदित्यादिना नित्यत्वंनाम कालान-  
 वच्छिन्नत्वं तद्विपरीतत्वमनित्यत्वं न स्थास्यतीति लोकाग-  
 मयोर्व्यवहारायोग्यंनित्यं तद्विपरीतमनित्यमिति वा तथा  
 च नित्यानित्ये च ते वस्तुनीच नित्यानित्यवस्तुनी तयोर्विवेक  
 इति विग्रहः । केचिन्तु नित्यानित्ययोर्व्वसितुं शीलं ययोस्ते  
 नित्यानित्यवस्तुनी नित्यत्वम नित्यत्वञ्च तयोः साश्रययोर्व्वि-  
 वेको नित्यानित्यवस्तुविवेक इत्याहुः ॥ स चापाततोऽधिगत  
 वेदार्थस्यानुमान कुशलस्य ब्रह्मैव नित्यंवस्तु ततोऽन्यदखिल  
 मनित्यमिति विवेको भवति ॥ तथा हि यस्मादवर्वाक् संव-  
 त्सरोऽहोभिः परिवर्त्तते तदेवाज्योतिषांज्योतिः नित्यंविभुंस-  
 र्व्वगतं सुसूक्ष्मं आकाशवत् सर्व्वगतश्च नित्यः अजोनित्यःशा-  
 श्वतः, सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म रातेर्द्वातुः परायणं यत्र नान्यत्  
 पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा यो वै भूमा  
 तदमृतमित्यादि श्रुतिभ्योब्रह्मणि नित्यत्वं विशुद्धसत्त्वस्योप-  
 सः प्रतिभाति ॥ तथा नैवेह किंचनाग्र आसीत् मृत्युनैवेह  
 मावृतमासीत् आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चनमि-  
 दं पत् सदेवसौम्येदमग्रआसीदेक मेवाद्वितीयं, नेतिनेति, नेहना

नास्ति किञ्चन, यत्रान्यत् पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यद्वि-  
जानाति तदल्पं अथ यदल्पं तन्मर्त्यमित्यादि श्रुतिवचनेभ्यो  
ब्रह्मणोऽन्यत्वं भेदप्रपञ्चे नित्यत्वञ्च तस्यैव पुंसः प्रतिभाति  
तथानुमानमपि विमतोऽचेतनवर्गोऽनित्यो विभक्तत्वादूषट्  
पटस्तम्भादिवदिति ॥ अनेन हि विभक्तस्यानित्यत्वावगते  
तस्मिन्ननुगतप्रकाशात्मकस्य ब्रह्मणोऽविभक्तस्य नित्यत्वम-  
प्यर्थादवगच्छति ॥ आकाशादेश्चोत्पत्तिमत्त्वसाधनेना  
नित्यत्वंमुत्तरत्र वर्णयिष्यामः । न चैवंश्रुत्यनुमानाभ्यां विवे-  
के सति ब्रह्मणोज्ञातत्वादलं, विचारेणेतिवाच्यं ॥ आपाततो  
नित्यवस्तु ब्रह्मेत्यवगमेऽपि तस्याद्वितीयत्व प्रत्यगभिन्नत्वा-  
देरनिर्द्धारणाज्जिज्ञासाया अनिवृत्तेरित्यास्तां विस्तरः ॥  
ऐहिकानामिति । इहलोकेभवा ऐहिकाः प्रतिपन्नशरीरस-  
म्बन्धिनः । स्रक्चन्दनवनितागृहक्षेत्रपशुमर्त्यादिविषय जन्य-  
सुखस्वरूपाभोगाः कृषिसेवाप्रतिग्रहादि कर्मजन्या अ-  
नित्या यथा दृष्टाः एवमामुष्मिका अप्यमृतादि विषयसेवा ज-  
न्यानन्दायागादिकर्मजन्यत्वादनित्याभवितुमर्हन्तीति नि-  
श्चित्य तेभ्योऽतितरां विषमिश्रितान्नच्छर्द्दितान्नवज्जुगुप्सेहा-  
सुत्र फलभोगविरागइत्यर्थः ॥ अयंभावः सुखं मे निरतिशयं  
भूयात् दुःखं मा भूदणुमात्रमपीत्यखिलप्राणिनामस्त्य-  
भिनिवेशः । ते चैवमभिनिविष्टाः पुरुषकारावलम्बनेन  
सर्वोत्साहं यतन्तोऽपि न लभन्ते सुखमात्यन्तिकं दुःखाभा-  
वञ्च, कथं, केचित्समुद्रयानराजप्रीणनाद्यतिकष्टमनुभूय  
फलकलेस्वयं नश्यन्ति, केचित्प्राप्तफलापि<sup>अ</sup>विष्याध्याद्युप-



द्रुताः सन्तोभोगं न लभन्ते, ॥ केचित्तुप्राप्ते यद्भोगाअपि  
 भोग्यभार्या पुत्रादिविनाशाद्वा तद्विसम्बादाद्वा अन्यैर्वा सह-  
 स्पर्द्धा सूर्यादिभिः सञ्चितभोग्यजातस्य क्षयभये नानावृष्ट्या  
 दिचिन्ता सन्तापादिभिश्च क्षणमपि सुखमलभमानाः कष्टा  
 दरिद्राः काणकुब्जाक्लीववधिरादयो बुभुक्षापिपासार्दिता ब-  
 हुलमुपलभन्ते ॥ एवं दुःखबहुलेसंसारे सुखलेशमात्रमनु-  
 भवन्नपि कृपणवद्विशुद्धचित्तो न सज्जते किन्तु विरज्यत एवे-  
 ति ॥ नन्वस्वेव मैहिकं सुखमनित्यत्वादि दोषदुष्टत्वादि-  
 रागास्पदं तथापि न पारलौकिकादिरक्ति रूपपद्यते क्षयिष्णु  
 त्वानुमानस्याक्षय्यं ह वै चातुर्म्मास्ययाजिनं सुकृतं भवतीति  
 श्रुतिवाधितविषयस्यानुत्थानादिति चेत् मैवं तद्यथेह कर्मचि-  
 तोलोकः क्षीयते एवमेवामुत्रपुण्यचित्तोलोकः क्षीयते इति श्रु-  
 त्या वस्तुवलावलम्बनेन प्रवृत्तयाऽनन्यपरया सापेक्षाऽक्षय्य  
 फलविषयिकायाः प्रशस्तलक्षणाया विध्येकवाक्यत्वेनान्य-  
 परयास्तस्या एव वाधितत्वात् । न हि जन्यं नित्यं भावरूपं  
 दृष्टं ) अत ऐहिक भोगवदेवाब्रह्मस्तम्बपर्यन्तेषु भोगेषु वैरा-  
 ग्यमुपपद्यते इतितदुक्तं भगवता व्यासेन ) यच्च कामसुखं लोके  
 यच्च दिव्यं महत्सुखं । तृष्णाक्षय सुखस्यैते नार्हतः पोऽर्शी  
 कलामिति ॥ शमादीन् विभजते ॥ शमादय इति । मनसोवाति-  
 प्रवृत्तौ वाद्येन्द्रियाणां द्वारत्वात् तान्निरोधमन्तरेण मनो नि-  
 हाशक्तेर्दमानन्तरं शमो द्रष्टव्यः पाठक्रमादर्थ क्रमस्य वली ॥  
 स्वादिग्निहोत्रयवागुपाकवत् ॥ मनसोऽन्तः करणस्य निग्रह-  
 विषयेभ्यो वलादाकर्षणं शमइत्येतावत्युक्ते श्रवणादि विप-

येभ्योऽपि निग्रहे प्राप्ते ततो निग्रहस्य ज्ञानानुकूलत्वा भावादा-  
नर्थक्य मित्याशंक्यानिग्रहं विशिनष्टि श्रवणादीति ॥ मनना-  
दिसंग्रहार्थमादिपदं एव मुत्तरत्रापि द्रष्टव्यं ॥ तद्व्यतिरिक्ते  
त्यत्र श्रवणादि स्तच्छब्दार्थः । निवर्त्तितानां एतेषां बाह्यान्तरि-  
न्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्त विषयेभ्यः श्रवणादिव्यतिरिक्त वि-  
षयेभ्य उपरमणं पुन विषय प्रवृत्त्यनुत्साहकरणमुपरति  
रित्यर्थः ॥ ननु शमदमयो लक्षणाभ्यामिदमुपरति ल-  
क्षणं संकीर्णं प्रतिभाति वहिः प्रवृत्तेन्द्रिय व्यापारनिरोधात्म-  
कस्य लक्षणार्थस्य तुल्यत्वादित्यपरितोषात् प्रकारान्तरेणो-  
परतिं लक्षयति अथवा इति विहितानामवश्यकर्तव्यतया  
चोदितानां सन्ध्यावन्दनाग्निहोत्रादीनां कर्मणां विधिना  
तत्त्वेके प्राजापत्यामिष्टिं कुर्वन्ति प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्व-  
वेद सदाक्षिणां आत्मन्याग्निन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृ-  
हादित्यादि श्रुतिस्मृत्युक्तमार्गेण परित्यागः परिव्रजनं सं-  
न्यास उपरति रित्यर्थः ॥ शमादिवत् संन्यासोऽप्यात्मज्ञाना-  
न्तरङ्गत्वाद वश्यं मुमुक्षुणानुष्ठेयः तथा च श्रुतयः न कर्म-  
णा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमान शुः ॥ वेदान्त  
विज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ॥  
एतमेव लोक मिच्छन्तः प्रव्राजिनः प्रव्रजन्ति ॥ पुत्रैषणायाश्च  
पित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चर-  
न्ति तानि वा एतानि अवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेच-  
यदित्याद्याः ॥ स्मृतयश्च नैष्कर्म्यं सिद्धिं परमां संन्यासेना-  
धि गच्छति ॥ त्वं पदार्थविचारो यः संन्यासः सर्वकर्म-



णां ॥ अर्थस्य मूलं प्रकृतिः क्षमाच कामस्य रूपञ्च वपुर्व-  
 यश्च ॥ धर्मस्य यागादि दयादमश्च मोक्षस्य सर्वोप-  
 रमः क्रियाभ्यः ॥ प्रवृत्तिक्षणो यागो ज्ञानं संन्यासलक्षणं  
 । तस्मात् ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिहबुद्धिमान् ॥ इत्याद्याः  
 न्यायश्च पुरुषस्योद्देश्यसिद्धये यदुपयुक्तमविरोधि च तदु-  
 पादेयं विपरीतं हेयमिति ॥ तदिहब्रह्मात्मजिज्ञासूनां वेदा-  
 न्तविचारे क्रियमाणे निष्कर्मणामुपयोगो विनापि कर्म  
 तदनुष्ठानसिद्धेः नाप्यविरोधः ॥ कर्मविक्षिप्तचित्तस्य वे-  
 दान्तार्थनिर्णयाशक्तेः कर्मणां विचारविरोधित्वात् न ह्य-  
 प्येतेषामब्रह्मक्षत्राय कर्तृ भोक्तृ ब्रह्मास्मीत्यात्मनि वि-  
 चार्यमाणे ब्रह्मण्यनाद्यध्यासविशिष्टात्मप्रतिपत्त्यधीनेषुकर्म-  
 स्वधिकारो न विरुध्यते येनात्मजिज्ञासुना कर्माणि  
 न त्यक्तव्यानि स्युः तस्मात् श्रुतिस्मृतिन्यायैरात्मज्ञाना-  
 कृतया यः संन्यासः कर्तव्यतया प्राप्तः स उपरति<sup>रिति</sup> भावः ॥  
 शीतोष्णादीत्यादिपदात् मानापमानलाभालाभशोकहर्षा-  
 दिग्रहः । श्रवणादावित्यत्रादिशब्दो मननादि संग्रहार्थः ।  
 तदनुगुणोत्पन्नगुरुभुश्रूपापुस्तकसम्पादनतद्रक्षणादिः श्रवणाद्य-  
 नुगुणो विषयो निर्दिश्यते, न पुनः सुखवासद्रव्याणां  
 संग्रहादेरपि श्रवणाद्यनुकूलत्वात्तदर्थं मठारम्भप्रतिग्रह-  
 दावपि चित्तसमाधिः कर्तव्य इहोपदिश्यते ॥ दण्डरक्षा-  
 च्छादनं कौपीनं परिग्रहोच्छेपं विसृजेदिति संन्यासकाल-  
 ले त्याजितस्य दण्डकौपीनाद्यतिरिक्तस्य विना प्रतिप्र-  
 वशास्त्रं संग्रहानुपपत्तेरित्यर्थः । समाधिरैकाग्र्यं तत् परत्वं

मितियावत् ॥ गुरुवेदान्तादीत्यादि पदात् स्मृतीतिहास  
पुराणानां ग्रहः । विश्वास इदमित्थमेव नान्यथेति गुर्वादि  
वाक्येषु निश्चयात्मिका बुद्धिः सा श्रद्धेत्यर्थः ॥ चरममनु  
बन्धं लक्षयति । मुमुक्षुत्वमिति । मोक्षोनाम विद्यानिरस्ता  
विद्या तत्कार्यं ब्रह्मात्मनावस्थानं तद्विषयेच्छा मोक्षेच्छा  
तद्वत्वं मुमुक्षुत्वमित्यर्थः । ननु यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामाये  
ऽस्यद्विद्विश्रिताः । अथमर्त्योऽस्मृतो भवतीति श्रुतेः ॥ सर्व  
कामविमुक्तस्य मोक्षाधिकारात् कथमिच्छा अधिकारिवि-  
शेषणमिति चेत्, नायं दोषः । अनात्मविषयेच्छाया एव  
कामत्वात्तदभिप्रायश्रुतिः, मोक्षेच्छाया स्त्वात्मविषयतयाऽ  
कामत्वात् ॥ अथाकामयमानो योऽकामो निष्कामः प्राप्त  
काम इति श्रुतेरात्मकामस्याप्तकामत्वेनाकामत्वावगमादिति  
विद्याधिकारिणः शमाधिसाधनवत्त्वे श्रुतिं प्रमाणयति ॥  
शान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भुत्वात्मन्येवात्मानं  
पश्येदितिकाण्वाः पठन्ति समाहित इत्यस्यस्थानेश्रद्धावित्तो  
भूत्वेतिमाध्यन्दिनाः ॥ तदुभयपाठानुरोधे गुणोपसंहारन्याय  
माश्रित्येहशमादयः षट्निर्दिष्टा इतिद्रष्टव्यं । शमादेर्वि-  
द्याहेतुत्वं भगवानप्याह ॥ योगारूढस्यतस्यैव शमःकारणमु-  
च्यते ॥ अशान्तस्यकुतः सुखम्, तथा यदासंहरतेचायं कु-  
र्मोऽङ्गानीवसर्वशः ॥ इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य स्तस्यप्रज्ञा प्र-  
तिष्ठिता इति ॥ सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज  
इति ॥ मात्रास्पर्शा स्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ॥ स-  
माभावचलाबुद्धिः ॥ मय्येव मन आधत्स्वमयिबुद्धिं निवेशये



ति, श्रद्धावाँल्लभतेज्ञानं तत्परःसंयतेन्द्रियः ॥ अज्ञश्चाश्रद्ध-  
 धानश्च संशयात्मा विनश्यतीति च ॥ मुमुक्षुत्वेऽपि मुमुक्षुर्वै  
 शरणमहंप्रपद्ये ॥ ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्नगता न  
 निवर्तन्तिभूयः। तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसूतापु-  
 राणीति श्रुतिस्मृतीद्रष्टव्ये ॥ एवं विशेषेणविशिष्टो वेदान्ता  
 धिकारीति निरूपितेऽर्थेऽभियुक्तस्य वचनमुदाहरति उक्तञ्च  
 प्रशान्तेति प्रशान्तचित्ताय शान्ताय जितेन्द्रियाय दान्ताय प्र-  
 क्षीणदोषाय नितान्तनिर्मलस्वान्ताय यथोक्तकारिणे काम्य  
 निषिद्धवर्जनपुरः सरं नित्याद्यनुष्ठानलब्धेश्वरप्रीतये गुणा-  
 न्विताय विवेकवैराग्योपरतितितिक्षासमाधानयुक्ताय सर्वदा  
 गुरुमनुगताय श्रद्धालवे एवम्भूताय मुमुक्षवे षट्दात्मज्ञानं स-  
 ततं गुरुणादेयमिति श्लोकार्थः॥तत्र यमानाह तत्रेति वाङ्मनः  
 कार्यैःपरपीडावर्जनमहिंसासत्यं यथार्थभाषणं अस्तेयं अदत्ता  
 दानरूपपरस्वहरण राहित्यं ब्रह्मचर्य्य अष्टाङ्गमैथुनवर्जनं तथा  
 चोक्तं स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणं सङ्कल्पोऽध्यवसा  
 यश्च क्रियानिर्वृतिरेवचाएतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः  
 विपरीतं ब्रह्मचर्य्यमेतदेवाष्टलक्षणमिति । अथ परिग्रहः स-  
 माध्यनुष्ठानानुपयुक्तस्य वस्तुमात्रस्यसंग्रहः । इतिसंन्यासाश्रमाधि-  
 कारिविषयमुक्तं ॥

( अथेदानीं संन्यासाश्रमं चतुर्विधं दर्शयति ) आश्रमाः भिक्षु-  
 पनिषदि अथर्ववेदे ॥ परिब्राजका अपिचतुर्विधा भवन्ति ॥  
 कुटीचका १ बहुदका २ हंसाः ३ परमहंसाश्चेति ४ तत्रकुटीचका  
 जनककात्यायन याज्ञवल्क्य हरितहारित माण्डव्य जैमिनि

प्रभृतयः ॥ स्वपुत्रगृहेषु भिक्षाचर्यं चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते  
॥१॥ बहुदका स्त्रिदण्ड कमण्डलु शिष्य यज्ञ जलपवित्रपात्र पा  
दुकासन शिखायज्ञोपवीत कौपीनकाषाय केशधारिणः साधुवृ-  
त्तेषु ब्राह्मणकुलेषु भिक्षाचर्यं चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते ॥२॥ हंसा  
एकदण्डधारिणः शिखावर्जिता यज्ञोपवीतधारिणः । शिरस्तु-  
ण्डमुण्डवपनं कृत्वा शिष्य कमण्डलु दण्डहस्ता ग्रामैकरात्रवा-  
सिनो नगरे तीर्थेषु पञ्चरात्रं वसन्तो गोमुत्रगोमयाहारा एकरा-  
त्रकृच्छ्रचान्द्रायणादिव्रतं चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते ॥३॥ पर-  
महंसाः ॥ न दण्डधरः मुण्डाकंथा कौपीनवाससो त्यक्ताऽल्लिगा  
अव्यक्ताचारो आश्रम उन्मत्तवदाचरन्त स्त्रिदण्डकमण्डलुशि-  
ष्य यज्ञोजलपवित्रपात्र पादुकासन शिखा यज्ञोपवीतानां त्या-  
गिनः शून्यागार देवगृहवासिनो न तेषां धर्मो नाधर्मो न ऋत  
श्चा नृतं सर्वसहाः सर्वसमाः समलोष्टाश्मकाश्चना यथोत्पन्न  
मात्राहाराश्चातुर्वर्ण्ये भिक्षाचर्यं चरन्त आत्मानं मोक्षयन्त  
आत्मानं मोक्षयन्त इति । यतीनां प्रथमोधर्मो नियमो  
वनवासिनां वनमेव गृहस्थानां शुश्रूषा ब्रह्मचारिणां इति  
कात्यायनः ॥ इति चतुराश्रमधर्मः समाप्तः ॥ इतिचतुर्थ  
खण्डः इति अथर्ववेदे आश्रमोपनिषत् समाप्ता ॥

संन्यासोपनिषदि प्रमाणं कुटीचकादि संन्यासधर्मदर्श  
यति ॥ तल्लक्षणमाह ॥ त्यजधर्ममधर्मश्च उभे सत्यानृते त्यज ॥  
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजति तत्त्यज ॥ अथ संन्यासचतुर्वि-  
धाः सन्ति ॥ वैराग्यसंन्यासी १ ज्ञानसंन्यासी २ ज्ञानवैराग्यसं-  
न्यासी ३ कर्मसंन्यासी ॥ इति ॥ चतुर्विध्यमुपागतः ॥ तथथेति ।



दृष्ट्वा आनुश्राविकविषयवैतृण्यमेत्य प्राक् पुण्यकर्मविशेषात्  
 संन्यस्तः स वैराग्य संन्यासी ॥ १ ॥ शास्त्रविधिमुपागतः ।  
 शास्त्रज्ञानात् पापपुण्यलोकाऽनुभवश्रवणात् प्रपञ्चोपरतो  
 देहवासनां शास्त्रवासनां लोकवासनां त्यक्त्वा वमनान्नमिव  
 प्रवृत्तिं सर्वं हेयं मत्वा साधन चतुष्टय सम्पन्नो यः संन्यस्य-  
 तिस एव ज्ञानसंन्यासी ॥ २ ॥ क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्व-  
 मनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपाऽनुसन्धानेन देहमात्राऽव-  
 शिष्टः संन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्य संन्यासी  
 ॥ ३ ॥ ब्रह्मचर्यसमाप्य गृहीभूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वै-  
 राग्याऽभावेऽप्याश्रमक्रमानुसारेण यः संन्यस्यति स कर्म-  
 संन्यासी ॥ ४ ॥ स संन्यासः षड्विधो भवति ॥ इत्याह ।  
 कुटीचक बहुदक हंस परमहंस तुरीयाऽतीताऽवधूताश्चेति ॥  
 कुटीचकः ॥ शिखा यज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीन  
 शाटीकन्याधरः पितृमातृ गुर्वाराधनपरः पिठर खनित्र कि-  
 न्यादि मात्रसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्व पुण्ड्रधारी  
 त्रिदण्डः ॥ २ ॥ बहुदकः शिखादिकन्याधर त्रिपुण्ड्रधारी  
 कुटीचकवत् सर्वसमो मधुकरवृत्त्याऽष्टकवलाङ्गी ॥ २ ॥ हं-  
 सो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्व पुण्ड्रधारी असंकुप्त मधुकराक्षराङ्गी  
 कौपीनखण्ड तुण्डधारी ॥ ६ ॥ परमहंसः शिखायज्ञोपवीत-  
 रहितः पञ्चगृहेषु करपात्री एक कौपीनधारी शाटीमोम-  
 मेकं वैणवं दण्डमेक शाटीधरो वा भस्मोद्भूतनपरः सर्वल-  
 गी ॥ ४ ॥ तुरीयातीतो गोमुखवृत्त्या फलाहारी अज्ञाह-  
 रितः गृहत्रये देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणप वच्छरीरवृत्ति-

॥ ५ ॥ अवधूतस्तु अनिमः पतितोऽभिज्ञस्तवर्जनपूर्वकं  
(अभिज्ञस्त इतिकलङ्कित अपवादित)सर्ववर्णेष्व जगरवृत्त्या  
हारपरः स्वरूपानुसन्धानपरः । इति ॥ स्वरूप सन्धानपरः श्लो-  
कमस्ति ॥ ६ ॥

इति चतुर्थोपदेशः । अथ नारदपरिव्राजकोपनिषदि ।  
अथ हैनं पितामहं नारदः पप्रच्छ भगवन् सर्वं कर्म  
निवर्त्तकः संन्यास इति त्वयैवोक्तः पुनः स्वाश्रमाचार परो  
भवेदित्युच्यते ॥ ततः पितामह उवाच ॥ शारीरस्य  
देहिनो जाग्रतस्वप्न सुषुप्ति तुरीयावस्थाः सन्ति तदधीनाः  
कर्मज्ञानवैराग्य प्रवर्त्तकाः पुरुषाजन्तव स्तदनुकूलाचाराः  
सन्ति तथैव चेद्भगवन् संन्यासाः कतिभेदा स्तदनुष्ठा-  
न भेदाः क्रीदृशास्तत्त्वतोऽस्माकं वक्तुमर्हसीति । तथेत्यङ्गी-  
कृत्य तं पितामहेन संन्यासभेदैराचार भेदः कथमिति चेत्त-  
त्त्वतस्त्वेक एवसंन्यासः । अज्ञानेनाशक्तिवशात् कर्मलोप-  
श्च त्रैविध्यमेत्य वैराग्यसंन्यासो ज्ञानसंन्यासो ज्ञानवैराग्य  
संन्यासः कर्मसंन्यासश्चेति चातुर्विध्यमुपागतस्तद्यथेति दु-  
ष्टमदनाभावाच्चेति विषयवैतृष्णमेत्य प्राक्पुण्य कर्मवशात्  
संन्यस्तः सवैराग्यसंन्यासी ॥ १ ॥ शास्त्रज्ञानात् पापपुण्य  
लोकानुभवश्रवणात् प्रपञ्चोपरतः क्रोधेष्यां सूयाहंकाराभि-  
मानात्मक सर्व संसारनिर्वृत्य दारैषणा धनैषणा लोकैषणा  
आत्मकदेहवासनां शास्त्रवासनां लोकवासनां त्यक्त्वा वमना-  
न्मिव प्रकृतीयं सर्वमिदं हेयं मत्वा साधनचतुष्टयसम्पन्नोयः  
संन्यस्यति स एव ज्ञान संन्यासी ॥ २ ॥ क्रमेणसर्वमभ्यस्य



सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानुसन्धानेन देहमात्रा  
 वशिष्टः संन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्यसंन्यासी ॥  
 ॥३॥ ब्रह्मचर्य्यसमाप्य गृहीभूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैरा-  
 ग्याभावेऽप्याश्रमानुसारेण यः संन्यस्यति स कर्मसंन्यासी-  
 ति ॥ ४ ॥ ब्रह्मचर्य्येण संन्यस्य संन्यासाज्ञातरूपधरो वैराग्यसं-  
 न्यासी ॥ १ ॥ विद्वत्संन्यासी ज्ञानसंन्यासी ॥ विविदिषासंन्या-  
 सी कर्मसंन्यासी कर्मसंन्यासोऽपि द्विविधः ॥ निमित्तसंन्या-  
 सोऽनिमित्तसंन्यासश्चेति ॥ निमित्तस्वातुरः अनिमित्तक्रम-  
 संन्यासः ॥ आतुरः सर्वकर्मलोपः प्राणस्योत्क्रमणकाल  
 संन्यासः स निमित्तसंन्यासः ॥ दृढाङ्गोभूत्वा सर्वकृतकं न-  
 श्वरमिति देहादिकं सर्वहेयंप्राप्य हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्ष स-  
 ह्योतावेदिषद तिथिर्दुरोणसत् नृषद्वरसदृश सद्योमसदब्जा  
 गोजाऋतजा अद्रिजाऋतं वृढत् ॥ ब्रह्मव्यतिरिक्तं सर्वं नश्व  
 रमिति निश्चितः क्रमेण यः संन्यस्यति स संन्यासोऽनिमित्त  
 संन्यासः ॥ संन्यासः पद्धिधो भवति ॥ कुटीचको वहूदको  
 हंसः परमहंस तुरीयातीतोऽवधूतश्चेति ॥ कुटीचकः द्विषा  
 यज्ञोपवीती वण्डकमण्डलुधरः कौपीनकन्याधरः पितृम्हा हं-  
 र्व्वाराधनपरः पिठरखनित्र शिष्यादिमन्त्रसाधनपरः आशी  
 ब्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिवण्डः ॥ १ ॥ वहूदः शिखा-  
 शिखादिकन्याधर स्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत् सर्वसमं भा  
 धुकरवृत्त्याष्टकवलाशी ॥ २ ॥ हंसोजटाधारी त्रिपुण्ड्रो  
 पुण्ड्रधारी असंकृतमाधुकरान्नाशी कौपीनखण्ड तुण्डधर  
 ॥ ३ ॥ परमहंसः शिखायज्ञोपवीत रहितः पञ्चगृहेष्वेकरात्रे

अन्नादनपरः करपात्री एककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं  
दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्धूलनपरः सर्वव्यागी ॥ ४ ॥  
तुरीयातीतो गोमुखः फलाहारी अन्नाहारी चेत् गृहत्रयेदेह-  
मात्रावशिष्टोदिगम्बरः कुणपत्रच्छरीरवृत्तिकः ॥ ५ ॥ अवधूत-  
स्त्व नियमोऽभिज्ञस्त पतित वर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्व जग  
रवृत्त्याहारपरः स्वरूपानु सन्धानपरः ॥ ६ ॥ आतुरोजीवति  
चेत् क्रमसंन्यासः कर्तव्यः । कुटीचकवद्दूदकहंसानां ब्रह्मच  
र्याश्रमादि तुरीयाश्रमवत् । कुटीचकादीनां संन्यासविधिः ॥  
परमहंसादि त्रयाणां न कटिसूत्रं न कौपीनं न वस्त्रं न कम-  
ण्डलु न दण्डः सार्ववर्णैक भैक्षादनपरत्वं जातरूपधरत्वं  
विधिः ॥ संन्यासकालेऽप्यलं बुद्धिपर्यन्त मधीत्यतदनन्तरं क-  
टिसूत्रं कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जात-  
रूपधरश्चरेन्न कन्थालेशो नाध्येतव्यो न श्रोतव्यमन्यत् कि-  
ञ्चित् प्रणवादन्यं न तर्कपठेन्न शब्दमपि बृहच्छब्दान्नाध्या-  
येन्न महद्वाचोविग्लापनं गिरापाण्यादिना सम्भाषणान्नान्यभा  
षाविशेषेण न शूद्रस्त्रीपतितोदक्यासम्भाषणं न यत्तेर्देवपूजा  
नुत्सवदर्शनं तीर्थयात्रावृत्तिः ॥ पुनर्यतिविशेषः ॥ कुटीच  
कस्यैकत्रभिक्षा बहूदकस्यासंकृतमाधूकरं हंसस्याष्टगृहेष्व  
ष्टकवलं । परमहंसस्य पञ्चगृहेषु करपात्रं ॥ फलाहारो गोमु-  
खं तुरीयातीतस्य ॥ अवधूतस्याजगरवृत्तिः सार्ववर्णिकेषु ॥  
यतिर्नैकरात्रं वसेन्न कस्यापि नमेत् तुरीयातीतावधूतयोर्नि-  
ज्येष्ठो यो न स्वरूपज्ञः स ज्येष्ठोऽपि कनिष्ठो हस्ताभ्यां नयु  
त्तरणं न कुर्यात् ॥ न वृक्षमारोहेत् न यानादिरुद्धो न क्रय



विक्रयपरो न किञ्चिद्विनिमयपरो न दाम्भिको नानृतवादी  
 न यतेः किञ्चित्कर्तव्यमस्त्य स्ति चेत् साङ्ग्यर्थं ॥ तस्मा-  
 न्मननादौ संन्यासिनामधिकारः ॥ आतुरकुटीचकयोर्भूलोक  
 भुवल्लोकौ बहुदकस्य स्वर्गलोको हंसस्य तपोलोकः परमहं-  
 सस्य सत्यलोक स्तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यं  
 स्वरूपानु संधानेन ध्रमरकीटन्यायवत् । श्लोकः ॥  
 यंयंवापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ॥  
 तन्तमेव समाप्नोति नान्यथा श्रुतिशासनम् ॥

तदेवंज्ञात्वा स्वरूपानुसंधानं विना न्यथाचारपरो न भवेत्  
 तदाचारवशात् तत्तल्लोकप्राप्तिर्ज्ञान वैराग्यसम्पन्नस्य स्वस्मि-  
 न्नैवमुक्तिरिति न सर्वत्राचारप्रसक्तिस्तदाचारः ॥ इति ॥

अथ शास्त्रायनीयोपनिषदि कुटीचकादि परिव्राजका<sup>नां</sup> सं-  
 न्यासं दर्शयति ॥ अथखलुसौम्य कुटीचको बहुदकोहंसः  
 परमहंस इत्येते परिव्राजकाश्चतुर्विधा भवन्ति सर्व्व एतेवि-  
 ष्णुलिङ्गिनः कुटीचकः शिखिनोपवीतिनः शुद्धचित्ताआत्मान  
 मात्मनाब्रह्मभावयन्तः शुद्धचिद्रूपोपासनरता जपयमवन्तो  
 नियमवन्तः सुशीलिनः पुण्यलोकाभवन्ति ॥ तदेतद्वचान्मु-  
 क्तं । कुटीचको बहुदकश्चापिहंसः परमहंसइति वृत्त्या च  
 भिन्नाः ॥ सर्व्व एतेविष्णुलिङ्गं दधानाः ॥ व्यक्त्याव्यक्तं वहि-  
 रन्तश्च नित्यं पञ्चयज्ञादेवशिरःप्रविष्टाः क्रियावन्तोऽमी ब्रह्म  
 विद्यां । त्यक्त्वा वृक्षं वृक्षमूलंश्रिता सः संन्यस्त पुष्पारसमेवा  
 ऽश्नुवानाः ॥ विष्णुकीडा विष्णुरतयो विमुक्ताविष्ण्वात्मका  
 विष्णुमेवापियन्ति ॥ ११ ॥ त्रिसंध्यंशक्तिः स्नानंतर्पणं

मार्जनंतथा ॥ उपस्थानं पञ्चयज्ञान् कुर्यादामरणाऽन्तिकम् १२  
दशभिः प्रणवैः सप्तव्याहृतिभिश्चतुष्पदा ॥

गायत्री जपयज्ञश्च त्रिसंध्यं शिरसा सह ॥ १३ ॥

योगयज्ञः सदैकाग्र्य भक्त्या सेवा हरेर्गुरोः ॥

अहिंसा तु तपोयज्ञो वाङ्मनः कायकर्मभिः ॥ १४ ॥

नानोपनिषदभ्यासः स्वाध्यायो यज्ञ ईरितः ॥

ओमित्यात्मानमव्यग्रो ब्रह्मण्यग्नौ जुहोति तत् ॥ १५ ॥

ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयः सर्वयज्ञो तमोत्तमः ॥

ज्ञानदण्डा ज्ञानशिखा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ॥ १६ ॥

शिखाज्ञानमयी यस्य उपवीतश्च तन्मयम् ॥

ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति वेदानुशासनम् ॥ १७ ॥

॥ इति कुटीचकसंन्यासादि लिङ्गमुक्तं ॥

॥ अथ तुरीयातीता वधूतोपनिषदि प्रमाणमाह ॥

तुरीयातीत संन्यासपरिव्राजाक्ष मालिका ॥

अव्यक्तैकाक्षरं पूर्णा सूर्याक्ष्य ध्यात्मकुण्डिका ॥ २ ॥

अथतुरीयातीतावधूतानां कोऽयं मार्गस्तेषां कास्थिति-  
रिति पितामहो भगवन्तं पितरमादिनारायणं परिसमेत्योवाच  
तमाह भगवन् नारायणो योऽयमवधूतमार्गस्थो लोके दुर्लभ  
तरो न तु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्यपूतः स एव वैरा  
ग्यमूर्तिः स (मुक्ति) एव ज्ञानाकारः स एव वेदपुरुष इति ज्ञा  
निनो मन्यन्ते ॥ महापुरुषो यस्तच्चित्तं मय्येवावतिष्ठते ।  
अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः सोऽयमादौतावत् क्रमेण कुटी



चको बहूदकत्वं प्राप्य बहूदको हंसत्वमवलम्ब्य हंसः परम  
 हंसो भूत्वा स्वरूपानुसन्धानेन सर्वप्रपञ्चं विदित्वा दण्डक-  
 मण्डलु कटिसूत्र कौपीनाच्छादनं स्वविध्युक्त क्रियादिकं स  
 र्वमप्सु संन्यस्य दिगम्बरो भूत्वा विवर्णजीर्ण वल्कलाऽ  
 जिनपरिग्रहमपि सन्त्यज्य तदूर्ध्वममन्त्रवदाचरन् क्षौराऽ  
 भ्यङ्गस्नानोर्ध्व पुण्ड्रादिकं विहाय लौकिक वैदिकमप्युपसंहृत्य  
 सर्वत्र पुण्यापुण्य वर्जितो ज्ञानाज्ञानमपि विहाय ॥ शीतो-  
 ण्ण सुखदुःखमानाऽवमानं निर्जित्य ( निर्भिद्य ) वासनात्रय  
 पूर्वकं निन्दाऽनिन्दागर्वमतसरदम्भदर्पद्वेषकामक्रोधलोभ  
 मोहहर्षामर्षाऽसूयात्म संरक्षणादिकं दग्ध्वा स्ववपुः कुणपाकार  
 मिव पश्यन्नयत्नेनाऽनियमेन लाभालाभौ समौ भूत्वा गोवृत्त्या  
 प्राणसंधारणं कुर्वन् यत् प्राप्तं तेनैव निर्लोलुपः सर्वविद्यापा  
 ण्डित्य प्रपञ्चभस्मी कृत्यस्वरूपं गोपयित्वा ज्येष्ठाऽज्येष्ठत्वाऽ  
 पलापकः सर्वोत्कृष्टत्व सर्वात्मकत्वाऽद्वैतं कल्पयित्वा मतो-  
 व्यतिरिक्तः कश्चिन्नाऽन्योऽस्तीति देवगुह्यादिधन ( दीन्धन )  
 मात्मन्युपसंहृत्य दुःखेन नोद्विग्नः सुखेन नाऽनुमोदको रागे-  
 निःस्पृहः सर्वत्र शुभाशुभयोरनभिस्नेहः सर्वेन्द्रियोपरमः सु  
 ( श्व ) पूर्वापन्नाश्रमाचारं विद्याधर्मं प्रभवमननुस्मर-  
 न्यक्त वर्णाश्रमाचारः सर्वदा दिवानक्त समत्वेनाऽस्वप्नः  
 सर्वदा सञ्चारशीलो देहमात्राऽवशिष्टो जलस्थलकमण्डलुः  
 सर्वदाऽनुमत्तो वालोन्मत्तपिशाचवदेकाकी सञ्चरन्न सम्भा-  
 षणपरः स्वरूपध्यानेन निरालम्बमवलम्ब्य स्वात्मनिष्ठा तु  
 कूलेन सर्वविस्मृत्य तुरीयातीताऽवधूतवेषेणाऽद्वैत निष्ठाप-

प्रणवात्मकरेण देहत्यागं करोति यः सोऽवधूतः स कृतकृत्यो  
भवती त्युपनिषत् ॥ अवधूतोपनिषत् समाप्ता ॥

अथेदानीं परमहंसपरिव्राजकोपनिषदि कुटीचकादि  
संन्यासधर्मनिर्णयमाह ॥ सर्वेषु कालेषुलाभालाभौ समौ  
भूत्वा करपात्र माधूकरेणाऽन्नमशनं मेदोवृद्धिमकुर्वन्कृशी  
भूत्वा ब्रह्माऽहमस्मीति भावयन् गुर्वर्थग्राममुपेत्यऽधुवशी-  
लोऽष्टौमास्येकाकी चरेद् द्वावेवाचरेत् ॥ यदाऽलंबुद्धिर्भवेत्त-  
दा कुटीचको वा वहूदको वा हंसो वा परमहंसो वा तत्त-  
न्मन्त्रपूर्वकं काटिसूत्रं कौपीनं दण्डं कमण्डलुं सर्वमप्सुवि-  
सृज्याऽथ ॥ जातरूपधरश्चरेत् ॥ ग्रामेएकरात्रं तीर्थेत्रिरात्रं  
पत्तनेपञ्चरात्रं क्षेत्रेसप्तरात्रमनिकेत स्थिरमतिरग्नितेजी नि-  
र्विकारो नियमाऽनियममुत्सृज्य प्राणसन्धारणार्थमयमे-  
वलाभालाभौ समौभूत्वा गोवृत्त्या भैक्षमाचरन्नुदकस्थल क-  
मण्डलुरबाधकरहस्यस्थलवासो न पुनर्लाभालाभरतः शु-  
भाशुभकर्म निर्मूलनपरः सर्वत्र भूतलशयनः क्षौरकर्मपरि-  
त्यक्तो युक्त चातुर्मास्यव्रतनियमः शुक्लधनपरायणोऽर्थ स्त्री पु-  
रपरांमुखोऽनुमत्तो ऽप्युन्मत्तवदाचरन्ब्रव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ता-  
चारो दिवानक्त समत्वेनाऽस्वप्नः स्वरूपानुसन्धान ब्रह्मप्रण  
वध्यानमार्गेणाऽवहितः संन्यासेन देहत्यागं करोति स पर-  
महंसपरिव्राजकोभवति ॥ इति ॥

अथ भिक्षुकोपनिषद्यपि प्रमाणमाह ॥ भिक्षूणां पटलं  
यत्रविश्रान्ति मगमत्सदा ॥ तत्रैपदं ब्रह्मतत्त्वं ब्रह्ममात्रं  
करोतु मां अथ भिक्षूणांमोक्षार्थिनां कुटीचक वहूदक हंस पर



महंसाश्चेति चत्वारः कुटीचको नाम गौतम भरद्वाज याज्ञ-  
 वल्क्यवशिष्ठप्रभृतयोऽष्टौग्रासां श्रवन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रा-  
 र्थयन्ते ॥ १ ॥ अथ बहूदकानाम त्रिदण्डकमण्डलु शिखा  
 यज्ञोपवीत काषायवस्त्रधारिणो ब्रह्मर्षिगृहे मधुमांस वर्जयि-  
 त्वाऽष्टौ ग्रासान्भैक्षाचरणं कृत्वा योगमार्गे मोक्षमेवप्रार्थ-  
 यन्ते ॥ २ ॥ अथ हंसानाम ग्रामैकरात्रं नगरेपञ्चरात्रं क्षेत्रे  
 सप्तरात्रं तदुपरि न वसेत्<sup>यु</sup> ॥ गोमूत्रगोमयाहारिणोनित्यं चा-  
 न्द्रायणपरायणा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ ३ ॥ अथ  
 परमहंसानाम संवर्त्तकारुणिश्वेतकेतु जडभरत दत्तात्रेयशुक  
 वामदेव हारीतक प्रभृतयोऽष्टौग्रासां श्रवन्तो योगमार्गे मो-  
 क्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ ४ ॥ वृक्षमूले शून्यगृहे श्मशानवासिनो  
 वा साम्बरा वा दिगम्बरा वा न तेषां धर्माधर्मो लाभालाभौ  
 शुद्धाशुद्धौ द्वैतवर्जिताः समलोप्राश्मकाञ्चनाः सर्ववर्णेषु  
 भैक्षाचरणं कृत्वा सर्वत्रात्मैवेति पश्यन्ति । अथ जातरूपधरा  
 निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः शुक्लध्यानपरायणा आत्मनिष्ठाः प्राण-  
 सन्धारणार्थं यथोक्तकाले भैक्षमाचरन्तः शून्यागार देवगृह  
 तृणकूट बल्मीक वृक्षमूल कुलालशालाऽग्निहोत्रशाला नदीपु-  
 लिन गिरिकन्दर कुहरकोटर निर्झर स्थण्डिले । तत्रब्रह्ममार्गे  
 सम्यक्सम्पन्नाः शुद्धमानसाः परमहंसाचारणेन संन्यासेन  
 देहत्यागं कुर्वन्ति ते परमहंसा नामेत्युपनिषत् ॥ इति भिक्षु-  
 कोपनिषदुक्तं ॥

याज्ञवल्क्यसंहितामिताक्षराव्याख्यामाह ॥ (५६ श्लोके  
 टीका) वैखानसधर्माननुक्रम्य क्रमप्राप्तान् परिव्राजकधः

र्म्मान् साम्प्रतं प्रस्तौति ॥ यावता कालेन तीव्रतपःशोषितव-  
पुषो विषयकषाय परिपाको भवति पुनश्च यदोद्भवाशङ्कानोन्ना-  
व्यते तावत् कालं वनवासं कृत्वा तत् समनन्तरं मोक्षे मनः  
कुर्यात् वनगृहशब्दाभ्यां तत्सम्बन्धाश्रमो लक्ष्यते मोक्षश-  
ब्देन च मोक्षैक फलकश्चतुर्थाश्रमः । अथवा गृहाद् गार्हस्था-  
दनन्तरं मोक्षे ।

याज्ञवल्क्यसंहितायां यतिधर्म्मनिरूपयति ॥

वनाद्गृहाद्वा कृत्वेष्टिं सर्व्ववेद स दाक्षिणाम् ॥  
प्राजापत्यां तदन्तेतानग्नीनारोप्य चात्मनि ॥ १ ॥  
अध्वितवेदो जपकृत् पुत्रवानऽन्नदोऽग्निमान् ॥  
शक्त्या च यज्ञकृन्मोक्षेमनः कुर्यात्तु नान्यथा ॥ २ ॥  
सर्व्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः ॥  
एकारामः परिव्राज्य भिक्षार्थी ग्राममाश्रयेत् ॥ ३ ॥  
अग्रमत्तश्चरेद्भैक्षं सायाह्ने नाभिलक्षितः ॥  
रहिते भिक्षुकैर्ग्रामे यात्रामात्र मलोलुपः ॥ ४ ॥  
यतिपात्राणि मृदेणुदवर्वा लावुमयानि च ॥  
सालिलैः शुद्धिरेतेषां गोवालैश्चावधर्षणात् ॥ ५ ॥  
सन्निरुध्येन्द्रियग्रामं रागद्वेषौ विहाय च ॥  
भयं हत्वा च भूतानाममृती भवति द्विजः ॥ ६ ॥  
कर्त्तव्याशय शुद्धिस्तु भिक्षुकेण विशेषतः ॥  
ज्ञानोत्पत्ति निमित्तत्वात् स्वातन्त्र्य करणाय च ॥ ७ ॥  
अवेक्ष्या गर्भवासाच्च कर्मजा गतयस्तथा ।  
आधयो व्याधयः क्लेशा जरारूप विपर्ययाः ॥ ८ ॥



भवोजाति सहस्रेषु प्रियाप्रिय विपर्ययः ॥

ध्यानयोगेन सम्पश्येत् सूक्ष्मआत्मात्मनिस्थितः ॥ ९ ॥

नाश्रमः कारणधर्मे क्रियमाणो भवेद्विसः ॥

अतो यदात्मनोऽपथ्यं परस्य न तदा चरेत् ॥ १० ॥

सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीःशौचं धीर्धृतिर्दमः ॥

संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सर्व्वउदाहृतः ॥ ११ ॥

इतियाज्ञवल्क्य संहिता यतिधर्मप्रकरणमुक्तम् (टीका)

मनः कुर्यात् अनेन च पुर्व्वोक्तश्चतुराश्रम समुच्चयपक्षः पाक्षिक  
इतिद्योतयति तथा च विकल्पो जावालश्रुतौ श्रुयते । ब्रह्म-  
चर्य्यं परिसमाप्य गृहीभवेत् गृहीभूत्वावनीभवेत् वनीभूत्वा  
प्रव्रजेत् । यदि वैतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा बनावेति  
तथा गार्हस्थ्येतराश्रम बाधश्च गौतमेन दर्शितः एकाश्रम्यं  
स्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्येति एषाश्च समुच्चय  
विकल्पबाधपक्षाणां सर्व्वेषां श्रुतिमूलत्वादिच्छया विकल्पः  
अतोयत् कैश्चित् पण्डितमन्यैरुक्तं स्मार्तत्वान्नेष्टिकादीनां  
गार्हस्थ्येन श्रोतेर्बाधः गार्हस्थ्यानधिकृतान्धक्रीवादि विष-  
यतावेति तत् स्वाध्यायाध्यापन वैधुर्यनिवन्धनमित्युपेक्ष-  
णीयं । किञ्च यथा विष्णुक्रमणाज्य व्रक्षणाद्यक्षमतया  
पङ्गवादीनां श्रोतेष्वनधिकारस्तथा स्मार्तेष्वप्युदकुम्भाहरण  
भिक्षाचर्यादिष्वक्षमत्वात् कथंपङ्गवादिविषयतया नैष्ठि-  
कत्वाद्याश्रमनिर्वाहः अस्मिंश्चाश्रमे ब्राह्मणस्यैवाधिकारः ॥  
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात् ॥ इति ॥  
तथा एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः । इत्युपक्रमो-

पसंहाराभ्यां मनुना ब्राह्मणस्याधिकार प्रतिपादनात् । ब्राह्मणाः  
 प्रव्रजन्तीति श्रुतेश्चाग्रजन्मन एवाधिकारो न द्विजातिमात्र-  
 स्य अन्येतु त्रैवर्णिकाणांप्रकृतत्वात् त्रयाणां वर्णानां वेदमधी-  
 त्यचत्वार आश्रमा इति सूत्रकारवचनाच्च द्विजातिमात्रस्या-  
 धिकारमाह ॥ यदा च वनाद् गृहाद्वाप्रव्रजति तदासर्व्व  
 वेदसदक्षिणांसावर्व्व वेदसीसर्व्वधनसम्बन्धिनी दक्षिणा यस्याः  
 सा तथोक्ता तां प्रजापतिदेवताकामिष्टिकृत्वा तदन्तेतान् वै-  
 तानानग्नीनात्मनि श्रुत्युक्तविधानेन समारोप्य च शब्दादु-  
 दगयने पौर्णमास्यां पुरश्चरणमादौ कृत्वा शुद्धेनकायेनाष्टौ  
 श्राद्धानिनिर्व्वपेत् द्वादशवेति बौधायनाद्युक्तं पुरश्चरणादि-  
 कञ्च कृत्वा तथाधीतवेदो जपपरायणोजात पुत्रादीनाञ्च कृ-  
 पणार्पितार्थो यथाशक्त्यञ्जदश्च भूत्वाऽनाहिताग्निर्ज्येष्ठ  
 त्वादिना प्रतिबन्धाभावेकृताधानोनित्यनैमित्तिकान् यज्ञान्  
 कृत्वा मोक्षे मनः कुर्याच्चतुर्थाश्रमं प्रविशे न्नान्यथा  
 अनेनानपाकृत ऋणत्रयस्य गृहस्थस्य प्रव्रज्यायामनधिकारं  
 दर्शयति यथाह मनुः । ऋणानित्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षे निवे-  
 शयेत् । अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यध इति ॥  
 यदा तु ब्रह्मचर्यात् प्रव्रजति तदा न प्रजोत्पादनादिनियमः  
 अकृतदारपरिग्रहस्य तत्रानधिकारात् रागप्रयुक्तत्वाच्च वि-  
 वाहस्य च ऋणत्रयापाकरणविधिरेव दारानाक्षिपतीति  
 शङ्कनीयं विद्याधनार्जन नियमवदन्य प्रयुक्तदारसम्भवे तस्या  
 नाक्षेपकत्वात् न तु जायमानो ब्राह्मणस्त्रिभि ऋणवान्जायते  
 ब्रह्मचर्य्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजयापितृभ्य इति जात



पुत्रमात्रस्य एव प्रजोत्पादनादीन्यावश्यकानीति दर्शयति ॥  
 मैवं न हि जातमात्र अकृतदाराग्निपरिग्रहो यज्ञादिष्वधिक्रियते  
 तस्मादधिकारी जायमानो ब्राह्मणादि यज्ञादीननुतिष्ठेदिति  
 तस्यार्थः ॥ अतश्चोपनीतस्य वेदाध्ययनमेवावश्यकं कृत  
 दाराग्निपरिग्रहस्य प्रजोत्पादनमपीतिनिरवयं ॥

॥ अथ कुटीचकः पुत्रान्नजीवी गृहस्थवदिति ॥

अतएवंप्रकारेण बहुशिष्यान् ध्यापयन् अष्टमे वर्षे  
 प्राप्ते श्रीमद्गोविन्दयोगेन्द्रस्य सदुपदेशात् परमहंसाश्रमस्वी-  
 कारंकृतवान् ॥ श्रीमच्छङ्कर भगवत्पुज्य पादाचार्यः सर्वज्ञः  
 ननुब्राह्मणानां ब्रह्मचर्याद्याश्रम चतुष्टय मस्ति, तथा च श्रुतिः  
 ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा  
 ऽप्यप्रव्रजेदिति एतै रेवाश्रमैरेव ॥ यथोक्त कर्मानुष्ठितै मुक्ति  
 भवत्येव क्रममन्तरेण ब्रह्मचर्याश्रमात् परमहंसाश्रमस्वी-  
 कारः किमर्थमङ्गीकृतो भगवन्निरिति ॥ तत्रापिकुटीचका-  
 द्याश्रमाण्यतिक्रम्य परमहंसाश्रमस्वीकारश्चेति च प्राप्ते-  
 ब्रूमः । ब्रह्मचर्याद्याश्रमेषु यत्र विराग उत्पन्नस्तदाश्रमा-  
 देव प्रव्रजेन्न तदयुक्तं । यदीतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् । गृहा-  
 द्वावनाद्वा अथ पुनरव्रती वा उत्सन्नाग्निकोवा यदहरेव वि-  
 जेत् तदहरेव प्रव्रजेदिति श्रुतेः । कुटीचकाद्याश्रमाणां पर-  
 महंसाश्रमाधिकारिविषयत्वाभावाद्भगवन्निः पूर्णब्रह्मानुस-  
 न्धानविचक्षणैः । भेदगन्धरहितान्तःकरणैः सर्वज्ञैः परम-  
 हंसाश्रम एवाङ्गीकृत इति निरवयं ॥ इति ॥

अथ कुटीचकादि संन्यासस्य तात्पर्यदीपिका समेतः  
सूतसंहितायां ज्ञानयोगखण्डे षष्ठाध्याये यदुक्तं तद्वर्णयति ॥

अथ वाऽग्नीन् समारोप्य स्वात्मनि ध्यानतत्परः ॥

अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मोक्षपरो भवेत् ॥ १ ॥

सदोपनिषदभ्यासपरो वास्यात् समाहितः ॥

त्रिपुण्ड्रोद्धूलनं कुर्याद्गृहस्थस्योक्तमन्त्रतः ॥ २ ॥

यदा वैराग्य मुत्पन्नं तदैव प्रव्रजेद्वनी ॥

बहूदके वा हंसे वा मुमुक्षुः परमहंसके ॥ ३ ॥

सर्वं संग्रहरूपेण सम्यगुक्तं बृहस्पते ॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्रद्धया विद्धि सुव्रत ॥ ४ ॥

॥ ईश्वरउवाच ॥

अथातः सं प्रवक्ष्यामि संन्यासं मुनिसत्तम ॥

चतुर्विधास्तु विज्ञेया भिक्षवो वृत्तिभेदतः ॥ ५ ॥

कुटीचको मुनिश्रेष्ठ स्तथैवच बहूदकः ॥

हंसः परमहंसश्च तेषांवृत्तिं वदामि ते ॥ ६ ॥

अस्यार्थः ॥ वनस्थप्रसङ्गेनोद्दिष्टमेव कुटीचकादिवृत्तु-

ष्टयं तद्धर्माभिधानाय पुनरनुवदति ॥ अथात इति ॥

॥ अत उक्तमाश्रमत्रयधर्म स्कन्दः ॥

सांसारिकफलविषय एव । श्रूयते हि त्रयोधर्म स्क-  
न्वा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति । प्रथम स्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचर्यं  
चार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसा-  
दयन् सर्व्वएते पुण्यलोका भवन्तीति । अतस्ततो विरक्त-



स्यानन्तरमपुनरावृत्तिरूप ब्रह्मप्राप्तये ज्ञानस्कन्धः संन्यास  
 उच्यते श्रूयते हि ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्त्व मेति ॥ इति ॥ ब्रह्मणि  
 संस्थासम्यङ्निष्ठा यस्य चतुर्थाश्रमिणः स ब्रह्मसंस्थः स एवा-  
 मृतत्वमपवर्गप्राप्नोति । आश्रमान्तराणामपि ब्रह्मसंस्थात्वं  
 संभवं प्राप्यपरिहृतं हि तत्त्वविद्धिः ॥ लोककाम्याश्रमी  
 ब्रह्मनिष्ठामर्हति वा न वा यथावकाशं ब्रह्मैव ज्ञातु मर्हत्यवार-  
 णात् ॥ अनन्यचित्ता ब्रह्मनिष्ठाऽसौ कर्मिणे कथं कर्म-  
 त्यागी ततो ब्रह्मनिष्ठामर्हति नेतरः ॥ इति ॥

विवृतंचैतत्तैरेव त्रयोधर्मस्कन्धा इत्यत्राश्रमानधिकृ-  
 त्य ॥ सर्व्वएते पुण्यलोकाभवन्ति ॥ इति ॥ आश्रमानुष्ठा-  
 यिनां पुण्यलोकमभिधाय ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्त्वमेति । इति  
 मोक्षसाधनत्वेन ब्रह्मनिष्ठा प्रतिपद्यते । सेयंब्रह्मनिष्ठा पुण्य-  
 लोककामिन आश्रमिणोऽपि संभाव्यते ॥

आश्रमकर्मण्यनुष्ठाय यथावकाशं ब्रह्मनिष्ठायाः कर्तुं-  
 सुकरत्वात् । न हि लोककामी ब्रह्म न जानीयादिति निषेधोऽ-  
 स्ति तस्मादस्ति सर्व्वस्याश्रमिणो ब्रह्मनिष्ठेति प्राप्ते ब्रूमः  
 ब्रह्मनिष्ठा नाम सर्व्वव्यापार परित्यागेनानन्यचित्ततया ब्रह्म-  
 णिसमाप्तिः ॥ न चासौकर्मशूरे सम्भवति कर्म्मनुष्ठान-  
 त्यागयोः परस्परविरोधात् तस्मात् कर्म्मत्यागिन एव ब्रह्म  
 निष्ठेति वृत्तिभेदत इति आचारभेदतः ॥ १ ॥ २ ॥ कुटीचक-  
 श्च संन्यस्य स्वेस्वे वेदमनिनित्यशः ॥ भिक्षामादाय भुञ्जीत स्व  
 वन्धूनां गृहेऽथवा ॥ ३ ॥ शिखीयज्ञोपवीतीस्यात् त्रिदण्डी  
 सकमण्डलुः ॥ स पवित्रश्च कापायी गायत्री च जपेत्सदा ॥

॥ ४ ॥ सर्वार्होद्धूलनं कुर्यात् त्रिपुण्ड्रश्च त्रिसन्धिषु ॥  
शिवलिङ्गाच्चर्चनं कुर्याच्छ्रद्धयैव दिनेदिने ॥ ५ ॥

॥ कुटीचकं संन्यासलिङ्गधारणमुक्तम् ॥

बह्वदकश्च संन्यस्य वन्धुपुत्रादि वर्जितः ॥  
सप्तागारं चरद्भैक्ष्यमेकान्नं परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥  
गोवालरज्जुसंवद्धं त्रिदण्डं शिष्यमद्भुतम् ॥  
पात्रं जलपवित्रश्च कौपीनश्च कमण्डलुम् ॥ ७ ॥  
आच्छादनं तथा कन्थापादुकां छत्रमद्भुतम् ॥  
पवित्रं मजिनं सूचीं पक्षिणीं मक्षसूत्रकम् ॥ ८ ॥  
योगपटं वहिर्वस्त्रं मृत्खणित्रीं कृपाणिकाम् ॥  
सर्वार्होद्धूलनं तद्वत् त्रिपुण्ड्रं चैव धारयेत् ॥ ९ ॥  
अस्यार्थः । मृत्खन्यते यया स्नानाद्यर्थं तां कृपाणिकांकृपा-  
णाकारं तीक्ष्णलौहं घटितां यष्टिं ॥  
शिखीं यज्ञोपवीतीं च देवताराधने रतः ॥  
स्वाध्यायी सर्वदा वाचमुत्सृजेत् स्थानतत्परः ॥  
सन्ध्याकालेषु सावित्रीजपन् कर्म समाचरेत् ॥ १० ॥  
इति बह्वदकश्च लक्षणमुक्तम् ॥ हंसलक्षणमाह ॥  
हंसः कमण्डलुं शिष्यभिक्षापात्रं तथैव च ॥  
कन्थांकौपीनं माच्छाद्य मङ्गवस्त्रं वहिः पटं ॥  
एकन्तु वैणवं दण्डधारये त्रितयमावरात् ॥ ११ ॥  
त्रिपुण्ड्रोद्धूलनं कुर्याच्छिवलिङ्गं समर्चयेत् ॥  
अष्टग्रासं सरुन्नित्यं मश्नीयात् सशिखं भवेत् ॥  
सन्ध्याकालेषु सावित्रीजपमध्यात्मचिन्तनम् ॥ १२ ॥



तीर्थसेवां तथारुच्छं तथा चान्द्रायणादिकम् ॥ १४ ॥

कुर्वन्ग्रामैकरात्रेण न्यायेनैव समाचरेत् ॥

॥ परमहंस लक्षणमाह ॥

परहंस स्त्रिदण्डश्च रज्जुंगोवालनिर्मितम् ॥

शिक्यंजलपवित्रश्च पवित्रश्च कमण्डलुम् ॥

पक्षिणीमजिनं सूचीं मृत्खनित्रीं कृपाणिकाम् ॥

शिखांयज्ञोपवीतश्च नित्यकर्म परित्यजेत् ॥

कौपीनाच्छादनं वस्त्रं कन्था शीतनिवारिकां ॥

योगपट्टं वह्निर्वस्त्रं पादुकाञ्छत्रमद्भुतम् ॥

अक्षमालाश्च गृहीयाद्वैणवं दण्डमत्रणम् ॥

अग्नित्यादिभिर्मन्त्रैः कुर्यादुद्धलनं मुदा ॥

ओं ओमिति च त्रिः प्रोच्य परहंस स्त्रिपुण्ड्रकम् ॥

मृत्पात्रं कांस्यपात्रं वा दारुपात्रं च वैणवम् ॥

पाणिपात्रश्च गृहीयादाचम्यैव तथोदरम् ॥ २० ॥

अस्यार्थः । हेयोपादेय विभवविवक्षया प्रथमं साधारणे न संभवेत् पात्रजातमुद्दिशति ॥ मृत्पात्रमिति ॥ एतच्चा-  
लावु पात्रस्याप्युपलक्षणं ॥ मृत्पात्रमलावुपात्रं दारुपात्रं  
वा इत्यारुणिश्रुतेः । उद्दिष्टमध्य उपादेयमाह दारुपात्रमिति-  
एतच्चकांस्य व्यतिरिक्तस्योपलक्षणम् ॥ उपादेयमन्यदपि  
समुच्चिनोति तथोदरमिति ॥ २० ॥ बहूदकानां हंसानां पा-  
णिपात्रं तथोदरम् ॥ कांस्यपात्रं न त्रिष्युक्त मृत्पात्रमिति हि-  
श्रुतिः ॥ २१ ॥ मायुकरमथैकान्नं परहंसः समाचरेत् ॥  
नात्यश्नतस्तुयोगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ॥ तस्माद्योगा

नुगुण्येन भुञ्जीत परहंसकः ॥ अभिशस्तं समुत्सृज्य सार्ववा-  
र्णिक माचरेत् ॥ २३ ॥ उत्तरोत्तरलाभेतु पूर्वं पूर्वं परित्यजेत् ।  
गुरुशुश्रूषया नित्यमात्मज्ञानं समभ्यसेत् ॥

अस्यार्थः । एतच्च न केवलं परमहंसाना मेवेत्याह ॥  
बहूदकानामिति ॥ पात्रान्तरमपि समुच्चिनोति पाणि  
पात्रमिति यथोदरं तथापाणि पात्रश्चेत्यर्थः ॥ तथाचारुणिश्रुतिः  
पाणिपात्र मुदरपात्रञ्च इतिउपादेय मभिधाय हेयमाह कांस्य  
पात्रं नेतिमृत्पात्रमिति हिश्रुतिरिति यथोदीरितारुणि श्रुतेः ॥  
स्नानं शौचमभिध्यानं सत्यानृत विवर्जनम् ॥

कामक्रोध परित्यागं ईर्षारोष विवर्जनम् ॥ २५ ॥

अस्यार्थः । सत्यानृत विवर्जनमिति । असत्यवत् सत्यम-  
पिठ्यवहारं शक्यं विवर्जयेत् चित्तैकाग्र्यविरोधादित्यर्थः ॥  
श्रूयते हि तमेवैकं जानथ आत्मानमन्यावाचो विमुञ्चथ ॥  
इति स्मर्यते च ॥

त्यजधर्ममधर्मञ्च उभेसत्यानृते त्यजइति ॥ २६ ॥

लोभमोह परित्यागं दम्भदर्पादि वर्जनम् ॥

चातुर्मास्यञ्च सर्वेषां वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ २७ ॥

कुटीचकाश्च हंसाश्च तथैव च बहूदकाः ॥

सावित्रीमात्रसम्पन्ना भवेयुर्मोक्षकारणात् ॥ २८ ॥

प्रणवाद्या स्त्रयोवेदाः प्रणवेपर्य्यवास्थिताः ॥

तस्मात् प्रणवमेवैकं परहंसः सदाजपेत् ॥ २९ ॥

अस्यार्थः । परमहंसस्य प्रणवैकनिष्ठतां विवक्षुः प्रणवस्यो-  
त्कृष्टतामाह प्रणवाद्याइति ओंइतित्राहणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मो



पाप्मवानीतिब्रह्मैवोपाप्नोति इति श्रुतेः प्रणवेपथ्यवस्थिता इति  
 प्रणवस्य वेदत्रयसारत्वात्तत् प्रतिनिधित्वं तथा त्वं च श्रूयते  
 छान्दोग्योपनिषदि बहुचब्राह्मणे च लोकदेव वेदव्याहृत्य-  
 क्षरत्रय सरत्वं प्रणवस्य तैत्तिरीयोपनिषदि च ब्रह्मयज्ञप्रकरणे  
 ओमितिप्रपद्यते एतद्वै यजुस्त्रयीं विद्यां प्रतीति ॥

सन्ध्याकालेषु शुद्धात्मा प्रणवेन समाहितः ॥

षट्प्राणायामकं कुर्याज्जपेदष्टोत्तरं शतम् ॥ २९ ॥

विविक्तदेश माश्रित्य सुखासीनः समाहितः ॥

यथाशक्ति समाधिस्थो भवेत् संन्यासिनां वरः ॥ ३० ॥

क्रमाद्वाऽक्रमतो विद्वानुत्तमां वृत्तिमाश्रयेत् ॥

उत्तमा वृत्तिमापन्नो न नीचां वृत्ति माश्रयेत् ॥

अस्यार्थः । क्रमादिति ब्रह्मचर्य्यसमाप्य गृहीभवेत् गृहा-  
 द्वनीभूत्वा प्रव्रजेत् । इति जावालश्रुतिः अक्रमतो वा इति  
 यदिवेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा इति ॥ ३१ ॥  
 उत्तमां वृत्तिमाश्रित्य नीचांवृत्तिसमाश्रितः । आरूढपतितो ज्ञेयः  
 सर्व्वधर्मं वहिष्कृतः ॥ ३२ ॥ प्रव्रजन्तं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाच्च-  
 लतिभास्करः ॥ एष मे मण्डलं भित्त्वा ब्रह्मलोकं गमिष्यति ॥  
 ॥ ३३ ॥ रूपन्तु द्विविधं प्रोक्तं चरं वा चरमेव च ॥ चरं संन्यासी  
 नारूप मचरं मृन्मयादिकम् ॥ ३४ ॥ यस्याश्रमे यतिर्नित्यं  
 वर्त्तते मुनिसत्तम । न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते  
 दुर्वृत्तो वा सुवृत्तो वा मूर्खो वा पण्डितोऽपि वा ॥  
 वेशमात्रेण संन्यासी पूज्यः सर्व्वेश्वरो यथा ॥ ३५ ॥  
 ब्रह्मचर्य्याश्रमस्थानां ब्रह्मादेवः प्रकीर्त्तितः ॥

गृहस्थानां च सर्वेषु र्यतीनान्तु महेश्वरः ॥ ३७ ॥  
 वानप्रस्थाश्रम स्थानामादित्यो देवतामता ॥  
 तस्मात् सर्वेषु कालेषु पूज्यः संन्यासिनां वरः ॥ ३८ ॥  
 मृते न दहनं कार्यं परहंसस्य सर्वदा ।  
 कर्त्तव्यं खननं तस्य नाशौचं नोदकक्रिया ॥ ३९ ॥  
 अश्वत्थस्थापनं कार्यं तद्देशेऽश्वत्थ्युणा मुने  
 अश्वत्थे स्थापिते तेन स्थापितो हि महेश्वरः ॥ ४० ॥  
 दर्शनात् स्पर्शनात्तस्य सर्वं नश्यति पातकम् ॥  
 अन्येषामपि भिक्षूणां खननं पूर्वमाचरेत् ॥ ४१ ॥  
 पश्चाद् गृही यथा शास्त्रं कुर्याद्दहनमुत्तमम् ॥  
 अश्वमेधफलं तस्य स्नानमात्रादिशुद्धता ॥ ४२ ॥  
 सर्वमुक्तं समासेन तव शिष्यस्य धीमतः ॥  
 तस्मादेतद्विजानीहि वेदान्तार्थं प्रकाशनम् ॥ ४३ ॥  
 इति श्रीसूतसहितायां ज्ञानयोगखण्डे संन्यास विधिनिरूपणं  
 नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ अग्नि पुराणे ५१ अध्याये कुटीचकादि  
 संन्यासधर्म माह ॥  
 धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥  
 द्वी विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ १ ॥  
 चतुर्विधं भैक्षवस्तु कुटीचकबहूदके ॥  
 हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात् स उत्तमः ॥ २ ॥  
 एक दण्डी त्रिदण्डी च योगी मुच्येत बन्धनात् ।  
 अहिंसा सत्य मस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ॥ इति ॥ ३ ॥  
 आत्मपुराणे दशमाऽध्याये १० कुटीचकादि संन्यास निरूपणं  
 दर्शयति ॥



पुरुषो मोक्षनामाय ममृतत्वं प्रकीर्तितं ।

त्यागेनैनं पुराकेचित् प्राप्तात्मस्वरूपतः ॥ १ ॥

स्वर्गादपि समुत्कृष्ट मानन्दात्मान मीश्वरम् ।

स्वप्रकाशं समायान्ति यतयो गुरुवाक्यतः ॥ २ ॥

वर्णिनांहि सहस्रेषु भाग्यवन्तो नरोत्तमाः ।

न हितं स्वात्मनो बुद्धौ तादात्म्य<sup>तम्य</sup> भेदवर्जिताः ॥ ३ ॥

सत्यं तपो दमः शान्तिर्दानं धर्मः प्रजातयः ॥

आहिताग्निहोत्रश्च यज्ञामानस मेवच ॥ ४ ॥

एकादशात्र संस्तुत्य न्यासः श्रूत्या विधीयते ।

सर्वं वर्णाश्रमाणां स्यात् स्वधर्मःसाधनं परम् ॥ ५ ॥

अर्थकामे च मोक्षे च तेषामपि च साधने ।

सत्यं तपो दया दानं चतुष्पद्ध<sup>व्याधर्म</sup> ईरितः ॥ ६ ॥

सर्वोपरि सदासेव्यो जन्मतो मरणावधि ।

शीतवातातपादीनां सहनं क्षुत्पिपासयोः ।

संकल्पात्तद्धिविज्ञेयं तपोऽत्रात्रादि वर्जितम् ॥ ७ ॥

दया दान्त्या च शान्त्याच न विनात्र प्रजायते ।

यतो दमः शमश्चेति द्वयं साधन मीरितम् ॥ ८ ॥

अस्मिन्पक्षे वयः स्यादिर्नापेक्ष्य केनचित् क्वचित् ॥

किन्तु संन्यास एवैकः शान्त्यादि गुणसंयुतः ॥ ९ ॥

विवेकिनो विरक्तस्य मुमुक्षोरप्यपेक्ष्यते ॥

इदं ततोधिकं सर्वसाधनेषु प्रकीर्तितम् ॥ १० ॥

मानसं सर्वभूतानां स्वर्गं मोक्षञ्च गच्छताम् ॥

लिङ्गधारण रूपोऽयं त्यागो ब्राह्मणजन्मनः ॥ ११ ॥

अलिङ्गः क्षत्रियादेः स्यात् सम एवात्र धर्मतः ॥

आद्यश्चतुर्विधः प्रोक्तो मुनिभिर्वेदवादिभिः ॥

त्रिदण्डो द्विविध स्तद्वदेक दण्डोऽपि तादृशः ॥ १२ ॥

अथ संन्यासस्य द्वादश साधनस्योत्कर्षं यथा श्रुतिवर्णयिष्यं  
स्तद्भेदान् स्मृतिप्रसिद्धां स्तावदाह ॥ लिङ्गधारणेति त्रयोद-  
शभिः । संन्यासस्तावद्विविधः दण्डादिलिङ्गधारणसहित  
स्तद्रहितश्च । तत्राद्ये विप्रस्यैवाधिकारोऽन्यत्र क्षत्रियादिना-  
मित्यर्थः ॥

आद्येति आद्योलिङ्गधारणरूपस्तद्विविधः त्रिदण्ड एकदण्ड-  
श्चेति तत्र त्रिदण्डस्य भेदौ कुटीचक बहूदकौ एकदण्डस्य हंस  
परमहंसाख्याविति द्वयोरर्थ इत्यर्थः आत्मपुराणे १० अध्याये ॥

कुटीचको बहूदश्च द्वौ त्रिदण्डौ प्रकीर्तितौ ॥

हंसः परमहंसश्च द्वावुक्तावेकदण्डिनौ ॥ १ ॥

पुत्री गृहीथनी तद्वद्भार्यया च विवर्जितः ॥

जरसा व्याधिना चैव ग्रस्तः स्निग्धः सुतादिषु ॥ २ ॥

भिक्षया भोजने तद्वदशक्तो मृदुलः पुमान् ॥

त्रिदण्डं धारयेदेष गृहे कृत्वा कुटीं सदा ॥ ३ ॥

पुत्रदत्ताशनो नित्यं सधर्मपरिपालकः ॥

कुटीचको भवेद्भिक्षुः प्रणवादिजपे रतः ॥ ४ ॥

विदारो यः पुनर्दीरान्नं संपादयितुमक्षमः ॥

ब्रह्मचर्यं रतः कर्मश्रद्धावांश्च जरादिना ॥ ५ ॥

पुत्रादिषु गतस्नेहो वृद्धभाग्योऽथवा स्वयम् ॥

त्रिदण्डं परिगृह्यैव भवेद्दिप्रो बहूदकः ॥ ६ ॥



कमण्डलुं त्रिदण्डश्च शिष्यपात्रं पवित्रकम् ॥

दधानः पञ्चमात्रा स्ताः कीटवत् पर्य्यटेयतिः ॥ ७ ॥

यतिधर्मानशेषांस्ताननुतिष्ठेत् सदैव सः ॥

वैराग्यं परमं प्राप्तो य ईषत् कर्मवासनः ॥ ८ ॥

यज्ञोपवीती विशिखः सामगोत्र यथा वटुः ॥

एक दण्डधरो नित्यं कीटवत् पर्य्यटन् महीम् ॥ ९ ॥

प्रणत्रादि जपे युक्तो भवेद्धंसो याति स्वयम् ॥

वैराग्यं परमं प्राप्त इहामुत्र सुखे यदा ॥ १० ॥

आनन्दात्मानमेवैकं संप्रेप्सु हृदये स्थितम् ।

कर्मसंस्कारशून्यो यः सभवेत् परमः सदा ।

हंसोविधृत्य करत एकदण्डं हि वैणवम् ॥ ११ ॥

एवं चतुर्विधः प्रोक्तश्चतुर्थाश्रमवासिनाम् ।

न्यास इचतुर्थस्तत्रापि सर्वोत्कृष्ट उदाहृतः ॥ १२ ॥

(अस्यार्थः ॥ तत्र कुटीचकस्याधिकारिणं धर्माश्च दर्शयति ॥

पुत्रीति त्रिभिः ॥ स्निग्धः स्नेहवान् मृदुलः क्लेशासहिष्णुः  
स्फुटमन्यत् ॥

पुत्र दत्तेति पुत्रेण दत्त मदान मन्नादिकं यस्मै स तथा  
बहूदकाधिकारिणमाह । विदार इति द्वाभ्यां यो मृतदारः पुन  
स्तत्संपादने ऽक्षमो ऽनुत्सुकः कर्मसु सन्ध्योपासना—  
दिषु श्रद्धावान् जरया पुत्रादिषु स्नेहहीनो बृद्धदारो वा  
भवेत् स बहूदको भवेदिति द्वयोरर्थः । तद्धर्मा नाह ।  
कमण्डलुमिति शिष्यं । भिक्षात्रधारणार्थपात्रं भोजनार्थं  
पवित्रकं जलशोधनवस्त्रं वस्त्रपूतं जलं पिबेदिति वचः

नात् एताः पञ्चमात्रा उपकरणानि दधानः कीटवन्मन्दं मन्दं  
 भूमिं पर्यट्टेदन्यांश्च यतिधर्मं धर्मान् कुर्यादित्यर्थः॥मात्रा  
 परिच्छेदे इति हैमः ॥ हंस संन्यासस्य तानाह ॥ वैराग्यमिति ।  
 यः परम वैराग्यवानऽपि कर्मसु किञ्चित् श्रद्धावान् भवति  
 स हंसो यतिर्भवेत् कीदृशः सामवेदाध्यायि ब्रह्मचारिवादि-  
 शिखो यज्ञोपवीतो च स्फुटमन्यत् परमहंसस्य तानाह ।  
 वैराग्यमिति । प्रेप्सुः साक्षाक्षाच्चिकीर्षुः कर्म वासनाहीनश्च  
 यः सकरेणदण्डं वैणवं धृत्वा परमहंसो भवेदिति द्वयोरर्थः ।  
 एषु चरमोऽतिश्रेष्ठं इत्याह । एवमिति स्पष्टं ॥  
 आत्मपुराणे परस्परं श्रेष्ठत्वं दर्शयति ।  
 भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।  
 चतुष्पादो बुद्धिमतां चतुष्पात्स्वपि गो गणः ॥ १ ॥  
 उत्तमा गो गणेभ्यश्च द्विपदाः सर्व्व जन्तवः  
 द्विपत्स्वपि तथाप्रोक्ताः शूद्रावर्णसमाश्रमाः ॥ २ ॥  
 गूद्रेभ्यश्च तथावैश्या वैश्यभ्यः क्षत्रवर्णिनः ॥  
 क्षत्रियेभ्य स्तथा श्रेष्ठाब्राह्मणा जन्मना हि ये ॥ ३ ॥  
 ब्राह्मणैश्च समादेवा अग्न्यायाः परिकीर्त्तिताः ॥  
 ब्राह्मणेष्वपि विद्वांसो वेदवेदार्थ वेदिनः ॥ ४ ॥  
 विद्वत्स्वपि तथैव स्यु रुत्तमा निश्चिता हि ये ॥  
 शास्त्रार्थे संशयंहित्वावर्त्तन्ते निद्रचला इव ॥ ५ ॥  
 निद्रिचतेष्वपि विज्ञेयाउत्तमा येऽत्रकर्मिणः ॥  
 आश्रमाणां विभेदेन चतुर्धा ये प्रकीर्त्तिताः ॥ ६ ॥  
 वटुभ्योऽत्र गृहीज्ञेय उत्तमो गृहिणोऽपिच ॥



वनी ततो यति सोऽयं चतुर्थः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

कुटीचको बहुदश्च हंसः परमहंसकः ॥

चतुर्विधो यतिः प्रोक्तो योऽयः पश्चात् स उत्तमः ॥ ८ ॥

चतुर्याः परमहंसा वेदेब्रह्मविदः स्मृताः ॥

ब्रह्मनिष्ठा यतस्तेषां न्यास्यः सदात्म वेदने ॥ ९ ॥

त्वं पदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम् ॥

प्रकुर्वाणः पतत्येष तं त्यक्त्वाकर्ममोहतः ॥

कुर्वाणश्च परब्रह्म भवत्येवं न संशयः ॥ १० ॥

न्यासे ब्रह्मात्मके सर्वजगतो हेतुनां द्विजाः ॥

विवक्ष्व इमां प्राहु र्युक्तिं वेद समीरितां ॥ ११ ॥

न्यासाद्ब्रह्मात्मविज्ञानं विदुषां जायते यतः ॥

ततो न्यासः परंब्रह्म कारणं हेतु वर्जितम् ॥ १२ ॥

इत्यात्मपुराणे कुटीचकादि संन्यासस्योक्तम् ॥

अथेदानीं सूतसंहितायां तात्पर्यदीपिकासमेता यज्ञवै-  
भवखण्डे द्वितीयाऽध्याये कुटीचकादि संन्यासस्य विधिनि-  
र्णयं दर्शयति ॥

अधिष्ठानस्य नाशो न सत्यत्वादेव सर्वदा ॥

सर्वाधिष्ठान मीशानं पश्येन्नेव विमुच्यते ॥ १ ॥

ईशान विषयज्ञानं वेदान्तश्रवणादिना ॥

जायते परहंसस्य यत्तेर्मुख्याधिकारिणः ॥ २ ॥

नाश्रमान्तरनिष्ठस्य क्रमात्तस्या पि जायते ॥

ब्रह्मलोक मवाप्नोति वनस्थो नैष्ठिकोऽपि च ॥ ३ ॥

गृहस्थः पितृलोकञ्च शिवज्ञानन्तु भिक्षुकः ॥

तत्रापि प्रथमो भिक्षुर्ज्ञानेच्छादयो बाधकात् ॥ ४ ॥  
 महापापाद यत्नेन मुच्यते मुनिपुङ्गवाः  
 द्वितीयः शान्ति दान्त्यादि ज्ञानाङ्गेच्छामवाप्नुयात् ॥ ५ ॥  
 तृतीयोऽखिल वेदान्त श्रवणेच्छा मवाप्नुयात् ॥  
 चतुर्थो ज्ञान माप्नोति वेदान्त श्रवणेन तु ॥ ६ ॥  
 स एव कर्मसंन्यासी परहंससमाश्रयः ॥  
 अन्ये काम्यपरित्यागाद्भिक्षुका इतिकीर्तिताः ॥ ७ ॥  
 परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ॥  
 बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥ ८ ॥  
 शाब्दं ब्रह्मात्म विज्ञानमपरोक्षं महत्तरम् ॥  
 संसारनाशकं प्रोक्तं तमसश्चण्डभानुवत् ॥ ९ ॥  
 अतो विज्ञानलाभाय परहंसो भवेद्द्विजः  
 कुटीचकाश्च हंसाश्च तथाऽन्ये च बहूदकाः ॥ १० ॥  
 ये भाविष्यन्ति ते कुर्युः प्राजापत्येष्टि संज्ञिताम् ॥  
 आग्नेयेष्टिं द्विजाः कुर्युः परहंसाभिलाषिणः ॥ ११ ॥  
 पश्चात् त्रैधावतीं कुर्युः सर्वैः संयतमानसाः ॥  
 येऽनाहिताग्नयो विप्रस्तेषां नेष्टिर्विधीयते ॥  
 स्वंस्व मग्नौ तु होमन्ते कुर्युः श्राद्धधुरः सरम् ॥ १२ ॥  
 विरजाख्यैर्महामन्त्रै राज्ञेन चरुणापि च ॥  
 हुतशेषं चरुसाज्यं प्राश्याचम्यैव सर्पिषा ॥ १३ ॥  
 पूर्णाहुतिपुनः कुर्युः प्रणवेनाग्निजायया ॥  
 सहार्ग्नि पुनराग्राय अयं ते योनि ऋत्विजः ॥ १४ ॥  
 इति मन्त्रेण कुर्यु स्ते प्रैषोच्चारण मादरात् ॥



संन्यासाध्वर्युणादत्तं दण्डं काषाय मेवच ॥ १५ ॥  
 परिगृह्य गुरोः पादं प्रणम्य श्रद्धयासह ॥  
 वेदान्तश्रवणं कुर्युर्ज्ञानार्थं भिक्षुकोत्तमाः ॥ १६ ॥  
 काम्य कर्मफले दोषं विदित्वा प्रतिषिद्धवत् ॥  
 काम्यकर्मत्यजं स्तुल्यो भिक्षुणा फलतो भवेत् ॥ १७ ॥  
 न सन्ति जप्या मन्त्राश्च परहंसस्य सर्वदा ॥  
 त्रयीसारमिममन्त्रं जपेन्नित्यं समाहितः ॥ १८ ॥  
 प्रणवाद्यपरं जप्ता कदामुक्तो भविष्यति ॥  
 ओंकारः सर्वमन्त्राणां मुत्तमः परिकीर्तितः ॥ १९ ॥  
 ओंकारेण प्लवेनैव संसारार्धं तरिष्यति ॥ २० ॥  
 उमार्धविग्रहो देवो रुद्रः सत्यादि लक्षणः ॥ २० ॥  
 संसारतारकस्यास्य प्रणवस्यार्थं उच्यते ॥  
 विष्णादयोऽपि देवाश्च रुद्रस्यास्यान्वये नतु ॥ २१ ॥  
 कथञ्चित् प्रणवस्यार्था भविष्यन्ति न मुख्यतः ॥  
 यतिभिर्ज्ञान सिद्ध्यर्थं मविमुक्तं महत्तरम् ॥ २२ ॥  
 स्थानं संसेवनीयं स्याच्चिन्तनीयं तथैवच ॥  
 अविमुक्ते महादेव साक्षाद्विश्वेश्वरप्रभुः ॥ २३ ॥  
 उपास्यमानः सुप्रीतो ज्ञानं साक्षात् प्रयच्छति ॥  
 अविमुक्ते महादेवमनुपास्य विमुक्तये ॥ २४ ॥  
 नरः किञ्चिद्विषं भुक्त्वा क्षुन्नवृत्तिं करिष्यति ॥  
 तस्मान्मुमुक्षुर्भिक्त्वा ज्ञानार्थं मविमुक्तकम् ॥ २५ ॥  
 अधिभूते तथाध्यात्मे सेवनीयं तथैवच ॥  
 चिन्तनीयो महादेव स्तत्रोपास्यो न संशयः ।

गृहस्थैश्च वनस्थैश्च तथा वै ब्रह्मचारिभिः ॥ २६ ॥

इति सूतसंहितायां यज्ञवैभवखण्डे २१ एक  
विंशाऽध्याये ।

चित्तं पाकानु गुण्येन प्रव्रज्यां कुरुते पुनः ॥  
तत्र मुमुक्षुः संन्यासी प्रेरितः परमेश्वरात् ॥ १९ ॥  
कुटीचकाभिधां वृत्तिं वृत्तिं वाथ बहूदकाम् ॥  
हंस वृत्तिन्तु वा नित्यं वाञ्छते मुनि सत्तमाः ॥ २० ॥  
मुमुक्षु भिक्षुको नित्यं परहंसाभिधां शुभाम् ॥  
वृत्तिं मिच्छति देवेश प्रसादेन द्विजोत्तमाः ॥ २१ ॥  
कुटीचकादि वृत्तिस्थो मुक्तिं मिच्छति चेद्द्विजाः ॥  
परहंसाभिधां वृत्तिं प्राप्नुयाच्छङ्कराज्ञया ॥ २२ ॥  
सर्व्वेषामेव भिक्षूणां ज्ञान्तिं दान्तिं स्तितिक्षुता ॥  
स्नानं शौचं महिंसाच मिथ्या भाषणं वर्जनम् ॥ २६ ॥  
अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्भस्मनोद्धूलनं तथा ॥  
त्रिपुण्ड्रधारणं साक्षाद्ब्रह्म विष्णु शिवात्मकम् ॥ २७ ॥  
लिङ्गे शिवार्चनं नित्यं धर्मः प्रोक्तः सनातनैः ॥  
साक्षाद्देदान्तवाक्यानां श्रवणं मननं तथा ॥ २८ ॥  
निदिध्यासनं माचार्यपरिचर्यं प्रियेणतु ॥  
परहंसस्य धर्मोऽयं विशेषेण समीरितः ॥ २९ ॥  
पूर्व्वपुण्यवलात्साक्षात् प्रसादाच्च शिवस्य तु ॥  
ब्रह्मात्मविषयं ज्ञानं लभते भिक्षुकोऽचिरात् ॥ ३० ॥  
ज्ञानाद्देदान्तवाक्यार्थान् मुक्तिं भिक्षुरवाप्नुयात् ॥



विना ज्ञानेन मुक्तिस्तु न सिध्यति न सिध्यति ॥ ३१ ॥  
 मुक्तिसाधन मारव्यातं संग्रहेण मुनीश्वराः ॥  
 ज्ञाने यूयमपिश्रद्धां कुरुध्वं यत्नतः सदा ॥ ३२ ॥  
 सूतउवाच ॥ इत्युक्त्वा भगवान् रुद्रः साक्षात् संसारमोचकः ॥  
 आगमान्तैकसंवेद्य स्तत्रैवान्तर्हितोऽभवेत् ॥ ३३ ॥  
 भवन्तोऽपि प्रसादेन शिवस्य परमात्मनः ॥  
 मत्तोलब्धपरिज्ञाना अभवन्न चिरेण तु ॥ ३४ ॥  
 वर्णाश्रमसमाचारं विना कैवल्य मिच्छतः ॥  
 नास्ति कैवल्य संसिद्धिः सत्यं सत्यं न संशयः ॥ ३५ ॥  
 विष्णुप्रजापतीन्द्रेभ्यः शिवस्याधिक्यमादरात् ॥  
 अविज्ञाय न संसारान् मुच्यते जन्मकोटिभिः ॥ ३६ ॥  
 प्रत्यग् ब्रह्मैकताज्ञानं विना कैवल्यमिच्छताम् ॥  
 नास्तिकैवल्यमित्येषा शाश्वती श्रुतिराह हि ॥ ३७ ॥  
 भगवानपि सर्वज्ञः शिवः कारुणिकोत्तमः ॥  
 विना वेदान्तविज्ञानं न मुक्तिरिति चाह हि ॥ ३८ ॥  
 विष्णुप्रजापतीन्द्रादिदेवताश्च तथैव च ॥  
 विना ज्ञानं न कैवल्यमित्याहुर्वेदवित्तमाः ॥ ३९ ॥  
 मुनयश्च महात्मनः सत्यसन्धा जितेन्द्रियाः ॥  
 विना ज्ञानं न कैवल्य मित्याहुर्वेद वित्तमाः ॥ ४० ॥  
 अथ किं वहुनोक्तेन मुनीन्द्रावेदवित्तमाः ॥  
 मुक्तिसाधनविज्ञानं वेदा देव न चान्यतः ॥ ४१ ॥  
 वेदमार्गजनितन्तु वेदनं दोषहीनं सतिशोभनंसदा ॥  
 अन्यमार्गं जनितं विचारतो वेदमार्गं रुचिकारणं क्रमात् ॥ ४२ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे  
मुक्तिसाधनविचारोनामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

॥ सूतसंहितायां ४२ अध्याये ॥

संन्यासश्चापि पापानां प्रायश्चित्तं प्रकीर्तितम् ॥

पापिष्ठानामयोग्यानां योग्यानां मुक्तिसाधनम् ॥ १ ॥

चतुर्विधस्तु संन्यासो वृत्तिभेदेन सत्तमाः ॥

एकःकुटीचकः प्रोक्तस्तथाऽन्यश्च बहूदकः ॥ २ ॥

हंसश्चान्य स्तथैवान्यः परहंससमाश्रयः ॥

कुटीचकादपि श्रेष्ठोभिक्षुकश्च बहूदकः ॥ ३ ॥

हंसोबहूदकाच्छ्रेष्ठः परहंसस्ततः परः ॥

परहंसादपि श्रेष्ठ आश्रमी नास्ति कश्चन ॥ ४ ॥

कुटीचकाश्च हंसाश्च तथैव च बहूदकाः ॥

नित्यानुष्ठानतः शुद्धा भवन्ति द्विजपुङ्गवाः ॥ ५ ॥

हंसः परहंसश्च सत्त्वचं सौम्यमन्नं ॥

एकन्तु वैणवं दण्डंकाप्रायं चैव धारयेत् ॥ ६ ॥

परहंसस्य हंसस्य समानं मौण्डमास्तिकाः ॥

स्नानंशौचं शिवध्यानं शिवाञ्चा भस्मगुण्ठनम् ॥ ७ ॥

त्रिपुण्ड्रधारणं शान्तिर्दान्तिः क्रोधादि वर्जनम् ॥

चातुर्मास्यञ्च सर्वेषां समानं परिकीर्तितम् ॥ ८ ॥

पापिष्ठः कर्मसंन्यासं कृत्वा शास्त्रोक्तवर्त्मना ॥

प्राणत्यागं पुनः कुर्यात्पापानां च विशुद्ध्ये ॥ ९ ॥

योगीसंन्यासमापन्नः प्राणत्यागं कदाचन ॥

न कुर्यान्मोहतो वापि ज्ञान मेव सदाभ्यसेत् ॥ १० ॥



संन्यासेन समंनस्ति प्रायश्चित्तं द्विजर्षभाः ॥

ततः पापनिवृत्त्यर्थं संन्यसेत् परितापितः ॥ ११ ॥

रहस्यानाञ्च संन्यासः प्रायश्चित्तं तथैनसाम् ॥

प्रसिद्धानाञ्च पापानां प्रायश्चित्तमयंतथा ॥ १२ ॥

शिवज्ञानं शिवध्यानं शिवशब्दजपस्तथा ॥

अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्भस्मना चावगुण्ठनम् ॥ १३ ॥

रुद्राक्षधारणं भक्त्यात्रिपुण्ड्रस्य च धारणम् ॥

संन्यासश्चैव पापानां प्रायश्चित्तं महत्तरम् ॥ १४ ॥

चण्डमुण्डी समाख्यन्तु स्थानमन्यन्महत्तरम् ॥

दण्डीतत्र महादेवो दण्डिनी परमेश्वरी ॥ १५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे सूतसंहितायां चतुर्थे यज्ञवैभवखण्डे

प्रायश्चित्तविचारोनामद्वाचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

ब्रह्मपुराणे दशमाध्याये ययात्युपाख्याने

वैराग्यं दर्शयति ।

तत्र गाथामुनिश्रेष्ठा गीताः किल ययातिना ॥

योऽभिपत्याहरेत् कामान् सर्वशोऽङ्गानि कूर्मवत् ॥ १ ॥

न जातुकामः कामानामुप भोगेन शाम्यति ॥

हविषाकृष्ण वस्त्रैश्च भूय एवाभिवर्द्धते ॥ २ ॥

यत् पृथिव्यां त्रीहि यत् हिरण्यं पशवः स्त्रियः ॥

नालमेकस्य तत् सर्वमतिकृत्वानु मुह्यति ॥ ३ ॥

यदा भावं न कुरुते सर्वभूतेषु पापजम् ॥

कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ४ ॥

यदान्येभ्यो न विभेति यदाचास्मान्न विभ्यति ॥

यदा नेच्छति नद्वेष्टि ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ५ ॥

धनाशा जीविताशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति ॥

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ॥

तृष्णाक्षय सुखस्यैते कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ इति ॥ ६ ॥

निर्णयसिन्धौअपि कुटीचकादि संन्यासश्चतुर्थेत्याह

॥ हारीतः ॥

कुटीचको वहूदको हंसश्चैव तृतीयकः ॥ चतुर्थःपरमो-  
हंसो यो यःपश्चात् स उत्तमः ॥ १ ॥ आद्यःपुत्रादिनाकुटी-  
कारयित्वा तत्र गृहे वा वसन् काषायवासाः शिखोपवीतत्रि-  
दण्डवान् बन्धुषु स्वगृहे वा भुञ्जान आत्मज्ञो भवेत् ॥ एत  
दत्यन्ताशक्तपरं ॥ द्वितीय स्तु बन्धून् हित्वा सप्तागाराणि  
भैक्षं चरन् पूर्वोक्तवेशः स्यात् ॥

हंस स्तु पूर्वोक्तवेशोऽप्येकदण्डः । एकन्तु वैणवं दण्डं धा-  
रयेन्नित्यमादरादिति स्कान्दात् ॥ २ ॥ विष्णुरपि । यज्ञोपवीतं  
दण्डञ्च वस्त्रं जन्तुनिवारणं । तावान् परिग्रहः प्रोक्तो नान्यो  
हंसपरिग्रहः ( चतुर्थोऽपिस्कान्दे ) परहंस स्त्रिदण्डश्च रज्जुं  
गोवालनिर्मिताम् । शिखांयज्ञोपवीतञ्च नित्यंकर्मपरित्यजेत् ।  
( अयमप्येकदण्डएव ) ये तु शिखोपवीतादित्यागनिषेधा  
स्तेकुटीचकादिपराः ॥ इति ॥ ( यत्तुमेधातिथि ) यावन्नस्यु स्वयो  
दण्डास्तावदेकेन वर्त्तयेदिति ॥ तदपि तत् परमेव ॥  
( यच्चाऽत्रिः ) चतुर्धाभिक्षवः प्रोक्ताः सर्वेचैव त्रिदण्डिन इति



तद्वागदण्डादिपरं ॥ न यष्टिपरं ॥ वाग्दण्डोऽथमनो दण्डः  
 कर्मदण्ड स्तथैव च यस्यैते नियतादण्डाः स त्रिदण्डीति  
 चोच्यते इतिमनूक्तैः ॥ तस्मात् परमहंसस्यैकदण्डएव  
 सोऽप्यविदुषः ॥ विदुषस्तु सोऽपिनास्ति ॥ न दण्डं न शिखां  
 नाच्छादनं चरति परमहंस इति महोपनिषदुक्तेः । ज्ञानमेवा  
 स्यदण्ड इति वाक्यशेषाच्च ॥ यत्तुयमः ॥ काष्ठदण्डो धृतोयेन  
 सर्वाशीज्ञान वर्जितः । स याति नरकान् घोरान् महारौरव-  
 संज्ञितान् ॥ इतितद्वैराग्यं विनाजीवनार्थं संन्यासपरम् ॥  
 एकदण्डं समाश्रित्य जीवन्ति बहवोनराः ॥ नरकेरौरवे घोरे  
 कर्मत्यागात् पतन्ति ते ॥ इति स्मृतेः ॥

(यच्चाश्वमेधिके) एकदण्डी त्रिदण्डी वा शिखा मुण्डित  
 एव वा । काषाय मात्रसारोऽपि यतिः पूज्यो युधिष्ठिर ॥ इति-  
 तस्यापि पूर्वोक्त व्यवस्थाज्ञेया ॥ इति ॥

आत्मपुराणे एकादशाध्याये कुटीचकादि  
 संन्यास धर्म दर्शयति ।

कुटीचको बहुदो वा हंसो वापि यदा भवेत् ॥  
 यतिः परमहंसाख्यः श्राद्धं होमादिकं तदा ॥ १ ॥  
 न कुर्यादातुरो यद्वत् प्रैषमात्रात् प्रपूरयेत् ॥  
 संन्यासं तद्वदेतेऽपि पूरयेयुः सदैव हि ॥ २ ॥  
 प्रैषमात्रेण विद्वांसः परवैराग्य माश्रिताः ।  
 अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहेति कीर्तयेत् ॥ ३ ॥  
 मन्द मध्योत्तमैः शब्दैः प्रत्येकं व्याहृतित्रयात् ॥

त्रिः कृत्वाऽद्विस्तु संपूर्य स्वाञ्जलिं ह्युत्तरां दिशं ॥ ४ ॥  
 प्राचीं वा प्रव्रजेद्विद्वान् यथा जातवपुर्नरः ॥  
 यज्ञोपवीतं सशिख मुत्कृत्याञ्जलिसंस्थितम् ॥ ५ ॥  
 विसृजेदप्सु भूमौ वा ततो गच्छेदुदङ्मुखः ॥  
 नग्नो भूत्वा विरक्तो वा गुरुमेकं परिगृहेत् ॥ ६ ॥  
 पञ्च मुद्रात्मकं दण्डं त्रिदण्डं वा परित्यजेत् ॥  
 ब्रह्मचर्याद् गृहाद्वा पि वनाद्वा प्रव्रजेदिह ॥ ७ ॥  
 यज्ञोपवीतं पूर्व्वेण दण्डेन सह हंसकः ॥  
 भूःस्वाहेति च मन्त्रेण जुहुयादप्सु सादरम् ॥ ८ ॥  
 जडोन्मत्तपिशाचेभ्यो नग्नो विद्वानिव स्वयम् ॥  
 विद्वान् वाऽप्यथ वाविद्वान् परं वैराग्य माश्रितः ॥ ९ ॥  
 नाना योगाश्रमे तुर्य्ये लिङ्गधारण मिष्यते ॥  
 वैष्णवं धारयेच्छिङ्गं विप्र एव न चापरः ॥ १० ॥  
 प्रार्थये तापिनाध्वर्य्यु रेनं यान्तं दिगम्बरम् ॥  
 कौपीनादि न गृह्णीयादध्वर्य्यु प्रार्थनां विना ॥ ११ ॥  
 संन्यासे तत एव स्याद नावृत्तिर्द्वयो रपि ॥  
 क्षत्रियो वा पि वैश्यो वा संन्यासी ऋषभादिवत् ॥ १२ ॥  
 वीरमार्गेण देहं स्वं त्यजेदेवाविचारयन् ॥  
 अभीतः सर्व्वतो गच्छेच्छब्दाग्निजलदंष्ट्रितः ॥ १३ ॥  
 आनिपातं शरीरस्य वीरमार्गोऽयमीरितः ॥  
 ( एतेषां श्लोकानां तात्पर्य्य माह ॥ अस्यार्थः ॥ )  
 जावालादौ वीराध्वना देहत्यागो य उक्तः ॥  
 स क्षत्रियादिसंन्यासाभिप्रायेणैवेति दर्शयति ॥



क्षत्रिय इति नवभिः ॥ यदि क्षत्रियो वैश्यो वा यदा संन्यास  
लिङ्गवर्जितः सन्ननावृत्तिं पुनरावृत्तिहीनमध्वानं गच्छे  
दित्यर्थः ॥ कीदृशः । जडादितुल्याभः नग्नः अविद्वानिव  
दृश्यमानो वस्तुतो विद्वान् परंवैराग्यशाली अविद्वान् वा  
सन्निति द्वयोरर्थः । नाना इति यद्यपि तुर्ये पारिव्राज्यरूपे  
योगप्रधाने आश्रमे नानाविधलिङ्गानां धारणमिष्टं प्रच्छ-  
न्नमत्वा यस्तथापि वैष्णवस्य लिङ्गस्य धारणे विप्र एववा  
धिकारीत्यर्थः ॥ तदुक्तम् ॥

मुखजानामयं धर्म इत्यादि दण्डे वैष्णवत्वञ्च षट्  
प्रभृति ग्रन्थि विशेषेण सुदर्शनादि संज्ञत्वात् तदुक्तं । षट्भिः  
सुदर्शनं प्रोक्तं वासुदेवं तथाष्टभिरित्यादीति ॥ तयो रना  
वृत्तिपथगतौ हेतुमाह । प्रार्थयेतापीति ॥ अध्वर्यु र्यजुर्वेत्ता  
ऋत्विक्तत् कर्तृकं पादपतनपूर्वकं वक्षमाणविधं प्रार्थनं  
विप्रं प्रत्येव संभवतीत्यतः सोऽध्वर्युरेनं क्षत्रियं वैश्यं वा  
दिगस्वरं यान्तं सन्तं न प्रार्थयेत् लोकव्यवहारोपयोगिनां  
कौपीनादीनां ग्रहणञ्च संन्यासिना प्रार्थनां विना क्रियमाणं  
संप्रदायविरुद्धं ततो द्वयोः क्षत्रियवैश्ययोरना वृत्तिः  
फलित इत्यर्थः ॥ तथाच क्षत्रियादिः संन्यासऋषभ  
देवादिवत् वीरमार्गेण शीघ्रं देहं त्यजेदित्याह ॥ क्षत्रिय  
इतिआदिपदेन पाण्डव ग्रहः ॥ वीरमार्गं लक्षयति ॥ अभीत  
इति शब्दः सिंहनादादिदंष्ट्रिणो व्याघ्रादयस्तेभ्यो भयरहितस्य  
शरीरपतन पर्यन्तं यद् गमनमेतद्वीर मार्गपदेनोक्तमित्यर्थः ॥  
( आत्मपुराणे ११ अध्याये ) ।

बुद्धिपूर्वजले चायं बहौ वापि वपुः क्षिपेत् ॥

अन्नोदक परित्यागादथवा सततं गतैः ॥ १ ॥

एकस्यामेव दिश्यात्मदेहं धीरः परित्यजेत् ॥

श्राद्धादि प्रैषपर्यन्त मरुत्वा मनसैवहि ॥ २ ॥

संकल्पपरमप्राप्तो विरागं पूर्वपुण्यतः ।

स्त्रीशूद्रादिरपि प्रायः कुर्यात्त्यागं तथासदा ॥ ३ ॥

स देहनाश हेतु तं किमु यत्र द्विजातयः ॥

अस्यार्थः ॥ अत्रानुकुलस्य जावाल वाक्यस्यार्थमाह ॥

बुद्धिरिति । जलपातेन बह्विपातेनान्नादि परित्यागेनैकस्यां दि-  
शिसततं बुद्धिपूर्वं गमनेन वा देहः संन्यस्त क्षत्रियादिना  
परित्यक्तव्य इत्यर्थः ॥ एतादृश संन्यासेन देहत्यागे शूद्रादी-  
नामप्यधिकारं दर्शयति । श्राद्धादीति । श्राद्धमारभ्य व्याहृ-  
तिघटित प्रैषमन्त्रपर्यन्तमिति कर्तव्यताजातं विना केवलं  
मानसं संन्यस्यसङ्कल्पं विधाय स्त्रीशूद्रः संकरजातीयो वा  
पूर्वपुण्यलब्धवैराग्यशाली तथा क्षत्रियादिवत् स्वदेहनाश  
होतौत्यागे अधिकारीभवति किमुतद्विजातीया इति द्वयोरर्थः ॥

॥ आत्मपुराणे ११ अध्याये ॥

यदा विप्रः परोहंसो भूयान्नग्न उदङ्मुखः ॥ ४ ॥

शिखा यज्ञोपवीतादि रहितः परितो व्रजेत् ॥

अध्वर्यु स्तु ततोगत्वा दण्डवत् प्रणिपत्यतम् ॥ ५ ॥

प्रार्थयेत्तं कराभ्यां तत् पादौ धृत्वा मुहुर्मुहुः ॥

वेदविद्वगवान् विप्रः सर्वदेव वपुर्यतः ॥ ६ ॥



ततो वपुरिदं त्यक्तुं न त्वमर्हसि धर्मवित् ॥  
 अपितेन वपुर्विप्रः किमुलोकस्य तद्व्यतः ॥ ७ ॥  
 परकीयं कथं वित्तं विनाशयसि बुद्धिमान् ॥  
 आत्मनः श्रवणं कृत्वा मननं ध्यानमेव च ॥ ८ ॥  
 साक्षात्कारं हि संपाद्य पश्चात् कुरु यथेप्सितं ॥  
 गुरुस्त्वयाचिरं कालं सेवितो ब्रह्मवित्तमः ॥ ९ ॥  
 अनुज्ञापितवान् मांसबहुशोऽपि निवारणम् ॥  
 गुर्व्वाज्ञां तत एव त्वं कुर्व्वात्मज्ञानहेतवे ॥ १० ॥  
 इत्यादि वचनैर्भूरि संप्रार्थ्यद्विजसत्तमः ॥  
 दद्यादण्डादिकं तस्मै तिष्ठ तिष्ठेति कीर्तयन् ॥ ११ ॥  
 दत्तं दण्डमृजुं सौम्यं सत्वचं वैणवं द्विजः ॥  
 इन्द्रस्येत्यादि मन्त्रेण गृहीत्वा प्रणवेन तु ॥ १२ ॥  
 दोरकौपीनं वासांसि प्रणम्य गुरुमादरात् ॥  
 सेवेत तं यथा तद्वदात्मविद्या न लभ्यते ॥ १३ ॥  
 अधिकार प्रसंगात्ते संन्यासविधिरीरितः ॥  
 एवं परमहंसस्य शृणुवक्ष्यामि ते ऽधुना ॥ १४ ॥  
 दधानो वैणवं दण्डंसौम्यं पूर्वोक्तलक्षणम् ॥  
 शिखा यज्ञोपवीताभ्यां रहितोविकसन् मुखः ॥ १५ ॥  
 कौपीनयुगलं कन्यां तद्वच्छीतनिवारणीम् ॥  
 भिक्षाटनाय शाटीञ्च ह्यखण्डां वापि खण्डिताम् ॥ १६ ॥  
 अलावुं दारुपात्रं वा वैणवं मृन्मयञ्च वा ॥  
 वहन् करेण शौचादि कार्यार्थं कार्यं वर्जितः ॥ १७ ॥  
 न पाणिपादचपलो न वाग् भेदादि चापलः ॥

गच्छन् विलोकयेद्भूमिं युगमात्रां पुरः सदा ॥ १८ ॥  
 आसीनो नासिकां तद्वत् पुस्करं वा विलोकयेत् ॥  
 शून्यागारे देवगृहे वल्मीके तृणकूटके ॥ १९ ॥  
 वृक्षमूले कुलालस्य शालायामग्निहोत्रके ॥  
 पुलिनेषु नदीनाम्बा गिरीणां कुहरादिषु ॥ २० ॥  
 कोटरेषु तरूणां वा स्थण्डिले निष्ठुटे पिवा ॥  
 निवासनिरतो नित्यं सदा शौचपरायणः ॥ २१ ॥  
 भिक्षार्थञ्च ब्रजन् ग्रामं प्रीतिमान्निर्जने सदा ॥  
 प्रदक्षिण्ये न भिक्षायां गृहानेष ब्रजेत् सदा ॥ २२ ॥  
 उदरं वापि पाणिं वा पात्रं कृत्वाथ वा परम् ॥  
 यथौषधं तथैवान्नं प्राशयत्येष सर्वदा ॥ २३ ॥  
 न निन्दति न च स्तौति किमप्येष कदाचन ॥  
 अलाभे वापि लाभे वा भिक्षया <sup>भाय</sup> एकरूपभृत् ॥ २४ ॥  
 असम्यक्त्वेपि सम्यक्ते विकारं नाधिगच्छति ॥  
 न स्थूलो न कृशश्चायमाहारेण क्वचिद्भवेत् ॥ २५ ॥  
 केशश्मश्रुनखानाञ्च कुरुते वपनं सदा ॥  
 ऋतु सन्धिषु वर्षाषु कुरुते वा न वापि सः ॥ २६ ॥  
 आषाढ्यां पौर्णमास्याञ्च कुरुते व्यासपूजनम् ॥  
 कृष्णद्वैपायनं पैलं वैशंपायननामकम् ॥ २७ ॥  
 जैमिनिञ्च सुमन्तुञ्च पूजयेद् व्यासपञ्चकम् ॥  
 कृष्णञ्च वासुदेवञ्च संकर्षणमथापरम् ॥ २८ ॥  
 प्रद्युम्नमनिरुद्धञ्च पूजयेत् कृष्णपञ्चकम् ॥  
 शङ्करं विडवरूपञ्च पद्मनाभं तथैवच ॥ २९ ॥



हस्तामलकनामानं तोटकाख्यञ्च पञ्चमम् ॥  
 आचार्यपञ्चकं प्रायः पूजयेच्छाङ्गरेमते ॥ ३० ॥  
 गुरुञ्चपरमं तद्वदात्मनः परमेष्ठिनम् ॥  
 गोविन्दं गौड़नामानं पूजयेद्गुरुपञ्चकम् ॥ ३१ ॥  
 आत्मानमन्तरात्मानं ज्ञानात्मानं परात्मकम् ॥  
 आनन्दात्मानमित्ये तत् पूजयेदात्म पञ्चकम् ॥ ३२ ॥  
 आत्माचार्यं गुरुव्यास पञ्चकानि चतुष्टये ॥  
 पूर्वादीनां दिशां मध्ये कथितं कृष्णपञ्चकम् ॥ ३३ ॥  
 आग्नेयादि विदिक् संस्थान् पूजयेच्चतुरोहमून् ॥  
 गणनाथं तथा दुर्गां देवीं चैव सरस्वतीम् ॥ ३४ ॥  
 क्षेत्रपालं महेशानं सर्वारिष्ट विनाशकान् ॥  
 सनन्दनं च सनकं कुमारञ्च सुजातकम् ॥ ३५ ॥  
 सनत् पदादिकं कृष्णपञ्चकं परितोऽर्चयेत् ॥  
 नरनारायणौ कृष्णपञ्चकात् पुरतः स्थितौ ॥ ३६ ॥  
 ब्रह्मादि त्रयमस्यैव पृष्ठतः स्तु समर्चयेत् ॥  
 शेषान् देवान् मुनीन् सर्वान् यथा योग्यं प्रपूजयेत् ॥ ३७ ॥  
 नरनारायणाग्रस्थं नारदं मुनिसत्तमम् ॥  
 एवं संपूज्य वसति मासौ द्वौ चतुरो पि वा ॥ ३८ ॥  
 वर्षाकाले महीसर्वा स्थिरजङ्गमदेहिभिः ॥  
 निरन्तरं समास्तीर्णा लक्षकोट्यादि संख्यया ॥ ३९ ॥  
 तेषांप्रक्षार्थं मेघोऽपि वसत्येकत्र सर्वदा ॥  
 न हिंसतिकमप्येषस्थिरजंगमदेहिनाम् ॥ ४० ॥  
 वदत्यसत्यं नैवायं न च चौर्म्यं करोति सः ॥

तृणस्यापि च नारीषु ग्राम्यधर्मं प्रयति न ॥ ४१ ॥  
 कामं न परिगृहीयाद्भवेदत्रा परिग्रहः ॥ ४२ ॥  
 तथा समायिकीञ्चेष्टां न कुर्यात् प्रलपेन च ॥ ४३ ॥  
 नियमांश्च यथोक्तैस्तान् देवनारायणादिकान् ॥  
 कुर्वाणः प्राणरोधश्च स्वात्मनोऽवसरे सति ॥ ४४ ॥  
 वेदान्तश्रवणे स्नानं त्रिसन्ध्यादौ तथैव च ॥  
 गुरुभक्तिं तथाप्राह वर्षाकालाति रेकतः ॥ ४५ ॥  
 एकत्र च वशेनैव तत्ररागादि वर्जितः ॥  
 अलाभेन विषादीस्याल्लाभश्चैनं न हर्षयेत् ॥ ४६ ॥  
 समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ॥  
 आत्मवत् सर्वभूतानां कर्मणा मनसागिरा ॥ ४७ ॥  
 अनुकूलं हि कुर्वाणः प्रतिकूलं न चाचरेत् ॥  
 हिरण्यादीनि वस्तूनि वधूस्तद्वन्मनोरमाः ॥ ४८ ॥  
 विष्ठावन्मनसा नित्यं भावयेन्न स्मरेच्च वा ॥  
 विष्णुमूत्रसम्भवो देहो मलभाण्डो विनिर्मितः ॥ ४९ ॥  
 कामाद्यनेक रोगार्तः सर्वावस्थासु नश्वरः ॥  
 किमर्थं वहसेगर्वं मनोदेहस्य सर्वदा ॥ ५० ॥  
 अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थं शृण्वन्नो गुरुवाक्यतः ॥  
 मननञ्च तथाध्यानं कुर्यादात्मावबोधनम् ॥ ५१ ॥  
 यावन्न साक्षादात्मायं ज्ञायते तेन सर्वगः ॥  
 ओंकारमपि तावत्तु जपेच्छतशः नुसारतः ॥ ५२ ॥  
 प्रणवाद्य विरोधेन मन्त्रानन्यांश्च संजपेत् ॥  
 आरोहेनैव याने च न च किञ्चित् परिग्रही ॥ ५३ ॥



यावता न भवेद्देह त्यागोत्र वासनादिना ॥  
 स्त्रीकुर्यात्तावदेवायं नाधिकन्तु कदाचन ॥ ५३ ॥  
 सन्ध्यात्रये समाधिस्थो न कुर्यात् सन्धिनाशनम् ॥  
 जीवात्मनो रिहैक्येन स्वात्मनो ब्रह्मबोधनात् ॥ ५४ ॥  
 कस्यापिनैव कुर्वीत सदसदोष कीर्तनम् ॥  
 आत्मनोऽधिक बुद्धिं वा मानसं वा विनाशनम् ॥ ५५ ॥  
 कर्मणा मनसा वाचा त्रिधाधर्मं स्वयंकृतम् ॥ ॥  
 परेभ्यः प्रकटनैव कुर्याद्विद्मो हि तत् सदा ॥ ५६ ॥  
 ऊहज्ञानेन कस्यापि पक्षंचैव न दूषयेत् ॥  
 अभिलाषञ्च कुत्रापि सुखे कुर्यान्न धीधनः ॥ ५७ ॥  
 दुःखेद्वेषञ्च तद्वत्सन्न कुर्याद्विसमसाधने ॥  
 मैथुनेच्छां च नैवायं कुर्यात्स्वप्ने पि कुत्रचित् ॥ ५८ ॥  
 कर्मणा मनसावाचा भूतद्रोहं कदापि न ॥  
 दैवादृष्टं सुवर्णादि न गृहीयात् कदाचन ॥ ५९ ॥  
 अनात्मभूते देहादावात्मबुद्धिञ्च वर्जयेत् ॥  
 सुखप्राप्तौ प्रहर्षञ्च वर्जयेत् सर्वदा यतिः ॥ ६० ॥  
 दुःखप्राप्तौ विषादश्च तत्तेपूर्वमुदीरितम् ॥  
 क्षुद्राणामसहिष्णुत्वं न कुर्याद्देहिनामिह ॥ ६१ ॥  
 अहंमानश्च देहे स्वे ममत्वं वसनादिषु ॥  
 नैवकुर्वीत मेधावी क्षेममिच्छन्निजात्मनः ॥ ६२ ॥  
 अनृतं वचनं तद्वन्मानसं विषयैरपि ॥  
 लोकरञ्जन मुख्यांश्च त्यजेत् सर्वात्मना यतिः ॥ ६३ ॥  
 विषमुत्र कुणपैस्तुल्यं शरीरं स्वंविलोकयेत् ॥

न स्तुतिर्न नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ॥ ६४ ॥  
 चलाचल निकेतस्तु यतिर्यादृच्छिको भवेत् ॥  
 न चार्हेच्च प्रकुर्वीत न कस्यापि विवर्जनम् ॥ ६५ ॥  
 मन्त्रांश्च न जपेन्नैव ध्यानं कुर्वीत कस्यचित् ॥  
 आत्मनो व्यतिरिक्तस्य नापि चोपासनं यातिः ॥ ६६ ॥  
 लक्ष्यं तस्य न किञ्चित् स्याद्ब्यापारेषु यतेः सदा ॥  
 अलक्ष्यञ्च न किञ्चित्तु बालवत् समदर्शिनः ॥ ६७ ॥  
 आत्मनो व्यतिरिक्तेन वेदनं नाप्यभेदवत् ॥  
 प्रयोजनं किमप्यस्य विद्यते समदर्शिनः ॥ ६८ ॥  
 अहं त्वं सर्वमित्यादि भेदोप्यस्य न विद्यते ॥  
 सर्वेषामात्मभूतं यदाश्रयेण विवर्जितम् ॥ ६९ ॥  
 ब्रह्मतत् स्थितिहेतुः स्यादस्य नित्यं महात्मनः ॥  
 सुवर्णा दीनि वस्तूनि सुवर्णञ्च विशेषतः ॥ ७० ॥  
 रागतो न स्पृशेन्नैव पश्येत् कुर्यान्न च ग्रहं ॥  
 स्पर्शनात् पुष्कसस्तस्य चाण्डाल दर्शनादपि ॥ ७१ ॥  
 आत्महाच भवेदेव तत् परिग्रहतः सदा ॥  
 आत्मन्यत्रोहते सर्वं निहतं स्याच्चराचरम् ॥ ७२ ॥  
 सर्वरूपो यतः स्वात्मा सर्वेषामिहदेहिनाम् ॥  
 दान्त सर्वेन्द्रियः शान्त मानसो विगतस्पृहः ॥ ७३ ॥  
 उपवीतं शिखां तद्वज्ज्ञानमेव दधन्नवेत् ॥  
 यस्माद्ब्रह्मोपनिषदि श्रुयतेऽन्यत्र चेदृशम् ॥ ७४ ॥  
 हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणः प्रतिष्ठितः ॥  
 हृदिज्योतिः परं तद्वत् त्रिवृत् सूत्रमिदं स्मृतम् ॥ ७५ ॥



यज्ञोपवीतं चैतन्यं हृदि तिष्ठतियत्ततः ॥  
 साशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेदुधः ॥ ७६ ॥  
 यदक्षरं परंब्रह्म तत् सूत्रमिति धारयेत् ॥  
 सूचनात् सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परंपदम् ॥ ७७ ॥  
 तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः ॥  
 इति आत्मपुराणे यत् कथितं तदुक्तं ॥ ७९ ॥

इदानीं जीवन्मुक्ति प्रकरणे विद्यारण्य स्वामिना  
 यदुक्तं तद्दर्शयति ॥

(ॐ) वक्ष्ये विविदिषान्यासं विद्वन्न्यासश्च भेदतः ॥  
 हेतुर्विदेह मुक्तेश्च जीवन्मुक्तेश्च तौ क्रमात् ॥ १ ॥  
 संन्यास हेतु वैराग्यं यदहं विरजेत्तदा ॥  
 प्रव्रजेदिति वेदोक्ते स्तद्वेदस्तु पुराणगः ॥ २ ॥  
 विरक्तिं द्विविधां प्रोक्ता तीव्रातीव्रतरेति च ॥  
 सत्यामेव तु तीव्रायां न्यसेद्योगी कुटीचके ॥ ३ ॥  
 शक्तोवहूदके तीव्रतरायां हंससंज्ञिते ॥  
 मुमुक्षुः परमे हंसे साक्षाद्विज्ञान साधने ॥ ४ ॥  
 पुत्रदारगृहादीनां नाशे तात्कालिकी मतिः ॥  
 धिक् संसार इतीदृक् स्याद्विरक्ते र्मन्दता हि सा ॥ ५ ॥  
 अस्मिन् जन्मनि मा भूवन् पुत्रदारादयो मम ॥  
 इति या सुस्थिरा बुद्धिः सा वैराग्यस्य तीव्रता ॥ ६ ॥  
 पुनरावृत्तिसहितो लोको मे मास्तु कश्चन ॥  
 इति तीव्रतरत्वं स्यान्मन्दे न्यासो न कोऽपि हि ॥ ७ ॥

यत्राद्यशक्तिशक्तिभ्यां तीव्रे न्यासद्वयं भवेत् ॥  
 कुटीचको बह्वदश्चेत्युभावेतौ त्रिदण्डिनौ ॥ ८ ॥  
 द्वयं तीव्रतरे ब्रह्मलोकमोक्षविभेदतः ॥  
 तल्लोके तत्त्वविद्वंसो लोकेऽस्मिन् परहंसकः ॥ ९ ॥  
 एतेषान्तु समाचाराः प्रोक्ताः पाराशरस्मृतौ ॥  
 व्याख्यानेऽस्माभिरत्रायं परहंसो विविच्यते ॥  
 जिज्ञासु ज्ञानवांश्चेति परहंसो द्विधा मतः ॥  
 प्राहुर्ज्ञानाय जिज्ञासो न्यासं वाजसनेयिनः ॥ ११ ॥  
 प्रव्राजिनो लोकमेतमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति हि ॥  
 एतस्यार्थस्तु गद्येन वक्ष्यते मन्दबुद्धये ॥ १२ ॥  
 ब्रह्मविज्ञानलाभाय परहंससमाह्वयः ॥  
 शान्तिदान्त्यादिभिः सर्वैः साधनैः सहितो भवेत् ॥ १३ ॥  
 पुंजन्म लभते माता पत्नी च प्रेयमात्रतः ॥  
 ब्रह्मनिष्ठं सुशीलश्च ज्ञानं चैतत् प्रभावतः ॥ १४ ॥

त्यागश्च तैत्तिरीयोपनिषदि श्रूयते । न कर्मणा न प्रजया  
 न घनेन त्यागेनैकेनामृतत्त्वमानशुः ॥ इति ॥ बृहदारण्यके  
 मैत्रेयीवाक्यमाम्नायते । ये नाहं ना मृतास्यां किमहं तेन  
 कुर्यां यदेव भगवन् वेत्थ तदेव मे ब्रूहि ॥ इति ॥ ब्रह्मचारि-  
 गृहस्थवानप्रस्थानां केनचिन्निमित्तेन संन्यासाश्रमस्वीकारे  
 प्रतिबद्धे सति स्वाश्रमधर्मेण्वनुष्ठीयमानेण्वपि वेदनार्थो  
 मानसः कर्मादित्यागो न विरुध्यते श्रुतिस्मृतीतिहासपुरा-  
 णेषु लोके च तादृशां तत्त्वविदां बहूनामुपलम्भात् ॥ यस्तु  
 दण्डधारणादिरूपो वेदनहेतुः परमहंसाश्रमः स पूर्वैराचार्यै



बहुधा प्रपञ्चित इत्यस्माभिरुपरम्यते ॥ इति विविदिषा  
सन्न्यासः ॥ १ ॥ अथ विद्वत्संन्यासं निरूपयामः ॥ सम्य-  
गनुष्ठितैः श्रवणमनननिदिध्यासनैः परतत्त्वं विदितवद्भिः  
संपाद्यमानो विद्वत्संन्यासः ॥

॥ आरुणिकोपनिषदि प्रमाणमाह ॥

केन भगवन् कर्माण्यशेषतो विस्तृजामीति ॥ शिखा यज्ञो-  
पवीत स्वाध्याय गायत्री जपाद्यशेषकर्मत्यागरूपे विविदि-  
षासंन्यासे शिष्येणारुणिना पृष्टे सति गुरुः प्रजापतिः शिखां  
यज्ञोपवीतमित्यादिना सर्वत्यागमभिधाय दण्डमाच्छादनं  
कौपीनं च परिग्रहेदिति दण्डादिस्वीकारं विधाय त्रिसन्ध्या-  
दौ स्नानमाचरेत् ॥ सन्धिसमाधावात्मन्याचरेत् सर्वेषु  
वेदेष्वारण्यमावर्त्तयेत् ॥ उपनिषदमावर्त्तयेदिति वेदनहेतूनां  
श्रमधर्माननुष्ठेयतया विधत्ते ॥ अथ योगिनां परमहंसानां  
कोऽयं मार्ग इति विद्वत्संन्यासे नारदेन पृष्टे सति गुरुर्भ-  
गवान् प्रजापतिः स्वपुत्रमित्रेत्यादिना पूर्ववत् सर्वत्याग-  
मभिधाय कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय  
लोकस्योपकारार्थाय च परिग्रहेदिति । दण्डादिस्वीकारस्य  
लौकिकत्वमभिधाय तच्च न मुख्योऽस्तीति शास्त्रीयत्वं  
प्रतिपिच्य कोऽयं मुख्य इति चेदयं मुख्यो न दण्डं न शिखां  
न यज्ञोपवित्तुं न चाच्छादनं चरति परमहंस इति दण्डा-  
दिलिङ्गराहितस्य शास्त्रीयतामुक्त्वा न शीतं न चोष्णमित्या-  
दिवाक्येनाशाम्बरो निर्नमस्कार इत्यादिवाक्येन च लोक-  
व्यवहारातीतत्वं मभिधाय अन्ते पूर्वं यदानन्दैकबोधस्त-

ब्रह्माहमस्मि इतिकृतकृत्यो भवतीत्यन्तेन ग्रन्थेन ब्रह्मानुभव-  
मात्रपर्यवसानं भवति ॥ इत्यभिप्रायः ॥

॥ अथ शास्त्रायनीयोपनिषदि ॥

अथ खलु सौम्यैते परिब्राजका यथा प्रादुर्भवन्ति तथा  
भवन्ति । कामक्रोधमोहलोभदम्भदर्पाऽसूयाममत्वाहङ्का-  
रादींस्तृतीय्य मानावमानौ निन्दास्तुती च वर्जयित्वा वृक्ष  
इव तिष्ठामेत् ॥

छिद्यमानो न ब्रूयात् । तदैव विद्वांस इहैवामृता भवन्ति  
तदेतदृचाभ्युक्तं ॥ बन्धुपुत्रमनुमोदयित्वाऽनवेक्ष्यमाणो द्वन्द्व-  
सहः प्रशान्तः प्राचीमुदीची वा निर्वर्त्यंश्चरेत् पात्री दण्डी  
युगमात्राऽवल्लोकी । शिखीमुण्डी चोपवीती कुटुम्बी यात्रा-  
मात्रं प्रतिगृह्णन्मनुष्यात् ॥ १८ ॥ इति ॥

अथेदानीं महानिर्वाणतन्त्रेऽपि चतुर्विधावधूतान् प्रकारा-  
न्तरेणाह । श्रीदेव्युवाच । द्विविधावाश्रमौ प्रोक्तौ गार्हस्थ्यो  
भैक्षुकस्तथा ॥ किमिदं श्रूयते चित्रमवधूताश्चतुर्विधाः ॥ १ ॥  
श्रीसदाशिवउवाच । ब्रह्ममन्त्रोपासका ये ब्राह्मणक्षत्रियादयः ॥  
गृहाश्रमे वसन्तोऽपि ज्ञेयास्ते यतयः प्रिये ॥ २ ॥

पूर्णाभिषेकविधिना संस्कृता ये च मानवाः ॥  
शैवावधूतास्ते ज्ञेयाः पूजनीयाः कुलार्चिते ॥ ३ ॥

ब्राह्मावधूताः शैवाश्च स्वाश्रमाचारवर्तिनः ॥  
विदध्युः सर्वकर्मणि मदुदीरितवर्त्मना ॥ ४ ॥

उक्तावधूतो द्विविधः पूर्णापूर्णविभेदतः ॥

पूर्णः परमहंसारूपः परिव्राडपरः प्रिये ॥ ५ ॥



कृतावधूतसंस्कारो यदि स्याज्ज्ञानदुर्बलः ॥  
 तदा लोकालये तिष्ठन् आत्मानं स तु शोधयेत् ॥ ६ ॥  
 रक्षन् स्वजातिचिह्नञ्च कुर्वन् कर्माणि कौलवत् ॥  
 सदा ब्रह्मपरो भूत्वा साधयेत् ज्ञानमुत्तमम् ॥ ७ ॥  
 उततत्सन्मन्त्रमुच्चार्य सोऽहमस्मीति चिन्तयन् ॥  
 कुर्यादात्मोचितं कर्म सदा वैराग्यमाश्रितः ॥ ८ ॥  
 कुर्वन् कर्माण्यनासक्तो नलिनीदलनीरवत् ॥  
 यतेतात्मानमुद्धर्तुं तत्त्वज्ञानविवेकतः ॥ ९ ॥  
 उततत् सदिति मन्त्रेण यो यत् कर्म समाचरेत् ॥  
 गृहस्थो वाप्युदासीनः तस्याभीष्टाय तद्भवेत् ॥ १० ॥  
 जपोहोमः प्रतिष्ठा च संस्काराद्यखिलाः क्रियाः ॥  
 उततत्सन्मन्त्रनिष्पन्नाः संपूर्णाः स्युर्न संशयः ॥ ११ ॥  
 किमन्यैर्वहुभिर्मन्त्रैः किमन्यैर्भूरिसाधनैः ॥  
 ब्राह्म्येणानेन मन्त्रेण सर्वकर्माणि साधयेत् ॥  
 सुखसाध्यमवाहुल्यं संपूर्णफलदायकम् ॥ १२ ॥  
 नास्त्येतस्मान्महामन्त्रादुपायान्तरमम्बिके ॥  
 पुरः प्रदेशे देहे वा लिखित्वा धारयेदिमम् ॥ १३ ॥  
 गेहस्तस्य महातीर्थं देहः पुण्यमयो भवेत् ॥  
 निगमागमतन्त्राणां सारात्सारतरो मनुः ॥ १४ ॥  
 उततत्सदिति देवेशि तवाग्रे सत्यमीरितम् ॥  
 ब्रह्मविष्णुमहेशानां भित्त्वा तालुशिरःशिखाः ॥ १५ ॥  
 प्रादुर्भूतोऽयमो तत्सत् सर्वमन्त्रोत्तमोत्तमः ॥  
 शैवावधूतसंस्काराऽवधूताखिलकर्मणः ॥ २८ ॥

नापि दैवे न वा पित्र्ये नार्षे कृत्येऽधिकारिता ॥  
चतुर्णामवधूतानां तुरीयो हंस उच्यते ॥ २९ ॥  
त्रयोऽन्ये योगभोगाढ्या मुक्ताः सर्वे शिवोपमाः ॥  
हंसो न कुर्यात् स्त्रीसङ्गं न वा धातुपरिग्रहम् ॥ ३० ॥  
प्रारब्धमदनन् विहरेत् निषेधविधिवर्जितः ॥  
त्यजेत् स्वजातिचिह्नानि कर्माणि गृहमेधिनाम् ॥ ३१ ॥  
तुरीयो विचरेत् क्षौणीं निःसङ्कल्पो निरुद्यमः ॥  
सदात्मभावसन्तुष्टः शोकमोहविवर्जितः ॥ ३२ ॥  
निर्विकेतस्तिक्षुः स्यात् निःशङ्को निरुपद्रवः ॥  
नार्षणं भैक्ष्यपेयानां न तस्य ध्यानधारणा ॥ ३३ ॥  
मुक्तो विरक्तो निर्द्वन्द्वो हंसाचारपरो यतिः ॥  
इति ते कथितं देवि चतुर्णां कुलयोगिनाम् ॥ ३४ ॥  
लक्षणं सविशेषेण साधूनां मत्स्वरूपिणाम् ॥  
इति महानिर्वाणे संन्यासधर्मउक्तः ॥ ३५ ॥ इति ॥

॥ नारदपरिव्राजकोपनिषदि ॥

प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणं । तस्माज्ज्ञानं  
पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥ इति वचनेन संन्यासग्रहणं  
प्रसिद्धमेव ॥ यतःज्ञानात् परतरं न हि । इति श्रुतिः ॥ ऋतेज्ञा  
नान्नमुक्तिः ॥ इति ॥ न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥  
अतएव ज्ञानं संन्यासलक्षणमिति ॥ संन्यासस्य ज्ञानाधीन  
त्वात् । कर्मणस्तु चित्तशुद्धिजनकत्वात् । ईश्वरार्पितं यत् नि-  
ष्कामकर्म तच्चित्तशुद्धिकारणं परमिति । चित्तशुद्ध्यनन्तरं  
ज्ञानप्राप्तिरिति कर्मणः सकाशात् संन्यासस्य श्रेष्ठतरत्वम् ॥



यतो भगवद् वाक्यमाह ॥ सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यासे  
सुखं वशी । इति ॥ सर्वधर्मान् परित्यज्य इति ॥ संन्यासेन  
तनुं त्यजेत् ॥ इति श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु संन्यासग्रहणं  
प्रसिद्धमेव ॥

ननु शास्त्रसम्मतं संन्यासग्रहणं कर्तव्यमस्ति परन्विदानीं  
कलौ संन्यासग्रहणं शास्त्रेऽपि निषिद्धं प्रतीयते इति संन्यास-  
ग्रहणं कर्तव्यं न वा यतो विधिनिषेधौ प्रतीयेते । इति प्रश्ने ।  
उत्तरमाह । अधिकारिणः संन्यासनिषेधो न स्यात् तद्वर्शयति ॥  
साधनचतुष्टयविशिष्टानां विवेकवैराग्ययुक्तानां मुमुक्षूणां  
तत्त्वज्ञानेच्छुकानां ब्राह्मणानां संन्यासग्रहणे अवश्यकर्तव्यता-  
स्तीति ॥

॥ तन्नारदपरिव्राजकोपनिषदिप्रमाणमाह ॥

यदा मनसि संजातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु ॥  
तदा संन्यासमिच्छन्ति पतितः स्याद्विपर्यये ॥ १ ॥  
संसारदोषदृष्ट्यैव विरक्तिर्जायते सदा ॥  
विरक्तस्य तु संसारात् संन्यासः स्यान्न संशयः ॥ २ ॥  
विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान् सरक्तस्तु गृहे वसेत् ॥  
सरागो नरकं याति प्रव्रजन् हि द्विजाधमः ॥ ३ ॥  
संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारं विदृक्षया ॥  
प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः ॥ ४ ॥  
यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनं ॥  
तदैकवर्णं संगृह्य सोपवीतं शिखां त्यजेत् ॥ ५ ॥

ज्ञात्वा सम्यक् परंब्रह्म सर्वं त्यक्त्वा परिव्रजेत् ॥  
 संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान् ॥ ६ ॥  
 परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि ॥  
 सर्ववैषणाविनिर्मुक्तः स भैक्ष भोक्तुमर्हति ॥ ७ ॥  
 पूजितो वन्दितश्चैव सुप्रसन्नो यथा भवेत् ॥  
 तथा चेत्ताड्यमानस्तु तदा भवति भैक्षभुक् ॥ ८ ॥  
 श्रुत्यनुष्ठानमार्गेण कर्मानुष्ठानमेव वा ॥  
 समाप्य संन्यसेद्विद्वान् नोचेत् पातित्यमाप्नुयात् ॥ ९ ॥  
 अहमेवाक्षरं ब्रह्म वासुदेवाख्यमद्वयं ॥  
 इति भावो ध्रुवो यस्य तदा भवति भैक्षभुक् ॥ १० ॥  
 यस्मिन् शान्तिः शमःशौचं सत्यं सन्तोष आर्जवं ॥  
 अकिञ्चनमदंभश्च सकैवल्याश्रमे वसेत् ॥ ११ ॥  
 यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकं ॥  
 कर्मणा मनसा वाचा तदा भवति भैक्षभुक् ॥ १२ ॥  
 दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन् समाहितः ॥  
 वेदान्तान् विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणोद्विजः ॥ १३ ॥  
 धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥  
 ह्री विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ १४ ॥  
 अतीतान्न स्मरेद्भोगान् न तथानागतानपि ॥  
 आसांश्च नाभिनन्देद्यः स कैवल्याश्रमेवसेत् ॥ १५ ॥  
 त्वातःस्थानीन्द्रियाण्यन्तर्बहिष्ठान् विषयान् वहिः ॥  
 प्लापीति यः सदाकर्तुं स कैवल्याश्रमेवसेत् ॥ १६ ॥  
 ज्ञानप्राप्ते यथा देहे सुखं दुःखं न विंदति ॥



तथाचेत् प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमेवसेत् ॥ १७ ॥

इत्युपनिषदि प्रमाणेन अधिकारिविषयउक्तः ॥

॥ अथ पुनरपिव्यासबचनमाह ॥

यदा मनसि वैराग्यं जायते सर्व्ववस्तुषु ॥

तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत् ॥ १८ ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थोऽथवा पुनः ॥

विरक्तः सर्व्वकामेभ्यः पारिव्राज्यं समाश्रयेत् ॥ १९ ॥

। यमः । समःसर्व्वेषु भूतेषु चरेषु स्थावरेषु च ॥

उत्पन्नज्ञानविज्ञानो वैराग्यं परमं गतः ॥ २० ॥

॥ अथेदानीं संन्यासोपनिषदि दर्शयति ॥

योऽनुक्रमेण संन्यस्याति स संन्यस्तो भवति ॥

कोऽयं संन्यास उच्यते कथं संन्यस्तो भवति ॥ २१ ॥

य आत्मानं क्रियाभिर्गुप्तं करोति मातरं पितरं भार्यापुत्रान्  
वंधून् अनुमोदयित्वा ये चास्यर्त्विजस्तान् सर्वाश्चपूर्व्व-  
वत् प्राणित्वा वैश्वानरेष्टिं निर्व्वपेत् सर्व्वस्वं दद्याद्यजमानस्त-  
गा ऋत्विजः सर्व्वैः पात्रैः समारोप्य यदा हवनीये गार्हपत्ये वा  
न्वाहार्य्यपचने सभ्याऽऽवसथ्ययोश्च प्राणापानव्यानोदान्त-  
मानान् सर्व्वान्सर्व्वेषु समारोपयेत् । चत्वारिंशत् संस्कार-  
संपन्नः सर्व्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याऽऽशासूयेर्ष्याहंकार-  
दग्ध्वा साधनचतुष्टयसंपन्न एव संन्यस्तुमर्हति ॥

संन्यासे निश्चयं कृत्वा पुनर्न च करोति यः ॥

स कुर्व्यात् कृच्छ्रमात्रं न्तु पुनः संन्यस्तु मर्हति ॥ १ ॥

संन्यासं पातयेद्यस्तु पतितं न्यासयेत्तु यः ॥

संन्यास विघ्नकर्त्ता च त्रीनेतान् पतितान् विदुः ॥ २ ॥ इति ।

॥ अथ जावालोपनिषदि ॥ अथ हैनंजनको वैदेहो याज्ञवल्क्य-  
मुपसमेत्योवाच भगवन् संन्यासं ब्रूहीति ॥ सहोवाच याज्ञ-  
वल्क्यः ॥ ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत् गृही भूत्वा व-  
नी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव  
प्रव्रजेद् गृहाद्वनाद्वा ॥ अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको  
वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरे-  
व प्रव्रजेत् ॥ इति ॥ अग्निपुराणे ॥ यदह्नि विरजेद्धीर स्त-  
दह्नि च परिव्रजेत् ॥ इति ॥

( सौरपुराणे ) यदामनसि वैराग्यं जायते सर्ववस्तुषु ॥  
तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत् ॥ १ ॥

( बृहस्पतिः ) यस्मिन् कामाः प्रविशन्ति विषयेभ्योपसंहताः ॥  
विषयान्न पुनर्यान्ति स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ २ ॥

॥ अङ्गिराः ॥ यस्मिन् क्रोधः शमं याति विफलः सम्यगु-  
त्थितः ॥ आकाशोऽग्नि र्यथा क्षिप्तः स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ ३ ॥

विरक्तः संन्यसेद्विद्वान् न निष्ठापि द्विजोत्तमः ॥

प्रकर्तुमप्यशक्तोऽपि जुहोति यजति क्रियाः ॥ ४ ॥

अन्धः पंगुर्दारिद्र्यो वा विरक्तः संन्यसेद् द्विजः ॥

सर्वेषामेव वैराग्यं संन्यासेतु विधीयते ॥ ५ ॥

पतत्येवाऽविरक्तो यः संन्यासं कर्तुमिच्छति ॥

पुनर्वारक्रियाभावान्मृतभार्यः परिव्रजेत् ॥ ६ ॥

( पराशरः ) परिव्राज्यं तु वैराग्यात् कर्तव्यं बंधुरादिभिः ॥

विधिना तच्च कुर्वीत संन्यासमिह बुद्धिमान् ॥ ७ ॥

( अत्रिः ) न तावन्मुच्यते दुःखाज्जन्ममृत्योश्च बंधनात् ॥



यावन्न धारयेद्विप्रो वैष्णवं लिङ्गधारणम् ॥ ८ ॥  
 (व्यासः) परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि ॥  
 सर्वैषणा विनिर्मुक्तः स भैक्ष्यं भोक्तुमर्हति ॥ ९ ॥  
 यस्मिन् क्षान्तिः क्षमा शौचंसत्यं सन्तोष आर्जवं ॥  
 अकिञ्चनमदंभश्च तदा भवति भैक्ष्यभुक् ॥ १० ॥  
 पूजितोवन्दितश्चैव सुप्रसन्नो भवेद्यथा ॥  
 तथाचेत्ताड्यमानस्तु तदा भवति भैक्ष्यभुक् ॥ ११ ॥  
 ॥ क्रतुः ॥ अहमेव परंब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम् ॥  
 इति भावो ध्रुवो यस्य तदा भवति भैक्ष्य भुक् ॥ १२ ॥  
 ॥ संवर्तः ॥ भावितैः कारणैश्चायं बहुसंसारयोनिषु ॥  
 आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै चतुराश्रमे ॥ १३ ॥  
 ॥ सुमन्तुः ॥ संन्यस्तोऽहमिति ब्रूयाद्वचनेषु त्रिषु क्रमात् ॥  
 त्रीन् वारांस्तु त्रिलोकात्मा शुभाशुभविशुद्धये ॥ १४ ॥  
 यत्किञ्चिदंधकं कर्म कृतमज्ञानतो मया ॥  
 प्रमादालस्यदोषादि तत् सर्वं संन्यजाम्यहं ॥ १५ ॥  
 एवं संचित्य भूतेभ्यो दद्यादभयदाक्षिणाम् ॥  
 ॥ मनुः ॥ दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन् समाहितः ॥ १६ ॥  
 वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥  
 संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् ॥ १७ ॥  
 नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत् ॥  
 एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः ॥ १८ ॥  
 संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥  
 एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ॥ १९ ॥

पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मनिबोधत ॥

॥ विष्णुसंहितायां ॥ अथ त्रिष्वाश्रमेषु पक्वकषायः प्राजाप-  
त्यामिष्टिं कृत्वा सर्वं वेदं दक्षिणां दत्त्वा प्रव्रज्याश्रमी स्यात्

॥ १ ॥ आत्मन्यग्नीनारोप्य भिक्षार्थं ग्रामामियात् ॥ २ ॥

॥ पद्मपुराणे स्वर्गखण्डे ३१ अध्याये ॥

एवं वनाश्रमे स्थित्वा तृतीयं भागमायुषः ॥

चतुर्थं चायुषोभागं संन्यासेन नयेत् क्रमात् ॥ १ ॥

योगाभ्यासरतः शान्तो ब्रह्मविद्यापरायणः ॥

यदामनसि संपन्नं वैतृष्यं सर्ववस्तुषु ॥ २ ॥

तदा संन्यासमिच्छेच्च पतितः स्याद्विपर्यये ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टि माग्नेयीमथ वा पुनः ॥ ३ ॥

दान्तः शुक्लकषायोऽसौ ब्रह्माश्रममुपाश्रयेत् ॥ ३ ॥

इति श्रुतिस्मृतिपुराणेषु ब्राह्मणानां चतुर्थाश्रम कर्त्तव्य-  
तया अवगतत्वात् यतः संन्यासेन तनुं त्यजेत् इति श्रुतिः ॥

एवं नारदपरिव्राजकोपनिषदि च ॥ शरीरत्रयमुत्सृज्य  
संन्यासेनैव देहत्यागं करोति स कृतकृत्यो भवति ॥ इति ॥

॥ जावालोपनिषदि ॥ संन्यासेन देहत्यागं करोति स  
परमहंसो नाम ॥ इति ॥ नारदपरिव्राजके ॥ वीराध्वानमार्गेण  
विहितसंन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो परिव्राजको  
भवति ॥ इति ॥

शान्तो दान्तः संन्यासी परमहंसाश्रमेणाऽसुखलितस्व-  
स्वरूपध्यानेन देहत्यागं करोति ॥

॥ इत्यादिबचनेषु संन्यासविधानात्तत्परित्यागेन विहि-



ताकरणजन्यपातित्यसंभवेनावश्यमेव संन्यासग्रहणं कर्त-  
व्यमिति । जावालोपनिषदि ॥ इदमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं य  
आत्मापः प्राश्याचम्याऽयंविधिः परिव्राजकानां ॥ वीराध्वाने  
वा अनाशके वा अपांप्रवेशे वा अग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने  
वा इति ॥ परमहंसोपनिषदि ॥ एषविधि वीराध्वाने वा  
इत्यादिपूर्वोक्तं ॥ याज्ञवल्क्योपनिषदि ॥ अथ हैनमग्निः पप्र-  
च्छ याज्ञवल्क्यं यज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति । सहोवाच  
याज्ञवल्क्य इदं प्रणवमेवाऽस्य तद्यज्ञोपवीतं य आत्मा । प्रा-  
श्याचम्याऽयं विधिरथ वा परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरि-  
ग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति ॥ एष पन्थाः  
पारिव्राजकानां वीराऽध्वनि (ध्वाने) वाऽनाशके वाऽपांप्रवेशे  
वाऽग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा एष पन्थाब्राह्मणा हाऽनुवि-  
त्तस्तेनेति । स संन्यासीब्रह्मविदिति ॥

### आत्मपुराणे ११ अध्याये

वीरमार्गेण देहंस्वं त्यजेदेवाऽविचारयन् ।

अभीतः सर्वतोगच्छेच्छब्दाग्निजलदंष्ट्रितः ॥

आनिपातं शरीरस्य वीरमार्गोऽयमीरितः ॥ १ ॥

बुद्धिपूर्वं जलेचायं वह्नौवापिवपुः क्षिपेत् ॥

अन्नोदकपरित्यागादथवा सततं गतैः ॥ २ ॥

एकस्यामेव दिश्यात्म- देहं धीरः परित्यजेत् ॥ इति ॥

इतिपूर्वोक्तश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु अधिकारिभेदे  
संन्यासग्रहणं कर्तव्यमित्युक्तं ॥ परन्तु बृहन्नारदीयपुराणे  
ब्रह्मवैवर्तपुराणे च संन्यासग्रहण निषेधवचनं प्रतीयते ॥

न तु वेदवेदान्तशास्त्रेषु एवं मन्वादिसंहितायामपि संन्यास-  
ग्रहणनिषेधवचनं न दृष्टमिति ॥

तथापि कलौपुराणोक्तं यन्निषेधवचनमस्ति तद्वर्णयति ॥  
ब्रह्मवैवर्त्तपुराणे श्रीकृष्णजन्मखण्डे वाणाऽनिरुद्धसंवादे पञ्च-  
दशाधिकशततमेऽध्याये ॥ ११५ ॥

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकं ॥

देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥ १ ॥

इति वचनेनाश्वमेधादीनां कलौनिषिद्धत्वं ॥

एवं बृहन्नारदीयपुराणेऽपि ॥ समुद्रयात्रास्वीकारः कम-  
ण्डलुविधारणं । द्विजानामसवर्णासु कन्यासूपयमस्तथा ॥  
॥ २ ॥ देवरेण सुतोत्पत्तिर्मधुपर्कपशोर्वधः । मांसदानं  
तथाश्राद्धे वाणप्रस्थाश्रमस्तथा ॥ ३ ॥ न

दत्ताक्षतायाः कन्यायाः पुनर्दानं परस्यच ॥

दीर्घकालं ब्रह्मचर्यं नरमेधाश्वमेधकौ ॥ ५ ॥

महाप्रस्थानगमनं गोमेधश्च तथा मखं ॥

इमान्धर्म्मान् कलियुगे वज्ज्यानाहुर्मर्मनीषिणः ॥ ५ ॥

॥ एवंहेमाद्रिपराशरभाष्ययोरादित्यपुराणमाह ॥

दीर्घकालं ब्रह्मचर्यं धारणश्च कमण्डलोः ॥

देवरेण सुतोत्पत्तिर्दत्ता कन्या प्रदीयते ॥ ६ ॥

इत्यादिवचनेन कलौ संन्यासादि निषिद्धं प्रतीयते । तत्  
कथं संन्यासग्रहणं स्यात् । मैवं ॥ कलौ संन्यासग्रहणविधिव  
चनं दर्शयति तथाहि व्यासवचनम् ॥

यावद्वर्णाविभागोऽस्ति यावद्देदः प्रवर्त्तते ॥



तावन्न्यासाग्निहोत्रञ्च कर्तव्यन्तु कलौ युगे ॥ १ ॥  
 (कात्यायनः) ब्रह्मचर्याद्गृहाद्वापि वनाद्वा संन्यसेद् बुधः ॥  
 पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य मृतपत्नीक एव वा ॥ २ ॥  
 तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजः ॥  
 प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितं ॥ ३ ॥  
 इत्यादि वचनेन कलावल्पेन कालेन ब्रह्मचर्यस्य जपादे-  
 रधिकफलं वदन् ॥ ब्रह्मचर्यादि प्रधानस्य परिव्राज्यस्य  
 कलावनुष्ठेयत्वं सूचयतीत्यर्थः ॥  
 ॥ मनुसंहितायां तथा वायुं पुराणेऽपि ५८ अध्याये ॥  
 यत् कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत् ॥  
 द्वापरे तत्तु मासेन अहोरात्रैः कलौ युगे ॥ ४ ॥  
 त्रेतायां वार्षिकोधर्मो द्वापरे मासिकः स्मृतः ॥  
 यथाशक्ति चरन् प्राज्ञस्तदह्ना प्राप्नुयात् कलौ ॥ ५ ॥  
 ब्रह्मपुराणे ॥ तपसा ब्रह्मचर्येण देवार्चायां फलं द्विजाः ॥  
 प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलेः साध्विति भाषितम् ॥ ६ ॥  
 यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत् ॥  
 द्वापरे तच्च मासेन अहोरात्रेण तत्कलौ ॥ ७ ॥  
 ॥ बृहद्धर्मपुराणे सप्तमाऽध्याये ॥  
 एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्ये परमस्पृहः ॥  
 संन्यासेनापहृत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ८ ॥  
 मुहूर्तमपि संन्यस्य लभते परमांगतिम् ॥  
 न संन्यासात् परोधर्मो वर्तते मुक्तिकारणम् ॥ ९ ॥  
 ब्रह्मक्षत्रविशाश्चैव संन्यासो धर्म इष्यते ॥

विशेषतः कलौधर्मः संन्यासाख्यो हि दुर्घटः ॥ १० ॥

॥ महानिर्व्वाण तन्त्रेऽपि ॥

ब्रह्मचर्याश्रमो नास्ति वानप्रस्थोऽपि न प्रिये ॥

गार्हस्थो भिक्षुकश्चैव आश्रमौ द्वौ कलौयुगे ॥ ११ ॥

शैवसंस्कारविधिनावधूताश्रमधारणम् ॥

तदेव कथितं भद्रे संन्यासग्रहणं कलौ ॥ १२ ॥

ब्रह्मज्ञानं विना ज्ञानं यस्य चित्ते न विद्यते ॥

संन्यासधर्मं तस्यैव नान्यस्य सुरपूजिते ॥ १३ ॥

संन्यासधारणं कार्यं विप्रस्य मुक्तिहेतवे ॥

यो विप्रो धारयेद्दण्डं सैव नारायणः स्वयं ॥ १४ ॥

चतुर्भुजाः प्रजायन्ते दण्डधारणमात्रतः ॥

सर्व्वलक्षणसंयुक्तो ब्राह्मणो गमनं चरेत् ॥ १५ ॥

गत्वा च दण्डिनं दृष्ट्वा प्रणमेत् दण्डवत् क्षितौ ॥

त्वमेव देवदेवेश त्वमेव त्राणकारकः ॥ १६ ॥

त्वमेव जगतां वन्द्य स्त्राहिमां शरणागतम् ॥

॥ निर्व्वाणतन्त्रे ॥ गैरिकं कौपिणं वस्त्रं यत्नेन परिधापयेत् ॥

दण्डधारणमात्रेण नरो नारायणो भवेत् ॥

अद्यावधि महामाया दण्डोपरि विभावय ॥ १८ ॥

गुरुपूजां महाकालीं दण्डोपरि विभावयेत् ॥

ब्राह्मणो दण्डिनं दृष्ट्वा प्रणमेत् विधिपूर्व्वकं ॥ १९ ॥

॥ महानिर्व्वाणतन्त्रे अष्टमोच्छासे ॥

जातमात्रो गृहस्थः स्यात् संस्कारादाश्रमी भवेत् ॥



गार्हस्थ्यं प्रथमं कुर्यात् यथाविधि महेश्वरि ॥ २० ॥  
 तत्त्वज्ञाने समुत्पन्ने वैराग्यं जायते यदा ॥  
 तदा सर्वं परित्यज्य संन्यासाश्रममाश्रयेत् ॥ २१ ॥  
 विद्यामुपार्जयेत् बाल्ये धनं दारांश्च यौवने ॥  
 प्रौढे धर्म्याणि कर्माणि चतुर्थे प्रव्रजेत् सुधीः ॥ २२ ॥  
 मातरं पितरं वृद्धं भार्याञ्चैव पतिव्रताम् ॥  
 शिशुञ्च तनयं हित्वा नावधूताश्रमं व्रजेत् ॥ २३ ॥  
 मातुःपितृन् शिशून् दारान् स्वजनान् वांधवानपि ॥  
 यः प्रव्रजति हित्वैतान् स महापातकी भवेत् ॥ २४ ॥

॥ श्रीसदाशिवउवाच ॥

अवधूताश्रमो देवि कलौ संन्यास उच्यते ॥  
 विधिना येन कर्तव्य स्तत् सर्वं शृणु सांप्रतं ॥ २५ ॥  
 ब्रह्मज्ञाने समुत्पन्ने विरते सर्वकर्मणि ॥  
 अध्यात्मविद्यानिपुणः संन्यासाश्रममाश्रयेत् ॥ २६ ॥  
 ब्रह्मज्ञानाद्वृत्ते देवि कर्मसंन्यसनं विना ॥  
 कुर्वन् कल्पशतं कर्म न भवेन्मुक्तिभाग् जनः ॥ २७ ॥  
 यतेर्दर्शनमात्रेण विमुक्तः सर्वपातकात् ॥  
 तीर्थव्रततपोदानसर्वयज्ञफलं लभेत् ॥ २८ ॥

॥ इति तन्त्रोक्तं सम्पूर्णं ॥

॥ श्रुतिरपि ॥ यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् ॥ १ ॥  
 इतिश्रुतौ युगादेः कालादेश्च नियमो नास्ति ॥ एवमन्यात्  
 श्रुतावापि ॥  
 ॥ जावालोपनिषदि ॥ ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृहीभवेत् ॥

गृहीभूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥ २ ॥

॥ इति श्रुतिप्रमाणेन आश्रमादाश्रमान्तरं प्रतीयते ॥

॥ मनुरपि ॥ ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥

अनपाकृत्य मोक्षंतु सेवमानो ब्रजत्यधः ॥ ३ ॥

अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ॥

ईष्ट्वा स्वशक्तितो यज्ञैर्मनोमोक्षे निवेशयेत् ॥ ४ ॥

( अस्याभिप्रायमाह ) यस्य दृष्टानुश्रविक विषयेष्टादावेव वैराग्यं न जातं स एतत् सर्वं यथा शास्त्रं कृत्वा संन्यसेन्नान्यथा इति श्लोकयोरर्थः । अन्यथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदित्यादि प्रत्यक्ष वेदवचनविरोधादप्रामाण्यप्रसंगात् । ब्रजत्यध इति मनुना यदुक्तं तद् मोक्षादवर्वाक् सुसुक्षुः सत्यलोकादिषु वर्तत इत्यर्थः ) न हि कल्याणकृत् कश्चिदुर्गतिं तात गच्छतीति भगवद्वचनात् । ( कलौ अधिकारिणोऽनधिकारिणश्च भेदेन विधिनिषेधौ नियमौ संभवतः ॥ परंतु अधिकारिणः कुत्रापि निषेधकं न दृश्यते । विरक्तस्य वैराग्यविशिष्टस्य संन्यासपरित्यागे दोषमाह नारदपरिव्राजकोपनिषदि )

विरक्तः प्रव्रजेद्धिमान् सरक्तस्तु गृहे वसेत् ॥

सरागो नरकं याति प्रव्रजन् हि द्विजाधमः ॥ १ ॥

यदा मनसि संजातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु ॥

तदा संन्यासमिच्छन्ति पतितः स्याद्विपर्यये ॥ २ ॥

( इत्यादि वचनेनाकरणजन्यपातित्यदर्शनात् एवंसंन्यासस्य विघ्नकर्तुरपि दोषमाह । संन्यासोपनिषदि )

संन्यासे निश्चयं कृत्वा पुनर्न च करोति यः ॥



स कुर्यात् कृच्छ्रमात्रं पुनः संन्यस्तु मर्हति ॥ ३ ॥

संन्यासं पातयेद्यस्तु पतितं न्यासयेत्तु यः ॥

संन्यासविघ्नकर्त्ता च त्रीनेतान् पतितान् विदुः ॥ ४ ॥

( इत्यादि वचनेष्वकरणजन्यपातित्यदर्शनात् । एवंसंन्यासग्रहणे विघ्नकर्त्तापि पतितः संभवति ॥ अतएव श्रुतिस्मृतिपुराणेषु संन्यासग्रहणमवश्यमेव कर्त्तव्यं न तु विरक्तस्य विवेकवैराग्ययुक्तस्य संन्यासग्रहणे निषेधः संभवति किन्तु संन्यासग्रहणमवश्यमेव कर्त्तव्यं ॥ इत्यभिप्रायः ॥ ननु अधिकारिभेदेन कलौ संन्यासग्रहणकर्त्तव्यत्वमुक्तं केन पुनः कर्त्ता कलौ संन्यासयज्ञादि कृतम् । इति प्रश्ने उत्तरमाह ॥

( द्वापरांते कलौ प्राप्ते युधिष्ठिरो राजा अश्वमेधादि यज्ञं कृतवान् महाभारते प्रसिद्धमस्ति तदेव कलेः प्रमापकं वायुपुराणेपि बाणानिरुद्धसंवादे ॥ )

शिशुपालो दन्तवक्रो जयोविजय एव च ॥ १ ॥ ( इति वचने उक्तौ शिशुपालदन्तवक्रौ कलौ उत्पन्नौ तौ द्वौ राज्ञो युधिष्ठिरस्य राजसूय यज्ञे कृष्णेन निहतौ तस्मिन् कलियुगे राजा अश्वमेधादि यज्ञं कृतवान् ॥ तत् प्रमाणं स्पष्टं दर्शयति )  
द्वितीयजन्मनि पुरा रावणः कुंभकर्णकः ॥

श्रीरामेण हतौ तौ द्वौ शेषजन्म कलौ तयोः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णेन हतौ तौ द्वौ धर्मपुत्रकतौ तथा ॥

( इति एतद्वचनेन कलियुगीयराजा युधिष्ठिरो अश्वमेधादि यज्ञं कृतवान् महाभारते स्पष्टं प्रतीयते ॥ )

एवं कलेः प्रथमचरणे परिक्षिद् राजा अश्वमेधादि यज्ञं कृतवान् एवं जन्मेजयो राजाऽप्यश्वमेध सर्पसत्रादि कृतवान् तस्य पुत्रः शतानीको राजा अश्वमेधादि यज्ञं कृतवान् तत् प्रमाणं वायुपुराणे ७१ अध्याये अनुषंग पादे ॥

विष्णुपुराणे च यदुक्तं तदाह ॥

परीक्षितस्तु दायादो राजा सीजन्मेजयः ॥

ब्राह्मणान् स्थापयामास स वै वाजसनेयिकान् ॥ १ ॥

यावत् स्थास्याम्यहं लोके तावन्नै तत् प्रशस्यते ॥

अभितः संस्थितश्चापि ततः स जनमेजयः ॥ २ ॥

पौर्णमास्येन हविषा देवमिष्ट्वा प्रजापतिम् ॥

विज्ञाय संस्थितो ऽपश्यत्तद्वधीक्षां विभोर्मखे ॥ ३ ॥

परिक्षित्तनयश्चापि पौरवो जनमेजयः ॥

द्विरश्वमेधमाहृत्य ततो वाजसनेयकम् ॥ ४ ॥

प्रवर्त्तयित्वा तद्ब्रूह्य त्रिखर्वी जनमेजयः ॥

खर्व्वमश्वकमुख्यानां खर्व्वमंगनिवासिनां ॥ ५ ॥

खर्व्वश्च मध्यदेशानां त्रिखर्व्वी जनमेजयः ॥

विषादाद्ब्राह्मणैः सार्द्धमभिशास्तः क्षयं ययौ ॥ ६ ॥

तस्य पुत्रः शतानीको बलवान् सत्यविक्रमः ॥

ततः सुतं शतानीकं विप्रास्तमभ्यषेचयत् ॥ ७ ॥

पुत्रोऽश्वमेधदत्तो ऽभूत् शतानीकस्य वीर्यवान् ॥

पुत्रोऽश्वमेधदत्ता द्वैजातः परपुरंजयः ॥ ८ ॥

( इति कलौ अश्वमेधादि यज्ञउक्तः ॥ )

( एवं पृथ्वीराजापि क्षत्रियस्याखण्डराज्यनिमित्तार्थं )



यज्ञादि कृतवान् महाभारते प्रसिद्धमेव ॥

(विष्णुपुराणे २१ अध्याये ॥ ब्रह्मक्षत्रस्य यो योनिर्वंशो राजर्षि सत्कृतः । क्षेमकं प्राप्य राजानं स संस्थां प्राप्स्यते कलौ एतद्वचनं प्रमाणेन कलौ अश्वमेध यागादि अधिकारिभेदेन प्रसिद्धम् न तु निषिद्धमेव ननु अश्वमेधादि यज्ञः कलौ अधिकारिभेदेन प्रसिद्धः । संन्यासग्रहणं कलौ के जनाः कृतवन्त इत्याह । नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत् पुत्रपराशरं च व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगिन्द्रमथास्य शिष्यं श्री शंकराचार्यमथास्य पद्मपादञ्च हस्तामलकञ्च शिष्यंतन्तो टकं वार्त्तिककारं अन्यान्स्मद्गुरुन् संततमानतोऽस्मीति ॥ शुकदेवस्य शिष्यः गौडपादाचार्यः तस्य शिष्यो गोविन्दपादाचार्यः तस्य शिष्यः श्री भगवत् पूज्यपादशङ्कराचार्यः तस्य शिष्य चतुष्टयं पद्मपादाचार्यं सुरेश्वराचार्यं तोटकाचार्यं हस्तामलकाचार्यं प्रभृतयः । अन्येषामपि बहवो महात्मानः गौरांगप्रभृतयः संन्यासग्रहणं चक्रुः ॥ त एते सर्वे महात्मानः किं संन्यासग्रहणं निषिद्धं न जानन्ति स्म अपितु जानन्त्येव । एते सर्वे अधिकारिणः सन्ति अतएव संन्यासग्रहणं कलौ सिद्धं । इति ॥

(ननु यद्यपि बृहन्नारदीयपुराणे एवं ब्रह्मवैवर्त्त पुराणं प्रीति कलौ संन्यासग्रहणं निषिद्धं प्रतीयते तत् निषिद्धं कुत्र संन्यासं च्छतां । इति तदाह ॥ ( अधिकारिभेदेन निर्दिष्टमिति संगतमेव इति नैवदोषः ॥ यद्यपि पूर्वोक्तं निषिद्धवचनं गृह्णीयात् यावत् वर्णविभागोऽस्तीति व्यासवचने विधिविरोधात् प

तन्त्रोक्तोऽपि विधि वचने विरोधात् अतएव अधिकारिभेदेन  
सर्वशास्त्रेऽपि संन्यासग्रहणं सामञ्जस्यं निश्चितं न विरुद्ध  
मिति ॥ यतः आत्मनः श्रेयः साधनं तपो योगादिकमाचरति  
ततश्च मोक्षं प्राप्नोति ॥

### ( आत्मपुराणे १२ अध्याये ॥ )

सश्चेताश्चतरस्यापि कठस्यापि च तित्तिरेः ॥  
जावालादि मुनीशानां योग संन्याससंयुतम् ॥ १ ॥  
आख्या नान्यति चित्राणि बहूनि विविधानि च ॥  
श्रुतानि तानि सर्वाणि मया ते वदनाद्गुरोः ॥ २ ॥  
संवर्त्तकाद्याः संन्यासे भवतात्र समीरिताः ॥  
पूर्वं संन्यासिनः सर्वे लोकातीता महाधियः ॥ ३ ॥  
वैराग्यं तस्य कालश्च संन्यासस्य प्रकीर्तितः ॥  
नानाविधैरुपायैश्च विरक्ताय धिकारिणः ॥ ४ ॥  
संन्यासस्य विधिर्न्यासि मरणे संस्क्रिया पि च ॥  
वेषस्तस्य तथाचारः कीर्तितो बहुधात्वया ॥ ५ ॥

### ॥ आत्मपुराणे १६ अध्याये ॥

यत्रवेनोऽपि गंधर्वो ब्रह्महानुभवन्नपि ॥  
संन्यासान्तानि यत्र स्युः साधनान्यात्म वित्तये ॥ ६ ॥  
जावालादि श्रुति प्रोक्ताः कथा नानाविधा अपि ॥  
यत्र संन्यासिनः सर्वे संवर्त्तका उदाहृताः ॥ ७ ॥  
वैराग्य कारणं न्यास स्तच्च योगादि कारणं ॥  
अधिकारी विरक्तश्च तद्वेषो मण्डनादिकः ॥ ८ ॥



आचारो ब्रह्मविज्ञानं कीर्तितो यत्र तस्य सः इति ॥ ६ ॥

( देवीभागवते ) ॥ तपसाषड्विपून् जित्वा भार्यां पुत्रे  
निवेश्य च । सर्वानग्नीन् यथान्याय मात्मन्यारोप्यधर्मवित्  
॥ १ ॥ वसेत्तुर्ग्याश्रमेश्रान्तः शुद्धेवैराग्यसंभवे । विरक्तस्था  
धिकारो ऽस्ति संन्यासे नान्यथाक्वचित् ॥ २ ॥

( ननु पूर्वोक्त वाक्यशेषे अधिकारि भेदेन संन्यासग्रहणं  
कर्तव्यमित्युक्तं । न तु ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां प्रभृतीनां  
निर्दिष्टमुक्तं । एतेषां मध्ये परिव्राजकस्य धर्मो को ऽधिकारी ।  
इति प्रश्नः ॥ ) एतदुत्तरमाह ॥ द्विजातीनां मध्ये चतुर्थ  
श्रम स्वीकारस्य ब्राह्मणस्याधिकारत्वात् ॥ तत् प्रमाणमाह  
॥ जावालश्रुतिः ॥

आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहादिति ॥ १ ॥  
( मिताक्षरायां तु ) ब्राह्मणाः प्रव्रजन्तीति श्रुतेः ॥ २ ॥  
( अङ्गिरः ) चीर्णेवेदव्रते विद्वान् ब्राह्मणो मोक्षमाश्रयेदिति ॥ ३ ॥  
( मनुः ) एष वो ऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ॥ ४ ॥  
( हारितः ) संन्याससमयं कृत्वा ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यया ॥ ५ ॥  
( संवर्त्तः ) चतुर्थमाश्रमं गच्छेद्भुत होमो जितेन्द्रियः ॥  
अग्निमात्मनि संस्थाप्य द्विजः प्रव्रजितो भवेत् ॥ ६ ॥

॥ आत्मपुराणे १८ अध्याये ॥

ब्राह्मणा एतमिच्छन्ति एषणा त्रय वर्जिताः ॥

भिक्षाचर्यं चरन्त्यत्र व्युत्थायाश्रमकर्मतः ॥ १ ॥

( विष्णुपुराणे ) ॥ कृत्वाग्निहोत्रं स्वशरीरं संस्थंशरीरं  
मग्निं स्वमुखे जुहोति । विप्रस्तु भिक्षोपगतैर्हविर्भिः चित्

ग्निना स ब्रजति स्म लोकान् ॥ २ ॥ ( दत्तात्रेयः ) ॥ ब्राह्मणः  
प्रब्रजेत् गृहात् । इति यम संवर्त्त बोधायनादिवचनाच्च ॥ ( मनुः )  
संन्यास हेतु वैराग्यं यदहर्विरजेत्तदा ॥

प्रब्रजेदिति वेदोक्ते स्तद्भेदस्तु पुराणगः ॥ ३ ॥

( वायुपुराणे ) ॥ ब्राह्मणा एतमिच्छन्ति एषणात्रयवर्जिताः ॥

भिक्षाचर्यं चरन्त्यत्र व्युत्थायाश्रम कर्मतः ॥ ४ ॥

[ बृहदारण्यके चतुर्थाऽध्याये चतुर्थ ब्राह्मणे ]

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्वास्यन् वा अरे ऽहम  
स्मात् स्थानादस्मि हंत तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति  
॥ १ ॥ भाष्यार्थमाह ॥

कर्म आत्मविषय स्तस्य तत्प्रत्यय संन्यासात्तत् का-  
र्याणां कर्मणां कर्मसाधनानाञ्चार्थप्राप्तश्चसंन्यासः ।  
तस्मादात्मज्ञानाङ्गत्वेन संन्यास विधित्सयैवारूपायिके ऽयमा-  
रभ्यते ॥ मैत्रेयीति होवाच । याज्ञवल्क्यो मैत्रेयीं स्वां भार्या  
मामन्त्रितवान् याज्ञवल्क्यो नामऋषिः । उद्वास्यन्नुर्ध्वया-  
स्यन् पारिव्राज्याख्यमाश्रमांतरं वै अरे इति संबोधनं ।  
अहमस्माद्गार्हस्थात् स्थानादाश्रमादूर्ध्वगन्तुमिच्छन्न स्मि  
भवामि ॥ अतो हंतानुमतिं प्रार्थयामि ते तव किंचान्यत्तवा  
ऽनयाद्वितीयया भार्यया कात्यायन्या अन्तं विच्छेदं करवाणि  
पतिद्वारेण युवयो र्मया संवध्य मानयो र्यः संवध्य आसीत्त-  
स्य संवन्धस्य विच्छेदं करवाणि द्रव्य विभागं कृत्वा वित्तेन  
संविभज्य युवां गमिष्यामि ॥



॥ बृहदारण्यके पञ्चमाऽध्याये पञ्चम ब्राह्मणे ॥  
 त्रयं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः । पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय । अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ॥  
 या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणा  
 भे ह्येते एषणे एव भवतः ॥ भाष्यार्थमाह ॥ तमेतं वै आ-  
 त्मानं स्वं तत्त्वं विदित्वा ज्ञात्वाऽयमहमस्मि परं ब्रह्म सदा  
 सर्व्व संसार विनिर्मुक्तं नित्यतृप्तमिति ब्राह्मणाः ॥ ब्राह्म-  
 णानामेवाधिकारो व्युत्थाने । अतो ब्राह्मण ग्रहणं व्युत्थाय  
 वैपरीत्येनोत्थानं कृत्वा कुत इत्याह । पुत्रैषणायाः पुत्र-  
 र्था एषणा पुत्रैषणा पुत्रेणमं लोकं जयेयमिति लोकज-  
 साधनं पुत्रं प्रतीच्छा एषणा दारसंग्रहः । दारसंग्रहमकृते  
 त्यर्थः ॥ वित्तैषणायाश्च कर्मसाधनस्य गवादे रूपादानं अ-  
 नेन कर्म कृत्वा पितृलोकं जेष्यामीति ॥ विद्या संयुक्तं  
 वा देवलोकं केवलं वा हिरण्यगर्भविद्यया दैवेन वित्तं  
 देवलोकं देवादित्ताद्व्युत्थानमेव नास्तीति केचित् । य-  
 स्मात्तद्वलेन हि किल व्युत्थानमिति । तदसत् एतावान्  
 काम इति पठितत्वात् एषणामध्ये दैवस्य वित्तस्य हिरण्य-  
 गर्भादि देवता विषयैव विद्याऽविद्येत्युच्यते । देवलोकं  
 तुत्वात् । न हि निरुपाधिकप्रज्ञानघनविषया ब्रह्मविद्या  
 देवलोकप्राप्तिहेतुः । तस्मात्तत् सर्व्वमभवत् आत्मा ह्येव  
 सं भवतीति श्रुतेः ॥ तद्वलेन हि व्युत्थानं । एतं वै तमा-  
 त्मानं विदित्वेति विशेषवचनात् ॥ तस्मात् त्रिभ्योऽप्येते  
 भ्योऽनात्मलोकप्राप्तिसाधनेभ्य एषणा विषयेभ्यो व्युत्था-

एषणा काम एतावान् वै काम इति श्रुते रेतस्मि स्त्रिविधे  
 ऽनात्मलोकप्राप्तिसाधने तृष्णामकृत्वेत्यर्थः । सर्वा हि  
 साधनेच्छा फलेच्छैव । अतो व्याचष्टे श्रुतिरैकै वैषणेति  
 कथं या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणाऽदृष्टफलसाधनत्वतुल्य-  
 त्वाद्या वित्तैषणा कर्मभूता सा लोकैषणा फलार्थैव सा  
 सर्वः फलार्थप्रयुक्त एव हि सर्वं साधनमुपादत्ते । अत  
 एकैवैषणा लोकैषणा या सा साधनमन्तरेण संपादयितुं न  
 शक्यत इति साध्यसाधनभेदेनोभे हि यस्मादेते एषणे एव  
 भवत स्तस्माद्ब्रह्मविदो नास्ति कर्म कर्मसाधनं वा । अतो  
 येऽतिक्रान्ताः ब्राह्मणाः सर्वं कर्म कर्मसाधनञ्च सर्वं देव-  
 पितृमानुषनिमित्तं यज्ञोपवीतादि । तेन हि दैवं पित्र्यं मा-  
 नुषञ्च कर्म क्रियते ॥

निर्वीतं मनुष्याणामित्यादिश्रुते स्तस्मात् पूर्वं ब्राह्मणा  
 ब्रह्मविदो व्युत्थाय कर्मभ्यः कर्मसाधनेभ्यश्च यज्ञोपवीता-  
 दिभ्यः परमहंसपारिव्राज्यं प्रतिपाद्य भिक्षाचर्यं चरन्ति ।  
 भिक्षार्थं चरणं भिक्षाचर्यं चरन्ति त्यक्त्वा स्मार्त्तं लिंगं केवला-  
 श्रममात्रशरणानां जीवनसाधनं पारिव्राज्यव्यञ्जकं विद्वां  
 ल्लिंगवर्जितः ॥ तस्मादल्लिंगो धर्मज्ञो ऽव्यक्तल्लिंगो ऽव्यक्ता-  
 चार इति स्मृतिभ्यः । अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरि-  
 ग्रह इत्यादिश्रुतेः । सशिखान् केशान् निकृत्य विसृज्य यज्ञो  
 पवीतमिति च ॥ ननु व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरतीति वर्त्तमा  
 नोपदेशादर्थवादोऽयं न विधायकः प्रत्ययः कश्चिच्छ्रूयते  
 लिङ् लोट् तव्यानामन्यतमो ऽपि तस्मादर्थवादमात्रण



श्रुतिस्मृतिविहितानां यज्ञोपवीतादीनां साधनानां न शक्यते  
परित्यागः कारयितुम् । यज्ञोपवीत्येवाधीयीतयाजयेद्यजेत  
वा ॥ पारिव्राज्ये तावदध्ययनं विहितं वेदसंन्यसनाच्छ्रु-  
तस्माद्देवं न संन्यसेदिति स्वाध्याय एवोत् सृजमानो वाच-  
मिति चापस्तम्बः ॥

ब्रह्मोज्झं वेदनिन्दा च कौटसाक्ष्यं सुहृद्रथः ।

गर्हितान्नाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षडिति ॥

वेदपरित्यागे दोषश्रवणादुपासने गुरुणां वृद्धानामतिपी-  
नां होमे जप्यकर्मणि भोजने आचमने स्वाध्याये च यज्ञोप-  
वीती स्यादिति परिव्राजकधर्मेषु गुरुपासनस्वाध्यायभो-  
जनाचमनादीनां कर्मणां श्रुतिस्मृतिषु कर्त्तव्यतया चोचि-  
तत्वात् । गुर्वाद्युपासनांगत्वेन यज्ञोपवीतस्य विहितत्वाच्च  
परित्यागो नैवावगन्तुं शक्यते । यद्यप्येषणाभ्यो व्युत्थानं वि-  
धीयत एव तथापि पुत्राद्येषणाभ्य स्तिसृभ्य एव व्युत्थानं न तु  
सर्वस्मात् कर्मणः कर्मसाधनाच्च व्युत्थानं सर्वपरित्यागे  
चाश्रुतं कृतं स्याच्छ्रुतं च यज्ञोपवीतादि हापितं स्यात् ॥ तथा  
च महानपराधो विहिताकरण प्रतिषिद्धाचरण निमित्तः कृतः  
स्यात्तस्माद् यज्ञोपवीतादिलिङ्गपरित्यागोऽन्धपरंपरैव । न  
यज्ञोपवीतं वेदांश्च सर्वं तद्वर्जयेद्यतिरिति श्रुतेरपि चात्मा-  
ज्ञानपरत्वात् सर्वस्याउपनिषद आत्माद्रष्टव्यः श्रोतव्यो म-  
न्तव्य इति हि प्रस्तुतं ॥ स चात्मैव साक्षाद परोक्षात् सर्व-  
न्तरेऽगनायादिसंसारधर्मवर्जित इत्येवं विज्ञेय इति तावत्  
प्रसिद्धं ॥ सर्वा हीयमुपनिषदेवंपरेति विध्यन्तरक्षेपतः

तावन्नास्त्यतो नार्थवादः । आत्मज्ञानस्य कर्तव्यत्वादात्मा  
 चाशनायादिधर्मवान् न भवतीति साधनफले विलक्षणे  
 ज्ञातव्ये । अतो व्यतिरेकेणात्मनो ऽज्ञानमविद्या ऽन्यो ऽसाव-  
 न्यो ऽहमस्मीति न स वेद मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह  
 नानेव पश्यत्येकधैवानुद्रष्टव्यमेकमेवा द्वितीयं तत्त्वमसीत्यादि  
 श्रुतिभ्यः क्रियाफलं साधनञ्चाशनायादि संसारधर्माती-  
 तादात्मनो ऽन्यदविद्याविषयं । यत्र हि द्वैतमिव भवत्यन्यो  
 ऽसावन्योऽहमस्मि न स वेद । अथ ये ऽन्यथाऽतो विदुरि-  
 त्यादिवाक्यशतेभ्यः । न च विद्या विद्ये एकस्य सह भवतो  
 विरोधात् तमः प्रकाशाविव । तस्मादात्मविदो ऽविद्या-  
 विषयो ऽधिकारो न द्रष्टव्यः क्रियाकारकफलभेदरूपः ।  
 मृत्योः समृत्युमाप्नोतीत्यादिनिन्दितत्वात् । सर्वक्रिया-  
 साधन फलानाञ्चाविद्याविषयाणां तद्विपरीतात्म विद्यया  
 हातव्यत्वेनेष्टत्वात् । यज्ञोपवीतादिसाधनानां च तद्विषय-  
 त्वात् । तस्मादसाधनफलस्वभावात् आत्मनो ऽन्यविषया  
 विलक्षणा एषणा । उभे ह्येते साधनफले एषणे एव भवतः ।  
 यज्ञोपवीतादे स्तत्साध्यकर्मणाञ्च साधनत्वात् । उभे  
 ह्येते एषणे एवेति हेतुवचनेनावधारणात् । यज्ञोपवीतादि-  
 साधनात् तत्साध्येभ्यश्च कर्मभ्यो ऽविद्या विषयत्वात्  
 एषणारूपत्वाच्च जिहासितव्यरूपत्वाच्च व्युत्थानं विधिवत्  
 स्थितमेव । न तूपनिषदः । आत्मज्ञानपरत्वात् । व्युत्थानश्रुति-  
 स्तु स्तुत्यर्था न विधिर्न विधित्सितं विज्ञानेन समान कर्तृत्व  
 श्रवणात् । नह्यकर्तव्येन कर्तव्यस्य समान कर्तृत्वेन कदा-



चिदपि वेदश्रवणं संभवति । कर्त्तव्यानामेव ह्याभिषुवहोमस-  
 क्षाणां यथा श्रवणमभिषुत्य हुत्वा भक्षयन्तीति तद्वदात्मज्ञा-  
 नेषणाव्युत्थानभिक्षाचर्याणां कर्त्तव्यानामेव समानकर्तृ-  
 कत्वश्रवणं भवेत् । अविद्याविषयवदेषणात्त्वार्थप्राप्त-  
 एव आत्मज्ञानविधेरेव यज्ञोपवीतादिपरित्यागो न तु वि-  
 धातव्य इति चेन्न ॥ सुतरामात्मज्ञाने विधिनैव विहितस्य  
 समानकर्तृकत्वश्रवणेन दाढर्योत्पत्तिस्तथा भिक्षाचर्यस्य  
 यत् पुनरुक्तं वर्त्तमानोपदेशादर्थवादमात्रमिति । औदुम्ब-  
 यूपादिविधिसमानत्वाददोषः ॥ व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ती-  
 त्यनेन पारिव्राज्याश्रमे च यज्ञोपवीतादिसाधनानि विहि-  
 तानि लिंगश्च श्रुतिभिः स्मृतिभिश्च अतस्तद्वर्जयित्वा  
 ऽन्यस्माद् व्युत्थानमेषणात्वे ऽपीति चेन्न ॥ विज्ञानसमाप्त-  
 कर्तृकात् पारिव्राज्यादेषणा व्युत्थानलक्षणा पारिव्राज्यान्तरो-  
 पपत्तेः । यद्विदितदेषणाभ्यो व्युत्थायलक्षणं पारिव्राज्यं तदा-  
 त्मज्ञानांगमात्मज्ञानविरोध्येषणापरित्यागरूपत्वादविद्यावि-  
 पयत्वाच्चेष्टणायास्तद्व्यतिरेकेण चास्त्याश्रमरूपं पारिव्राज्यं  
 ब्रह्मलोकादिफलप्राप्तिसाधनं ॥ यद्विषयं यज्ञोपवीतादिसा-  
 धनविधानं लिङ्गविधानञ्च । न चैष्टणारूपसाधनोपादान-  
 स्याश्रमधर्ममात्रे पारिव्राज्यान्तरविषये सम्भवति सति  
 सर्वोपनिषद्विहितस्यात्मज्ञानस्य बाधनं युक्तं । यज्ञोपवी-  
 ताद्यविद्याविषयेष्टणारूपसाधनोपादित्सायां चावश्यमसाध-  
 नफलरूपस्याशनायादिसंसारधर्मवर्जितस्याहंब्रह्मास्मीति-  
 विज्ञानं बाध्यते । न च तद्बाधनं सर्वोपनिषदां तदर्थं

रत्वाङ्गिक्षाचर्यं चरन्तीत्येषणां ग्राहयन्तीति श्रुतिः । स्वयमेव  
वाधत इति चेत् । अथापि स्यादेपणाभ्यो व्युत्थानं विधाय  
पुनरेषणैकदेशं भिक्षाचर्यं ग्राहयन्तीति तत्सम्बद्धमन्यदपि  
ग्राहयन्तीति चेन्न ॥ भिक्षाचर्यस्याप्रयोजकत्वाद्बुत्वोत्तरका  
लभक्षणं वच्छेषप्रतिपत्तिकर्मत्वादप्रयोजकं हि तदसं-  
स्कारकत्वाच्च । भक्षणं पुरुषसंस्कारकमपि स्यान्नतु भिक्षा-  
चर्यं नियमादृष्टस्यापि ब्रह्मविदोऽनिष्टत्वात् । नियमादृष्ट-  
स्यानिष्टत्वे किं भिक्षाचर्येणेति चेन्न ॥ अन्यसाधनाद्व्युत्था-  
नस्य विहितत्वात् । तथापि किं तेनेति चेत् । यदि स्याद्वाढं  
अभ्युपगम्यते हितत् । यानि पारिव्राज्येऽभिहितानि वच-  
नानि यज्ञोपवीत्येवाधीयीते त्यादीनि तान्य विद्वत् पारिव्रा-  
ज्यमात्रविषयाणीति परिहितानि । इतरथात्मज्ञानवाधः  
स्यादिति ह्युक्तं ॥ निराशिशमनारंभं निर्नमस्कारमस्तुतिं ।  
अक्षीणं क्षीणकर्माणां तं देवा ब्राह्मणं विदुरिति सर्व्वकर्मा  
भवं दर्शयति स्मृतिर्विदुषः विद्वांल्लिङ्गं विवर्जितस्तस्माद लि-  
ङ्गो धर्मज्ञ इति च । तस्मात् परमहंस पारिव्राज्यमेव व्युत्था-  
नलक्षणं प्रतिपद्येतात्मवित् सर्व्वकर्मसाधनपरित्यागरूप  
मिति श्रुतिः ॥—

॥ वृहदारण्यके पञ्चमे पञ्चम ब्राह्मणे ॥

तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्व्विद्यं बाल्येन तिष्ठासेत्  
। बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्व्विद्याथ मुनिरमौनञ्चमौनञ्च नि-  
र्व्विद्याथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः केन स्यादप्येन स्यात्तेनेह शण-  
वातोऽन्यदार्त्तततो ह कद्दोलः कौपीतकेयउपरराम ॥ १ ॥



( अथभाष्यार्थः ) यस्मात् पूर्वैर्ब्राह्मणा एतमात्मानमासाधन फल स्वभावं विदित्वा सर्वस्मात् साधन स्वरूपादेः णालक्षणादव्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति स्म । दृष्टादृष्टार्थं कर्म न तत् साधनं च हित्वा । तस्मादव्यत्वेऽपि ब्राह्मण ब्रह्मवित् पाण्डित्यं पण्डितभावमेतदात्मविज्ञानं पाण्डित्यं तन्निर्विद्य निःशेषं विदित्वा आत्मविज्ञानं निरविशेषं कृत्वेत्यर्थः । एतत् भाष्यकारेणोक्तं ग्रन्थबाहुल्यभयात् मयानोक्तमिति ( अथेदानीं छान्दोग्योपनिषदि प्रमाणमाह )

॥ द्वितीय अध्याये २३ प्रपाठके ॥

॥ त्रयोधर्म स्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति ॥  
प्रथम स्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी ।  
तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादन्न सर्व एते पुण्य  
लोकाभवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥ २ ॥

[ भाष्यार्थः ] ॐकारस्योपासनविध्यर्थं त्रयोधर्म स्कन्धा इत्याद्यारभ्यते । नैवमन्तव्यं सामावयवभूतस्यैवोद्गीथादि लक्षणस्य ॐकारस्योपासनात् फलंप्राप्यत इति । किं तर्हि यत् सर्वैरपि सामोपासनैः कर्मभिश्चाप्राप्यं तत् फलममृतत्वं केवलादोङ्कारोपासनात् प्राप्यत इति तत्स्तुत्यां सामप्रकरणे तदुपन्यासः त्रयस्त्रिंशसंख्याका धर्मस्य स्कन्धाः धर्मस्कन्धा धर्मप्रविभागा इत्यर्थः । के त इत्याह यज्ञोऽग्निहोत्रादिः । अध्ययनं सनियमस्य ऋगादेरभ्यासः । वनं बहिर्वैदियथाशक्तिद्रव्यसंविभागोऽभिक्षमाणेभ्यः इत्ये

प्रथमोधर्मस्कन्धः । गृहस्थसमवेतत्वात्तन्निवर्तकेन गृहस्थेन निर्दिश्यते प्रथम एकइत्यर्थो द्वितीय तृतीय श्रवणात् । नाद्यर्थस्तपएव ॥ द्वितीयस्तपइति ॥ कच्छ्रुचान्द्रायणादि तद्दांस्तापसः परिव्राड् वा न ब्रह्मसंस्थः आश्रमधर्ममात्रसंस्थे ब्रह्मसंस्थस्य त्वमृतत्वश्रवणात् । द्वितीयोधर्मस्कन्धः ॥ ब्रह्मचर्याचार्य्य कुलेवस्तुं शीलमस्ये त्याचार्य्य कुलवासी । अत्यन्तं यावज्जीवमात्मानं नियमैराचार्य्य कुले ऽवसादयन् क्षपयन् देहं तृतीयोधर्मस्कन्धः । अत्यन्तमित्यादि विशेषणान्नैष्ठिक इति गम्यते । उपकुर्व्वानस्य स्वाध्यायग्रहणार्थत्वात्तन्पुण्यलोकत्वं ब्रह्मचर्य्येण । सर्व्व एते त्रयो ऽप्याश्रमिणो यथोक्तैर्धर्मैः पुण्यलोका भवन्ति । पुण्यलोकोयेषां त इमेपुण्यलोका आश्रमिणो भवन्ति । अवशिष्टस्त्वनुक्तः परिव्राट् ब्रह्मसंस्थो ब्रह्मणि सम्यगवस्थितः सोऽमृतत्वं पुण्यलोक विलक्षणममरणभावमात्यन्तिकमेति नापेक्षिकं देवाद्यमृतत्ववत् ॥ पुण्यलोकात् पृथगमृतत्वस्य विभागकरणात् । यदि च पुण्यलोकातिशयमात्रममृतत्वमभविष्यत्ततः पुण्यलोकत्वादिभक्तं नावक्ष्यत् । विभक्तोपदेशत्वादात्यन्तिकममृतत्वमिति गम्यते । अत्र चाश्रमधर्मफलोपन्यासः प्रणवसेवास्तुत्यर्थं न तत् फलविध्यर्थं ।

स्तुते च प्रणवसेवाया आश्रमधर्मफलविधये चेति हि भिद्यते वाक्यं ॥ तस्मात् स्मृति प्रसिद्धाश्रमफलानुवादे प्रणव सेवाफलममृतत्वं ब्रुवन् प्रणव सेवां स्तौति ॥

यथा पूर्णवर्मणः सेवा भक्तपरिधानमात्रफला राज-



धर्मणस्तु सेवा राज्यतुल्यफलेति तद्वत् । प्रणवश्च तत् स-  
त्वं परंब्रह्म तत् प्रतीकत्वात् । एतद्व्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्व्येवाक्षरं  
परमित्याद्याम्नायात् । काठकेऽप्युक्तं तत् सेवातोऽमृतत्वं ।  
अत्राहुः केचिच्चतुर्णामाश्रमिणामविशेषेण स्वकर्मानुष्ठानात्  
पुण्यलोकतेहोक्ता ज्ञानवर्जितानां सर्व एते पुण्यलोक-  
भवन्तीति । नात्रपरिव्राड् वशेषितः । परिव्राजकस्यापि ज्ञा-  
नं मया नियमाश्च तप एवेति । तप एव द्वितीय इत्यत्र तप-  
शब्देन परिव्राट् तापसौ गृहितौ ॥ अतस्तेषामेव चतुर्णां यो  
ब्रह्मसंस्थः प्रणवस्यैकः सोऽमृतत्वमेतीति । चतुर्णामधिकृत-  
त्वाविशेषात् । ब्रह्मसंस्थत्वेऽप्रतिषेधाच्च ।

स्वकर्म छिद्रे च ब्रह्मसंस्थतायाः सामर्थ्योपपत्तेः न च  
यववराहादि शब्दवद्ब्रह्म संस्थशब्दः परिव्राजकेरूढः । ब्रह्मणि  
संस्थितिनिमित्तमुपादाय प्रवृत्तत्वात् न हि रूढिशब्दे नि-  
मित्तमुपाददते । सर्वेषाञ्च ब्रह्मणि स्थितिरुपपद्यते । यत्र  
यत्र निमित्तमस्ति ब्रह्मणि संस्थितिस्तस्य तस्य निमित्तव-  
तो वाचकं सन्तं ब्रह्मसंस्थशब्दं परिव्राडेकविषये संकोचका-  
रणाभावान्निरोद्धुमयुक्तं ॥ न च परिव्राज्याश्रम धर्ममात्रेणा-  
मृतत्वं । ज्ञानानर्थक्यप्रसंगात् पारिव्राज्यधर्मयुक्तमेव ज्ञा-  
नममृतत्वसाधनमिति चेन्न ॥

आश्रमधर्मत्वाविशेषात् । धर्मी वा ज्ञानविशिष्टोऽप्य-  
त्वसाधनमित्येतदपि सर्वाश्रमधर्माणामविशिष्टं । न च  
वचनमस्ति परिव्राजकस्यैव ब्रह्मसंस्थस्य मोक्षो नान्येषां  
ति । ज्ञानान्मोक्ष इति च सर्वोपनिषदः सिद्धान्तः ।

सस्मादय एव ब्रह्मसंस्थः स्वाश्रमविहितकर्मवृत्तां सो ऽमृत-  
 त्वमेतीति न कर्मनिमित्तविद्याप्रत्यययो विरोधात् ॥  
 कर्त्रादिकारकक्रियाफलभेदप्रत्ययवत्त्वं हि निमित्तमुपादायेदं  
 कुर्व्विदं मा कार्षीरिति कर्मविधयः प्रवृत्ताः । तच्च निमित्तं  
 न शास्त्रकृतं । सर्व्वप्राणिषु दर्शनात् । सदेकमेवाद्वितीयमा-  
 र्त्तमेवेदं सर्व्व ब्रह्मैवेदं नर्व्वमिति शास्त्रजन्यः प्रत्ययोविद्यारू-  
 पः स्वाभाविकं क्रियाकारकफलभेदप्रत्ययं कर्म विधिनिमित्त  
 मनुपमृद्य न जायते । भेदाभेदप्रत्यययो विरोधात् । न  
 हि तैमिरिकद्विचन्द्रादिभेदप्रत्ययमनुपमृद्य तिमिरापगमे  
 चन्द्राद्येकत्वप्रत्यय उपजायते । विद्याविद्याप्रत्यययो  
 विरोधात् । तत्रैवं सति यं भेदप्रत्यय मुपादाय कर्मविधयः  
 प्रवृत्ताः स यस्योपमर्दितः सदेकमेवाद्वितीयं तत् सत्यविका-  
 रभेदो ऽनृतमित्येतद्वाक्यप्रमाणजनितेनैकत्वप्रत्ययेन यः  
 सर्व्वकर्मभ्योनिवृत्तो निमित्तनिवृत्ते स च निवृत्तकर्मा ब्रह्म-  
 संस्थ उच्यते स च परिव्राडैवान्यस्यासंभवात् ॥ अन्यो हि  
 अनिवृत्तभेदप्रत्ययः सोऽन्यत् पश्यन् शृण्वन्मन्वानो विजा-  
 नन्निदं कृत्वेदं प्राप्नुयामिति हि मन्यते । तस्यैवं कुर्व्वतो न  
 ब्रह्मसंस्थता वाचारंभणमात्र विकारानृताभिसन्धिप्रत्ययवत्त्वात्  
 न चासत्यमिति । उपमर्दिते भेदप्रत्यये सत्यमिदमनेन कर्त्तव्यं  
 मयेति । प्रमाणप्रमेयबुद्धिरुत्पद्यते । आकाशे इव तलमल  
 बुद्धिविवेकिन उपमर्दितेऽपिभेदप्रत्यये कर्मभ्यो न निवर्त्तते  
 चेत्प्रागिव भेदप्रत्ययोपमर्दनादेकत्वप्रत्ययविधायकं वाक्यम  
 प्रमाणीकृतं स्यादभक्ष्य भक्षणादिप्रतिशेधवाक्यानां प्रामाण्य



वदुक्तमेकत्ववाक्यस्यापि प्रामाण्यं । सर्वोपनिषदां तत्  
 कर्त्वात् कर्मविधीनामप्रामाण्य प्रसंग इति चेत् । न अनु-  
 पमर्दितभेदप्रत्यय वत्पुरुषविषये प्रामाण्योपपत्तेः स्वप्नादि-  
 प्रत्यय इव प्राक् प्रबोधादिवेकिनाम करणात् कर्मविधिप्र-  
 माण्योच्छेद इति चेन्न । काम्यविध्यनुच्छेददर्शनात् । न हि  
 कामात्मताः प्रशस्तेत्येवं विज्ञानवद्भिः काम्यानि कर्माणि  
 नानुष्ठीयन्त इति काम्य कर्मविधय उच्छिद्यन्ते अनुष्ठीयन्त  
 एव कामिभिरिति । तथा ब्रह्मसंस्थै ब्रह्मविद्भिर्नानुष्ठीयन्ते  
 कर्माणीति न तद्विधय उच्छिद्यन्ते ब्रह्मविद्भिर्नानुष्ठीयन्त  
 एवेति । परिव्राजकानां भिक्षाचरणादि वदुत्पन्नैकत्वप्रत्य-  
 यानामपि गृहस्थादीनामग्निहोत्रादि कर्माणि वृत्तिरिति चेत् ।  
 प्रामाण्य चिन्तायां पुरुष प्रवृत्तेरदृष्टान्तत्वात् । न हि नाभिचरे-  
 दिति प्रतिषिद्धमप्यभिचरणं कश्चित् कुर्वन् दृष्ट इति शत्रो-  
 द्वेषरहितेनापि विवेकेनाभिचरणं क्रियते । न च कर्मविधिप्र-  
 वृत्ति निमित्तेभेदप्रत्यये बाधितोऽग्निहोत्रादौ प्रवर्तकं निमित्त-  
 मस्ति । परिव्राजकस्येव भिक्षाचरणादौ बुभुक्षादिप्रवर्तकं ।  
 इहाप्यकरणे प्रत्यवाय भयं प्रवर्तकमिति चेत् न भेदप्रत्यय-  
 तोऽधिकृतत्वात् । भेदप्रत्ययवाननुपमर्दित भेदवृद्धि विषय-  
 यः स कर्मण्यधिकृत इत्यवोचाम । यो ह्यविद्याकृतः कर्माणि  
 तस्य तदकरणे प्रत्यवायो न निवृत्ताधिकारस्य गृहस्थस्यो-  
 ब्रह्मचारिणो विशेषधर्माननुष्ठाने । एवंतर्हि सर्वः स्वाश्रम-  
 स्थ उत्पन्नैकप्रत्ययः परिव्राडिति चेत् । न ॥ स्वस्वामित्वे-  
 दबुद्ध्यनिवृत्तेः । कर्मार्थत्वाच्चेतराश्रमाणां । अथ कर्मकर्तृत्वे

येति श्रुतेः । तस्माच्च स्वस्वामित्वाभावाद्भिक्षुरेक एव परिव्राट्  
न गृहस्थादिः । एकत्वप्रत्यय विधिजनितेन प्रत्ययेन विधिनि  
मित्तभेदप्रत्ययस्योपमर्दितत्वाद्यमनियमाद्यनुपपत्तिः परिव्रा  
जकस्येति चेत् । न बुभुक्षादि नैकत्वप्रत्ययात् । प्रच्यावित-  
स्योपपत्ते निर्वृत्त्यर्थत्वात् । नच प्रतिषिद्धसेवाप्राप्तिः । एकत्व  
प्रत्ययोत्पत्तेः प्रागेव प्रतिषिद्धत्वात् । न हि रात्रौकूपेकण्टके वा  
पतिते उदितेऽपि सवितरि पतति तस्मिन्नेव तस्मात् सिद्धं  
निवृत्ताकर्म भािक्षुक एव ब्रह्मसंस्थ इति । यत् पुनरुक्तं सर्वेषां  
ज्ञानवर्जितानां पुण्यलोकतेति । सत्यमेतत् । यच्चोक्तंतपः  
शब्देन परिव्राडप्युक्त इत्येतत् । तदसत् ॥ कस्मात् परिव्राजक  
स्यैव ब्रह्मसंस्थतासंभवात् । स एव ह्यवशोषित इत्यवोचाम ॥

एकत्व विज्ञानवतोऽग्निहोत्रादिवत्तपो निवृत्तेश्च । भेद  
बुद्धिमत् एव हि तपः कर्तव्यता स्यात् । एतेन कर्मच्छिद्रे  
ब्रह्मसंस्थता सामर्थ्यं । अप्रतिषेधश्च प्रत्युक्तः । तथा ज्ञानवा  
नेव निवृत्तकर्म परिव्राडिति ज्ञानवैयर्थ्यं प्रत्युक्तं । यत्पुनरुक्तं  
यववराहादि शब्दवत् परिव्राजके च रूढो ब्रह्मसंस्थशब्द  
इति ॥ तत् परिहृतमेतत् । तस्यैव ब्रह्मसंस्थता संभवान्नान्य  
स्येति । यत् पुनरुक्तं रूढशब्दानिमित्तं नोपाददत इति ।  
तत्तद्गृहस्थतक्षपरिव्राजकादि शब्ददर्शनाद् गृहस्थिति पारि  
व्राज्यतक्षणादि निमित्तोपादाना<sup>पि</sup> गृहस्थपरिव्राजका वा  
ऽऽश्रमविशेषे विशिष्टजातिमति च गृहस्थ इति परिव्राजक  
इति च तक्षेति रूढादृश्यन्तेशब्दाः । न यत्रयत्रतानि निमि  
त्तानि तत्रतत्रवर्तन्ते सिद्ध्यभावात् । तथेहापि ब्रह्मसंस्थशब्दो



निवृत्त सर्व कर्म तत् साधनपरिव्राडेकविषये ऽप्याश्रमि  
णि परमहंसाख्येवृत्त इह भवितुमर्हति । मुख्यामृतत्वफलप्र  
वणात् । अतश्चेदमेवैकं वेदोक्तं परिव्राज्यं । न यज्ञोपवीत  
त्रिदण्ड कमण्डल्वादि परिग्रहवान् मुण्डो ऽपरिग्रहो ऽसंग  
इति च । श्रुतिरत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रमित्यादि च श्वे  
ताश्वतरीये । न स्तुतिर्न नमस्कार इत्यादि स्मृतिभ्यश्च ॥  
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः । तस्मादलिङ्गो  
धर्मज्ञः अव्यक्तालिंग इत्यादि स्मृतिभ्यश्च । यत्तुसांख्यैः क  
र्मत्यागोऽभ्युपगम्यते । क्रियाकारकफलभेदबुद्धेः सत्यत्वा  
भ्युपगमात् ॥ तन्मृषा ॥ यच्चवौद्धैः शून्यताभ्युपगमाद क  
र्तृत्वमभ्युपगम्यते । तदप्यसत् ॥ तदभ्युपगन्तुः सत्त्वाभ्यु  
पगमात् । यच्चाज्ञैरलसतया अकर्तृत्वाभ्युपगमः सोऽप्यसत्  
कारकबुद्धेरनिवर्तितत्वात् प्रमाणेन । तस्माद्वेदान्तप्रमाण  
जनितैकत्वप्रत्ययवत् एतत् कर्मनिवृत्तिलक्षणं पारिव्राज्यं  
ब्रह्मसंस्थत्वञ्चेति सिद्धं ॥ एतेन गृहस्थस्यैकतत्त्वविज्ञाने सति  
परिव्राज्यमर्थं सिद्धं ॥

नन्वग्न्युत् सादनदोषभाक्स्यात् परिव्रजन् । वीरहा वा  
एषदेवानां योऽग्निमुद्वासयत इति श्रुतेः ॥ न दैवेनैवोत्सा  
दितत्वाद्भुत् सन्न एव हि स एकत्वदर्शनेजाते । अपागादग्नि  
रग्नित्वमिति श्रुतेः । अतो न दोषभाग्गृहस्थः परिव्रज  
न्निति ॥ गृहस्थस्यापि विवेकवतो वैराग्यद्वारायुक्तं पारि  
व्रज्यमिति ब्रह्मसंस्थ वाक्यव्याख्यान समाप्त्यर्थः । इति  
न्दोग्योपनिषदुक्तं ॥

(वाजसनेयोपनिषदि) ॥ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यांजगत् । तेनत्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधःकस्य स्विद्धनं ॥ १ ॥ (टीका) ईशा इष्टे इतीद् तेनेशा ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य इति । एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासएवाधिकारो न कर्मसु तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः । न हि त्यक्तोमृतः पुत्रोमृत्यो वा आत्मसंवन्धितयाऽभावादात्मानं पालयत्यऽतस्त्यागेनेत्यऽयमेवार्थः भुञ्जीथाः पालयेथाः । एवंत्यक्तैषणस्तुमागृधः गृधिमाकाङ्क्षां मां कार्षीर्धनविषयां । कस्यस्वित् कस्यचित् परस्वं धनं स्वस्य वा धनं मा काङ्क्षी रित्यर्थः । स्विदित्यनर्थको निपातः ॥ अथवा मा गृधः कस्मात् । कस्यस्विद्धनमित्याक्षेपार्थो न कस्य चिद्धनमस्ति यद्गृध्येत ॥ आत्मैव सर्वमितीश्वरभावनया सर्वत्यक्तमत आत्मनएवेदं सर्वमात्मैव च सर्वमतोमिथ्या विषयांगृधिं मा कार्षीरित्यर्थः ॥ मुण्डकोपनिषदि ॥ वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ॥ इति कैवल्योपनिषदप्युक्तं ॥

॥ तदेतदृचाभ्युक्तं क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः । स्वयं जुह्वत एकर्विश्रद्धयन्तः तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णधीयते ॥

॥ एतदभिप्रायमाह ॥ भाष्ये ॥ तदेतद्विद्या संप्रदानविधानमृचा मन्त्रेणाभ्युक्तमभिप्रकाशितं । क्रियावन्तो यथोक्त कर्मानुष्ठानयुक्ताः । श्रोत्रियाब्रह्मनिष्ठा अपरस्मिन्



ब्रह्मण्यभियुक्ताः परब्रह्मवुमुत्सवः स्वयमेकर्षिनामानमनि  
 जुह्वतेजुह्वति श्रद्धयन्तः श्रद्धधानाः सन्तो ये तेषामेव संस्कृ-  
 तात्मनां पात्रभूतानामेतां ब्रह्मविद्यां वदेत ब्रूयाच्छिरो व्रतं  
 प्रसिद्धं । शिरस्यऽग्निधारणलक्षणं । यथाऽथर्वणानां वेदं  
 व्रतंप्रसिद्धं । यैस्तु यैश्चतस्त्रीणं विधिवद्यथाविधानं तेषामेव  
 च वदेत ॥ इति ॥ मुण्डकेद्वितीयेऽखण्डेऽपि ॥ परीक्ष्य  
 लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणोनिर्व्वेद मायान्नास्त्यकृतः कृते-  
 न । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रिणं  
 ब्रह्मनिष्ठं ॥ इति ॥ तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रज्ञात  
 चित्ताय शमान्विताय । येनाक्षरं पुरुषं वेदसत्यंप्रोवाच ता-  
 तत्त्वतो ब्रह्मविद्यां ॥ इति ॥ स्मृतेश्च ॥ वैराग्यं परमेतस्य  
 मोक्षस्य परमोऽवधिरिति ॥ श्रुतिरपि ॥ प्रव्राजिनो लोक-  
 मिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति श्रुत्यासंन्यासस्य मोक्षाद्भवत्वमिति ॥  
 संन्यासादेव मोक्षो भविष्यति ॥ इति ॥

श्रुतिस्मृति पुराणैः संन्यासग्रहणं प्रसिद्धमेवात्मविक-  
 पुत्राद्येषणात्रय संन्यासेनात्मज्ञान निष्ठतयात्मारक्षितव्य-  
 त्येषवेदार्थः ॥ अथेतरस्यानात्मज्ञतयात्मग्रहणा शक्त्येषव-  
 पदिशतिमन्त्रः ॥ कुर्व्वन्नेवेह कर्माणीत्येतद्विधीयते ॥ इति  
 भावः ॥ स्मृतौ च ॥ वनवासात् परिश्रान्तः प्रव्रजेद्विषि-  
 र्व्वकं । व्याध्याविष्टो विरक्तो वा ब्रह्मवित् संन्यसेद्ब्रह्म-  
 ॥ १ ॥ इति ॥ संन्यसेद्ब्रह्मचर्य्येण संन्यसेद्वागृहादपि व-  
 द्वासंन्यसेद्दिद्वान् आतुरो वाथ दुःखितः ॥ २ ॥ आतुराणां  
 विशेषोऽस्ति न विधिर्न च क्रिया । प्रेषमात्रं स्तु संन्या-  
 आतुराणां विधीयते ॥ ३ ॥ इति ॥

( मनु ) अधीत वेद जपकृत् पुत्रवान् अन्नादोऽग्निमान् ॥  
 शक्त्या च यज्ञकृन्मोक्षे मनः कुर्यात्तु नान्यथा ॥ इति ॥४॥  
 दशभिर्जन्मभिर्वेदा वेदार्थाः शत जन्मभिः ॥  
 सहस्रजन्मभिः सोमः संन्यासः कोटि जन्मभिः ॥ ५ ॥  
 संन्यासे दशजन्मा च परंहंसो विधीयते ॥  
 अति वर्णाश्रमीभवेत् गुरुणां गुरुरुच्यते ॥  
 काषायं पाचयित्वा तु श्रेणीस्थानेषु च त्रिषु ॥  
 प्रव्रजेतु परंस्थानं परिव्रज्य मनुत्तमं ॥ ७ ॥  
 इत्यादि श्रुतिस्मृति पुराणेषु सर्व्ववाक्येषु पर्यालोचनया  
 अयमर्थउपगम्यते । अध्ययन् नियोग निवृत्त्युत्तरकालं यस्य  
 पुरुषस्य यथावस्थायां वैराग्यं जायते । तस्य ततएव संन्या-  
 सेऽधिकार एव । न तु युगभेदः कालभेदश्च विधिनिषेधौ  
 प्रतीयेते । यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेदिति श्रुतिः प्र-  
 सिद्धमेव ॥ ( ननु ब्राह्मणस्य संन्यास ग्रहणेऽधिकारत्वादित्युक्तं ) जावाल श्रुतेः ॥ ब्राह्मणाः प्रव्रजन्तीति ॥ दत्तात्रे-  
 योऽपि ॥ ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहादिति ॥ यम संवर्त्तबोधायन  
 प्रभृतयोऽप्युक्ताः ॥ ननु के ब्राह्मणा इत्याशंका ॥ अथ विचार  
 सापेक्षत्वात् ॥ ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातो ब्राह्मणइति ।

॥ ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैवोत्पन्नो ब्राह्मणः स्मृतः ॥ इति  
 हारीतोक्तेः ॥ अत्रि संहितायां दशविधब्राह्मणलक्षणान्यु-  
 क्तानीति तदाह  
 देवोमुनि द्विजो राजा वैश्यः शूद्रो निषादकः ॥  
 पशुम्लेच्छोऽथ चाण्डालो विप्रादशविधास्मृताः ॥ १ ॥



॥ कानिलक्षणानि दशविधानीति ॥ यथात्रिः ॥  
 सन्ध्या स्नानं जपो होमो देवता नित्यपूजनम् ॥  
 अतिथिं वैश्वदेवञ्च देवब्राह्मण उच्यते ॥ २ ॥  
 शाके पत्रे फले मूले वनवासे सदारतः ॥  
 निरतोऽहरहः श्राद्धे स विप्रो मुनिरुच्यते ॥ ३ ॥  
 वेदान्तं पठते नित्यं सर्व्वसंगं परित्यजेत् ॥  
 सांख्ययोग विचारस्थः स विप्रो द्विज उच्यते ॥ ४ ॥  
 अस्त्राहताश्च धन्वानः संग्रामे सर्व्वसन्मुखे ॥  
 आरम्भे निर्जिता येन स विप्रः क्षत्र उच्यते ॥ ५ ॥  
 कृषिकर्मरतो नित्यं गवाञ्च प्रतिपालकः ॥  
 वाणिज्य व्यवसायश्च स विप्रो वैश्य उच्यते ॥ ६ ॥  
 लाक्ष्यालवण संमिश्रं कुसुमं क्षीर सर्पिषः ॥  
 विक्रेता मधुमांसानां स विप्रः शूद्र उच्यते ॥ ७ ॥  
 चौरश्च तस्करश्चैव सूचको दंशकस्तथा ॥  
 मत्स्यमांसे सदालुब्धो विप्रो निषाद उच्यते ॥ ८ ॥  
 ब्रह्मतत्त्वं न जानाति ब्रह्मसूत्रेण गर्वितः ॥  
 तेनैव स च पापेन विप्रः पशुरुदाहृतः ॥ ९ ॥  
 वापीकूपतडागानामारामस्य सरः सुच ॥  
 निःशङ्करोपकश्चैव विप्रः सम्लेच्छ उच्यते ॥ १० ॥  
 क्रियाहीनश्च मूर्खश्च सर्व्वधर्म विवर्जितः ॥  
 निर्दयः सर्व्वभूतेषु विप्रश्चाण्डाल उच्यते ॥ ११ ॥  
 ॥ इति दशविध ब्राह्मणा उक्ताः ॥  
 ॥ एवं पद्मपुराणेऽपि विप्रस्य लक्षण माह ॥

॥ नारद उवाच ॥ कश्च पूज्यतमो विप्रो ह्यपूज्यो वाथ  
को भवेत् ॥ विप्रस्य लक्षणं ब्रूहि यथातथ्यं गुरोरापि ॥१॥

॥ ब्रह्मोवाच ॥ पूज्यः श्रोत्रियको नित्यं सदाचारसमन्वितः ॥  
सद्ब्रतः कलुषैर्मुक्तस्तीर्थभूतो जनोनघ ॥ २ ॥

॥ नारद उवाच ॥ ज्ञातः कः श्रोत्रियस्तात सत्कुले वाप्यसत्-  
कुले ॥ सदसत्कर्मकर्त्ता वा कः पूज्यो भूमेवाङ्गवः ॥ ३ ॥

॥ ब्रह्मोवाच ॥ सच्छ्रोत्रियकुलेजातः अक्रियो नैव पूजितः ॥  
असत् क्षेत्रकुले पूज्यो व्यासवैभाण्डकौ यथा ॥ ४ ॥

क्षत्रियाणां कुलेजातो विश्वामित्रोऽस्ति मत्समः ॥  
वेश्यापुत्रो वसिष्ठश्च अन्ये सिद्धाद्विजातयः ॥ ५ ॥

तस्मात् सच्छ्रोत्रियादीनां शृणु पुत्रक लक्षणं ॥  
धरायां तीर्थभूतानां सर्वपापहराय च ॥ ६ ॥

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते ॥  
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रियलक्षणमिति ॥ ७ ॥

॥ व्याससंहितायां ॥ ब्रह्मबीजसमुत्पन्नो मन्त्रसंस्कारव-  
र्जितः ॥ जातिमात्रोपजीवी च स भवेद् ब्राह्मणः समः ॥८॥

गर्भाधानादिभिर्मन्त्रैर्वेदोपनयनेन च ॥

नाध्यापयति नाधीते स भवेद् ब्राह्मणब्रुवः ॥ ९ ॥ इति ॥

॥ अत्रिसंहितायां ॥ जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज  
उच्यते ॥ विद्यया याति विप्रत्वं श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च ॥ १० ॥

वेदशास्त्राण्यधीते यः शास्त्रार्थश्च निषेवते ॥

तदासौ वेदवित् प्रोक्तो वचनन्तस्य पावनमिति ॥ ११ ॥

॥ अस्य विचारः ॥ ननु पूर्वोक्ताऽत्रिवचने दशविधब्रा-



ह्यणस्य लक्षणमुक्तं ॥ तेषां ब्राह्मणानां मध्ये कः संन्यास  
ग्रहणे अधिकारी स्यात् । इति । तेषां मध्ये त्रिषु देवमुनि-  
द्विजब्राह्मणलक्षणेषु संन्यासग्रहणे ऽवश्यमेवाऽधिकारोऽस्ति ॥  
अन्येषु सप्तसु राजन्यचाण्डालपर्यन्तेषु ब्राह्मणलक्षणेषु यानि  
ब्राह्मणलक्षणानि उक्तानि तेषां संन्यासग्रहणमयुक्तमेव ।  
यतः पातित्यदर्शनात् स्वधर्मपरित्यागविरूद्धत्वात् ॥ पति-  
तस्य संन्यासग्रहणे निषेधं दर्शयति ॥ नारद परिव्राजको-  
पनिषदि ॥

पतितस्य परद्वारि वैखानसहरद्विजाविति ॥ १ ॥

॥ संन्यासोपनिषदि च ॥ आरूढ पतितापत्यं ॥ २ ॥

संप्रत्यवसि<sup>ता</sup>नाञ्च महापातकिनां तथा ॥ इति ॥ ३ ॥

जानीयादन्त्यजं विप्रं नैव संन्यास मर्हति ॥ इति ॥ ४ ॥

व्यात्यानामभिः शस्तानां संन्यासं नैव कारयेत् ॥ इति ॥ ५ ॥

( स्मृतिश्च ) ( स्वधर्मं च्युतत्वात् पातित्यं दर्शयति )

॥ यः स्वधर्मपरित्यागी पाषण्डी त्युच्यते बुधैः ॥ इति ॥ ६ ॥

असिजीवी मसिजीवी देवलो ग्राम्ययाजकः ॥

धावकः पाचकश्चैव षडेते पतिता द्विजाः ॥ ७ ॥

बालकश्चापि पातकी ॥ इति श्रुतेः ॥ ८ ॥

( शंखसंहितायां ) विप्राः शूद्रसमा स्तावद्विज्ञेयास्तु  
विचक्षणैः ॥ यावद्वेदेन जायन्ते द्विजाज्ञेयास्तु तत् परम् ॥ ११ ॥

( इत्यादिवचनैः प्रमाणैः पतितब्राह्मणस्य संन्यासग्रहणं  
निषिद्धं प्रतीयते ॥ ( एवं पञ्चपुराणे ऽपि )

( श्रोत्रियस्य संन्यासग्रहणं प्रतिद्वमस्ति यद्यक्रियः  
स्यात् तदा संन्यासग्रहणेऽनर्हस्तदर्शयति ॥ )

विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रियलक्षण मिति ॥ १० ॥  
जन्मना जायते विप्रः । इत्यादि पूर्व्वेणोक्तं ॥

सच्छ्रोत्रिये कुलेजातः अक्रियो नैव पूजितः । इति

( मनुः ) ॥ पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान्  
शठान् हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ ११ ॥

( पराशरसंहितायां ) सेतुबन्धपथे भिक्षां चातुर्व्वर्ण्यात्  
समाचरेत् । वर्ज्जयित्वा विकर्मस्थां शूत्रोपानद्विवर्जितः १२

( भगवद्गीतायां ) स्वभावनियतंकर्म कुर्व्वन्नाप्नोति  
किल्बिषम् ॥ १३ ॥

( ३ अध्याये ) ततःस्वधर्मं कीर्तिंश्च हित्वा पापमवाप्-  
स्यसि ।

( २ अध्याये ) श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्व-  
नुष्ठितात् । स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ १४ ॥  
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसा वृता ॥

सर्व्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ इति ॥

( याज्ञवल्क्य संहितायां पातित्यं दर्शयति )

रोगी हीनातिरिक्ताङ्गः काणः पौनर्भवस्तथा ॥

धवकीर्णी कुण्डगोलौ कुनखी श्यावदन्तकः ॥ १ ॥

मातृपितृगुरुत्यागी कुण्डाशी वृषलात्मजः ॥

परपूर्वापतिः स्तेनः कर्मदुष्टाश्च निन्दिताः ॥ २ ॥

भृतकाध्यापकः क्लीबः कन्यादूष्यभिज्ञस्तकः ॥



मित्रधुक् पिशुनः सोमाविक्रयी च विनिन्दकः ॥ ३ ॥

वेदाभ्यासरतं क्षान्तं महायज्ञक्रियारतं ॥

न स्पृशन्तीह पापानि महापातकजान्यपि ॥ ४ ॥

( इत्यादि वचनेन पतितस्य अक्रियस्य च संन्यासग्रहणे ऽनर्हत्वात् ॥ इति पूर्वमुक्तं ॥ पतितसंबन्धे बहुतरं प्रमाण मस्ति किंतु ग्रन्थबाहुल्यभयान्नोक्तमिति ॥ )

( ननु पूर्वोक्त व्यासवचने निर्दिष्टं ब्रह्मबीज समुत्पत्तो ब्राह्मण इति ॥ अत्रि संहितायामपि )

॥ जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः ॥ इति ॥ पद्मपुराणे ऽपि जन्मना जायते विप्रः ॥ अन्ये ऽपि ॥ जन्मना जायते विप्रः ॥ केचित् जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते । वेदपाठा भवेद्विप्रः ब्रह्मजानाति ब्राह्मणः ॥ इत्यादि वचनेन परस्पर- विरोधः प्रतीयते अतएव एतद्विषये विचारसापेक्षत्वं मस्ति । यद्यपि जन्मना जायते शूद्र इति पाठः प्रसिद्धः स्यात् । ततो भागवते यदुक्तं प्रसिद्धमेव तत्प्रमाणविरोधः स्यात् । भागवते यदुक्तं तदाह ॥ परीक्षितराजानं प्रति समिक ऋषिपुत्रः शृङ्गी गोगर्भजातो बालको ऽपि यत् शापं दत्तवान् तद् ब्रह्मशापे परीक्षितो राजाहतः ( बालकः शृङ्गी तत् प्रमाणमाह ) । ऋषेस्तस्यतु पुत्रोऽभूद्गविजातो महायज्ञाः । शृङ्गीनाम महा- तेजा स्तिग्मवीर्योऽतिकोपनः ॥

किंपुनर्बाल एवत्वं तपसा भावितः सदा ॥

पुत्रत्वं बालतां चैव तत्रावेक्ष्य च साहसं ॥ १ ॥

कस्मादिदं त्वया बाल्यात् सहसा दुष्कृतं कृतं ॥

नह्यर्हति नृपः शापमस्मत्तः पुत्र सर्व्वथा ॥ २ ॥ इति ॥

(तथाच जन्मना जायते शूद्र इति पाठे कथं गोगर्भजातेन तेन ब्रह्मशापः संभवति स्पष्टञ्च ब्रह्मशापः प्रतीयते । अतएव व्यासादिवचनेन यदुक्तं प्रसिद्धमेव तु तत् ॥ एवं महाभारतेऽपि गरुडं प्रति विनता वाक्यं ॥ किरातभक्षणे किरातानां मध्ये एको ब्राह्मणोऽस्ति । हे पुत्र तन्न भक्षय इत्यसंस्कारस्यापि ब्राह्मणत्वं प्रतीयते । एवं युधिष्ठिरं प्रति ॥ अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुगिति भगवद्वचनेन ब्रह्मबीजो ब्राह्मण इति प्रसिद्धं न तु शूद्रइति ॥ ब्राह्मणानां मध्ये यद्यपि पणितः स्यात्तर्हि संन्यासग्रहणमयोग्यमेव । पूर्व्वोक्त निषिद्ध वचनादिति ( अथवा ) जन्मनाजायेत शूद्रः संस्कारादृद्धिज उच्यते इति पाठे पूर्व्वोक्त व्यासात्रिहारीतादिप्रभृतीनां वचनैर्विरोधः स्यात् एवं पुराणेऽपि विरुद्धं प्रतीयते ॥ जन्मनाजायते विप्र इति पाठो युक्तः ॥ किंतु जन्मनाजायते शूद्र इति वचने जातित्वं निर्दिष्टं नास्ति । किमत्र ब्राह्मणस्य शूद्रत्वं । किंवा क्षत्रियस्य । किंवा वैश्यस्य । किं शूद्रस्य वा जायते इति निर्दिष्टं नास्ति ॥

सामान्याकारेणोक्तं प्रतीयते ॥ अतएव विचारसापेक्षत्वं । कोनाम ब्राह्मणः । उत्तरमाह ॥ ब्राह्मणस्य कन्यायां ब्राह्मणेन विवाहितायां भार्यायां जातः पुत्रः स एव ब्राह्मणः । इति ॥

तत् प्रमाणं हारीतसंहितायां । ब्राह्मण्या ब्राह्मणेनैव मुत्पन्नो ब्राह्मणः स्मृतः । एवं व्यासादि वचनेऽप्युक्तं ॥ विष्णु-



संहितायां यदुक्तं नदाह ॥ अथ ब्राह्मणस्य वर्णानुक्रमेण चत-  
स्रोभार्या भवन्ति । तिस्रः क्षत्रियस्य । द्वे वैश्यस्य । एका  
शूद्रस्येति ॥ तासां सवर्णविदने पाणिग्राह्यः असवर्णविदने  
शरः क्षत्रियकन्यया । प्रतोदो वैश्यकन्यया । वसनदशान्त  
शूद्रकन्यया ग्राह्यः ॥ इति ॥

न सगोत्रां न समानार्षप्रवरां भार्या विन्देत पृथक्  
पृथक् रूपेण विवाहादिकार्यमुक्तं । पुनरपि विष्णुः । अनुलोम  
एवं प्रतिलोमे विशेषोऽस्ति । प्रतिलोमस्त्रियां यत् पुत्रादि  
उत्पन्नं तदार्येण निन्दनीयमिति ॥ सवर्णाभार्यायां यः  
पुत्र उत्पन्नो ब्राह्मणबीजस्य तस्य ब्राह्मणत्वं एवं क्षत्रियस्य  
क्षत्रियत्वं वैश्यस्य वैश्यत्वं एवं शूद्रबीजस्य शूद्रत्वमिति शास्त्रे  
निर्देशात् (सिद्धान्तमाह) यद्यपि जन्मना जायते शूद्र इति

निर्दिष्टस्यात् पूर्वोक्त ऋषिवचने यन्निर्दिष्टमस्ति तद-  
व्यर्थं स्यात् एव ( अपितु ) शूद्रकन्यायां ब्राह्मणविवाहि-  
तायां जातो यः पुत्रः सोऽपि शूद्रत्वेन निर्दिष्टः शास्त्रे । त-  
पुत्रस्य ब्रह्मसंस्काराभावात् ॥ इति ॥

यद्यपि संस्काराद्वादेज उच्यते इत्युक्तं तदपि शू-  
द्रपुत्रस्य संस्कारेण द्विजत्वं संभवतीति चेत्तत्र ॥ सव-  
र्णाभार्यायां यद्यद् बीजेनोत्पन्नं तत्तत् जातित्वमुक्तं  
किंतु यदि च संस्कारेण द्विजत्वं स्यात् तर्हि सर्वेषामन्य-  
दीना मपि संस्कारेण द्विजशब्दवाच्यत्वं ऽस्यादिते तत्र  
हि ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च सर्वेषां एकजातीयत्वं  
भवति । इति महान् दोषो वर्त्तते । श्रुतिस्मृतीतिहासपुराण-

पृथक् पृथक् रूपेण वर्णाश्रमधर्मश्च यन्निर्दिष्टोऽस्ति सोऽपि  
व्यर्थः स्यात् ( तत् प्रमाणं श्रुतिराह )

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः ।

ऊरूतदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत इति

( भगवद्गीतायां ) चातुर्वर्णं मया सृष्टं गुणकर्म-

विभागशः । इति हारीत संहितायां ॥ २ ॥

यज्ञसिद्ध्यर्थं मघवान् ब्राह्मणान् मुखतोऽसृजत् ।

असृजत् क्षत्रियान् बाह्वो वैश्यान्प्युरुदेशतः ॥ ३ ॥

शूद्रांश्च पादयोः सृष्ट्वा तेषाञ्चैवानुपूर्वशः ।

यथा प्रोवाच भगवान् ब्रह्मयोनिः पितामहः ॥ ४ ॥

( मनुः ) लोकानां च विवृद्धयर्थं मुखबाहूरुपादतः ।

ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्त्तयत् । इत्यादि ॥ ५ ॥

श्रुतिस्मृतिपुराणेषु बहूतरं प्रमाणमस्ति पृथक् पृथक्

रूपेण जाति धर्म कर्मणां च विधानात् जातिभेदो

निर्दिष्ट एव भवति इतरथा वर्णसंकरत्वं जायते । संकरस्य

दोषमाह ॥ भगवद्गीतायां ॥ अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति

कुलस्त्रियः । स्त्रिषु दुष्टासु वाष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ६ ॥

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ७ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।

उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ८ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।

नरके नियतं वासोभवतीत्यनु शुश्रुम ॥ ९ ॥



इत्यादि वचनेन जात्यन्तर दोषदृष्टेण<sup>न</sup> स्वजातीयस  
सवर्णाभार्यायां जातपुत्रस्य तज्जातित्वं सिद्धं । एवं पूर्वोक्त  
व्यासादि वचने ब्रह्मबीजस्य ब्राह्मणत्वं सिद्ध मिति ॥

( पुनरपि ) यद्यपि संस्कारात् द्विजो भवति तथापि शू  
द्रस्य ब्रह्मसंस्काराभावात् । एकाश्रमैकसंस्कारविधानात्  
एवंकर्म द्विजातिशुश्रूषा स्वधर्म एव निर्दिष्टं ॥

॥ तत् प्रमाणमाह मनुसंहितायां ॥

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।

एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ १ ॥

( विष्णुसंहितायां ) द्विजस्य भार्या शूद्रा तु धर्मापेक्ष  
भवेत् क्वचित् । रत्यर्थमेव सा तस्य रागान्धस्य प्रकीर्ति  
हीनजाति स्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः ।

कुलान्येव नयन्त्याशु स सन्तानानि शूद्रतां ॥ ३ ॥

दैवपितृयातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु ।

नाश्नन्ति पितृदेवास्तु न च स्वर्गं स गच्छति ॥ ४ ॥

( कात्यायनसंहितायां ) नात्रशूद्रीं प्रयुञ्जीत न द्रोहो  
कारिणी । न चैवा व्रतस्थानान्यपुंसा च सहसंगतां ॥ ५ ॥

( पराशर संहितायां ) शूद्रकन्यासमुत्पन्नो ब्राह्मणे  
तु संस्कृतः । संस्कृतस्तु भवेद्दासो ह्यसंस्कारैस्तु नापितः ॥ ६ ॥

( व्यास संहितायां ) विप्रवद्विप्रविन्नासु क्षत्रविन्नासु  
वत् । जातकर्माणि कुर्वीत ततः शूद्रासु शूद्रवत् ॥ ७ ॥  
अधमादुत्तमायान्तु जातः शूद्राधमः स्मृतः ।

ब्राह्मणातिक्रमो नास्ति विप्रे वेदविवर्जिते ॥ ८ ॥

ज्वलन्तमग्निमुत्सृज्य नहि भस्मनि दूयते ।

( चातुर्वर्णोत्पत्तिं वसिष्ठ संहिताया माह )

प्रकृति विशिष्टं चातुर्वर्ण्यं संस्कार विशेषाच्च ॥ ९ ॥

ब्राह्मणो ऽस्यमुखमासीद्वाहू राजन्यः कृतः ॥

ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो ऽजायतेति ॥ १० ॥

गायत्र्या छन्दसा ब्राह्मणमसृजत् ॥ त्रिष्टुभाराजन्यं ।

जगत्या वैश्यं ॥ न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो

विज्ञायते ॥ जन्मनाजायते शूद्र इति पाठे विप्रस्य पुत्रः ।

असंस्कारात् शूद्रवदुक्तं वसिष्ठसंहितायामुपसंहरति ॥ )

न त्वस्य विद्यते कर्म किञ्चिदामौल्लिखन्धनात् । वृत्त्या

शूद्रसमो ज्ञेयो यावद्वेदे न जायते ॥ इति शूद्रस्य विधिनिषि

द्धं समाप्तं ॥

एवं च पूर्वोक्तवचनैः ब्राह्मणस्य चतुर्थाश्रम स्त्रीकारस्य

श्रुतिस्मृतिपुराणेषु प्रसिद्धत्वात् ॥ क्षत्रियवैश्ययोः तुर्य्याश्रमं

लिङ्गधारणं च नास्तीतितत् प्रमाणमाह ॥ ( दत्तात्रेयः )

गतिस्तुर्य्याश्रमे नास्ति बाहुजोरुजयोः क्वचित् ॥

तुर्य्याश्रमो गतिः प्रोक्ता मुखजानां स्वयंभुवा ॥ १ ॥

( वृद्धयाज्ञवल्क्योऽपि ) चत्वारो ब्राह्मणस्योक्ता आश्रमाः श्रुति-

चोदिताः ॥ क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ता द्वावेको वैश्य शूद्रयोः ॥ २ ॥

( ब्रह्मपुराणेऽपि ) चत्वार आश्रमाश्चैव ब्राह्मणस्य प्रकीर्तिताः ॥

गार्हस्थ्यं ब्रह्मचर्य्यं च वानप्रस्थं त्रयोमताः ॥ ३ ॥

क्षत्रियस्यापि कथिता आश्रमास्तत्र एवहि ॥



ब्रह्मचर्यञ्च गार्हस्थ्यमाश्रमद्वितयं विशः ॥ ४ ॥  
गार्हस्थ्यमुचितन्त्वेकं शूद्रस्य क्षणमाचरेदिति ॥

( वामनपुराणे पञ्चदशाऽध्याये )

गार्हस्थ्यं ब्रह्मचर्यञ्च वानप्रस्थं त्रयाश्रमः ॥  
क्षत्रियस्यापि गार्हस्थ्यं य आचारो द्विजस्य हि ॥ ५ ॥  
दशांगो राक्षसश्रेष्ठ धर्मोऽसौ सार्ववर्णिकः ॥  
ब्राह्मणस्यापि विहिता चतुराश्रम कल्पना ॥ ६ ॥

( क्षत्रिय वैश्ययोर्लिंगधारणे निषिद्धवचनमाह )

( शाब्दायनीयोपनिषदि ॥ )

विष्णुलिंगं द्विधा प्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तमेव च ॥  
तयोरेकमपि त्यक्त्वा पतत्येव न संशयः ॥ ७ ॥  
त्रिदण्डं वैष्णवं लिंगं विप्राणां मुक्तिसाधनं ॥  
निर्वर्णं सर्वधर्माणामिति वेदानुशासनं ॥ ८ ॥  
॥ विष्णु पुराणे ॥ मुखजानामयं धर्मो वैष्णवं लिंगधारणं  
बाहुजातोरुजातानां नायं धर्मो विधीयते ॥ ९ ॥  
॥ दत्तात्रेयः ॥ मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिंगधारणं  
राजन्य वैश्ययोर्नेति दत्तात्रेय मुनेर्वचः ॥ १० ॥  
आत्मपुराणेऽपि ॥ नाना योगाश्रमे तुर्ये लिंगधारणं  
वैष्णवं धारये लिंगं विप्र एव न चापरः ॥ ११ ॥  
॥ शान्ति पर्वणि ॥ ब्राह्मणस्य तु चत्वारः स्थाश्रमा विहिते  
प्रभो । वर्णास्तान्नुवर्तन्ते त्रयो भरतसत्तम ॥ १२ ॥  
त्यं धर्मं क्षत्रियो ब्रह्मचारी चरेदेको ह्याश्रमं धर्मकाम

चातुराश्रम्यधर्माश्च वेदधर्माश्च पार्थिव ॥ १३ ॥

ब्राह्मणेनानुगन्तव्या नान्यो विद्यात् कदाचन ॥

त्यागं श्रेष्ठं मुनयो वै वदन्ति सर्वश्रेष्ठं यच्छरीरं त्यजेत ॥

नित्यं युक्ता राजधर्मेषु सर्वे प्रत्यक्षन्ते भूमिपाला यथैव १४

॥ शान्तिपर्वणि युधिष्ठिरवाक्यं ॥

तपसा महदाप्नोति बुद्ध्या वै विन्दते महत् ॥ १५ ॥

त्यागेन सुखमाप्नोति सदा कौन्तेय तत्त्ववित् ॥

भ्रातुरस्य हितं वाक्यं शृणु धर्मज्ञ सत्तम ॥

दण्ड एवहि राजेन्द्र क्षत्रधर्मो न मुण्डनं ॥ १६ ॥

चरितब्रह्मचर्य्यस्य ब्राह्मणस्य विशांपते ॥

भैक्षचर्यास्वधिकारः प्रशस्त इह मोक्षिणः ॥ १७ ॥

क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तन्ते वक्ष्यामि भारत ॥

दद्याद्राजन् न याचेत यजेत न च याजयेत् ॥ १८ ॥

नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत् ॥

क्षत्रियो नास्य तत् कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥ १९ ॥

॥ क्षत्रियस्य भिक्षाटनं निषिद्धमाह । शान्तिपर्वणि

भीष्मवाक्यं ॥ चातुराश्रम्य धर्माश्च यतिधर्माश्च पा-

ण्डव ॥ लोकवेदोत्तराश्चैव क्षात्रधर्मे समाहिताः ॥ २० ॥

चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यधर्माः सर्वे न स्यु ब्राह्मणानां वि-

नाशात् ॥ भूसंस्कारं राजसंस्कारयोगमभैक्ष्यचर्य्यं पालनं

च प्रजानां ॥ २१ ॥ चातुर्वर्ण्यस्थापनात्पालनाच्च तै

स्तै र्योगे नियमै रौरसैश्च ॥ सर्वोद्योगैराश्रमं धर्मं

माहुः क्षत्रं श्रेष्ठं सर्वधर्मोपपन्नं ॥ २२ ॥ स्वस्वं धर्मं



ये न चरन्ति वर्णां स्तां स्तान् धर्मानन्यथार्थान् वदन्ति ॥  
 अन्यथा वर्तमानस्य नासौ वृत्तिः प्रकल्प्यते । कर्मणा व-  
 र्द्धते धर्मो यथा धर्मस्तथैवसः ॥ २३ ॥ मातापित्रो हि  
 शुश्रूषा कर्त्तव्या सर्व्वदस्युभिः ॥ आचार्य्यगुरुशुश्रूषा त-  
 थैवाश्रमवासिनां ॥ २४ ॥ यदा न भावं कुरुते सर्व्वभूतेषु  
 पापकं ॥ कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा इति २५

॥ देवी भागवते हरिश्चन्द्रराजवाक्यमाह ॥

नाहं प्रतिग्रहं काङ्क्षे क्षत्रियोऽहं सुमध्यमे ॥  
 याचनं खलु विप्राणां क्षत्रियाणां न विद्यते ॥ २६ ॥  
 गुरुर्हि विप्रो वर्णानां पूजनीयोऽस्ति सर्व्वदा ॥  
 तस्माद्गुरुर्न याच्यः स्यात् क्षत्रियाणां विशेषतः ॥ २७ ॥  
 यजनाध्ययनं दानं क्षत्रियस्य विधीयते ॥  
 शरणागतानामभयं प्रजानां प्रतिपालनम् ॥ २८ ॥  
 न चाप्येवं तु कर्त्तव्यं देहीति कृपणं वचः ॥

( इति क्षत्रियवैश्ययोर्भिक्षाटनं लिङ्गादिधारणंच निषिद्ध-  
 मुक्तं ॥ ) [ अथेदानीं रघुनन्दन भट्टाचार्य्येण मलमासतले  
 पराशरभाष्यं यदुक्तं तदाह ]

( ब्रह्मपुराणे ) चत्वार आश्रमाश्चैव ब्राह्मणस्य प्रकीर्तिताः ।  
 गार्हस्थ्यं ब्रह्मचर्य्यञ्च वानप्रस्थं त्रयोमताः ॥ १ ॥  
 क्षत्रियस्यापि कथिता आश्रमा स्त्रयएवहि ॥  
 ब्रह्मचर्य्यञ्च गार्हस्थ्यं माश्रमद्वितयं त्रिशः ॥ २ ॥  
 गार्हस्थ्यं मुचितं न्त्वेकं शूद्रस्य क्षणमाचरेत् ॥  
 क्षणमुत् सवरूपं । यत्तु प्रव्रज्यावसिता यत्र त्रयोवर्णादिजातक

निर्वासं कारयेद्विप्रं दासत्वं क्षत्रवैश्ययोः ॥ ३ (इति का-  
त्यायनेनोक्तं तद्युगभेदादत्रिरुद्धं । प्रव्रज्यावसिताः प्रव्रज्या  
न्युताः ॥ अतएव अश्वमेधं गवालंभं संन्यासंपलपैतृकं ।  
देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥ ४ ॥ इति अतग-  
चीन

(इति कलौ संन्यास निषेधकं क्षत्रियवैश्यविषयमिति ॥

कलौ विप्रस्यैवाधिकारः । ब्राह्मणाः प्रव्रजन्तीति जावालश्रुतिः  
एवञ्च आत्मन्यग्नीन् समाधाय ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात् ।  
मनूक्तेश्चेति विज्ञानेश्वरादयः । वृद्धयाज्ञवल्क्योपि ॥ ) चस्वा  
रोब्राह्मणस्योक्ता आश्रमाः श्रुतिचोदिताः । क्षत्रियस्य त्रयः  
प्रोक्ता द्वावेको वैश्यशूद्रयोः ॥ ५ ॥ इति । माधवस्तु मनु  
वचनस्य ब्राह्मणः क्षत्रियो वाथ वैश्योऽपि प्रव्रजेद्गृहात् ।  
इति विश्वरूपलिखितस्य च युगभेदादविरोधः संभवति ।

शूलपाणे याज्ञवल्क्य टीकायां शेषवचनानामनाकर-  
त्वाभिधानं हेयं ॥ तत् कृत प्रायश्चित्तविवेकधृतपूर्वोक्त  
कात्यायनवचनविरोधः स्यात् । मिताक्षरायान्तु ब्राह्मणाः  
प्रव्रजन्तीति श्रुतेः । अग्रजन्मन एवाधिकारो न द्विजातिमात्र-  
स्य । अन्येतु त्रैवर्णिकानां प्रकृतत्वात् । त्रयाणां वर्णानां  
वेदानधीत्यचत्वार आश्रमा इति सूत्रकारवचनात् । द्विजाति-  
मात्रस्यावृत्तिरितिलिखितं । कौन्माद्युक्तेः । वर्णत्रयस्याप्य  
धिकारः ॥ पूर्ववाक्यन्तु काषायवस्त्र वण्डादिनिषेधार्थं  
ब्राह्मणपरं वेति ॥

॥ इति रघुनन्दन भट्टाचार्येण यदुक्तं तत् समाप्तं ॥

अथ निर्णयसिन्धौ संन्यासविधौ यदुक्तं तदाह ।



(याज्ञवल्क्यः) वनाद्गृहाद्वा कृत्वेष्टिं साव्वेद सदाक्षिणां ॥  
प्राजापत्यां तदन्तेतानग्नीनारोप्य चात्मनि ॥ १ ॥

अधीतवेदो जयकृत् पुत्रवानन्नादो ऽग्निमान् ॥  
शक्त्याच यज्ञकृत् मोक्षे मनः कुर्यात्तु नान्यथा ॥ २ ॥

(एतदाश्रम समुच्चयपक्षे) जावालश्रुतौ त्वन्ये ऽपि पक्षा  
उक्ताः ॥ यदि चेतरेथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहादनाद्वा ।  
अथ पुनरव्रती वा स्नातको वा ऽस्नातको वोत् सन्नाग्निको वा  
यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदिति ॥ अंगिराः ॥

प्रव्रजेद्ब्रह्मचर्याद्वा प्रव्रजेद्वा गृहादपि ॥  
वनाद्वा प्रव्रजे द्विद्वानातुरो वाथ दुःखितः ॥ ३ ॥

आतुरो मुमुर्षुः दुःखितश्चौरव्याघ्रादिभीतः ॥  
(महाभारते) आतुराणाञ्च संन्यासे न विधिर्नैव च क्रियाः ॥  
प्रेषमात्रं समुच्चार्य संन्यासं तत्र पूरयेत् ॥ ४ ॥

(जावाल श्रुतिरपि) यद्यातुरः स्यात् मनसा वाचा  
संन्यसेदिति ॥ अत्र विप्रस्यैवाधिकारः ॥ ब्राह्मणाः प्रव्रजन्तीति  
जावाल श्रुतः । आत्मन्यग्नीन् समारोप्य इति पूर्वमुक्तं ।  
मनूक्तेश्चेति विज्ञानेश्वरादयः । वृद्धयाज्ञवल्क्योऽपि चत्वारो  
ब्राह्मणस्योक्ता इत्युक्तवान् । (माधवस्तु) ब्राह्मणः क्षत्रियो  
वाथ वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहादिति कौर्म्माद्युक्ते वर्णत्रयस्यापि  
धिकारः । पूर्वं वाक्यन्तु काषायवस्त्र दण्डादिनिषेधार्थं ॥  
कृत्वाकन्थां बहिर्वासो धारयेद्वातु रञ्जितं ॥

काषायं ब्राह्मणस्योक्तं घातुरक्तन्तु योगिनां ॥ १ ॥  
इति मुखजानामयं धर्म इति पूर्वोक्तेः ॥

तत्त्वन्तु कुटीचकादि परमेतदिति । योऽपि संन्यासं पलपैतृक  
मिति कलौनिषेधः सोऽपि दण्डादि पर इत्युक्तं प्राक् ।

( निर्णयसिन्धौ यदुक्तं तत्समाप्तम् )

( आत्मपुराणेऽपि यदुक्तं तदाह )

क्षत्रियो वापि वैश्यो वा संन्यसेत्तु यदातदा ॥

अनावृत्तिं व्रजेदेष दण्डादि परिवर्जितः ॥ १ ॥

कौपीनादीन् गृह्णीयाद् ध्वर्यु प्रार्थनां विना ॥

संन्यासे तत् एवस्याद्नावृत्तिं द्वयोरपि ॥ २ ॥

क्षत्रियो वापि वैश्यो वा संन्यासी ऋषभादिवत् ॥

वीरमार्गेण देहं स्वं त्यजेदेवाऽविचारयन् ॥ ३ ॥

इति ॥ अस्यार्थमाह ॥ (जावालादौ वीराध्वना देहत्यागो  
य उक्तः स क्षत्रियादि संन्यासाभिप्रायेणैव । इति दर्शयति ॥  
यदि क्षत्रियो वैश्यो वा यदा संन्यासं लिंगवर्जितः सन्ननावृत्तिं  
पुनरावृत्तिहीनमध्वानं गच्छेदित्यर्थः ॥ यद्यपि तुर्ये पारिव्राज्य-  
रूपे योगप्रधाने आश्रमे नानाविधलिंगानां धारणमिष्टं प्रच्छन्न-  
त्वाय तथापि वैष्णवस्य लिंगस्य धारणेविप्र एवाधिकारी-  
त्यर्थः । (तदुक्तं) मुखजानामयं धर्म इत्यादि । यति लिंगं  
दण्ड कौपीनादि पार्थिवलिंगं छत्रचामरादि उक्तम् तयोरना-  
वृत्तिं पथगतौ हेतुमाह । ततोदयोः क्षत्रिय वैश्ययो रनावृत्तिः  
फलितेत्यर्थः । तथा च क्षत्रियादिः संन्यास ऋषभदेवादि  
वद्वीरमार्गेणशीघ्रं देहं त्यजेदित्याह ॥ क्षत्रियादि पदेन पाण्ड-  
वादिग्रहः ॥ वीरमार्गलक्षयति । अभीत इति शब्दः  
सिंहनादादि दंष्ट्रिणो व्याघ्रादयस्तेभ्यो भयरहितस्य शरीरप-



तनपर्यंतं यद्गमनमेतद्वीरमार्गपदेनोक्तमित्यर्थः ॥ ( एतेषा  
मभिप्रायमाह ) पूर्वोक्तं श्रुतिस्मृतिमते क्षत्रियवैश्ययोः  
तुर्याश्रमे गतिर्नास्तीत्युक्तं ॥ पौराणिकमतेऽपि विधिनियमौ  
प्रतीयेते परन्तु स्मार्त्तभट्टमते अश्वमेधंगवालम्भमित्यादि  
वचनेन कलौ क्षत्रियवैश्ययोर्निषेध उक्तएव ॥ किन्तु नि-  
र्णयसिन्धु मते क्षत्रियवैश्ययोः संन्यासग्रहणमस्ति तत्  
कुटीचकपरं ॥ नतु बहूदकं हंसपरमहंस परं ॥ पुत्रादिना  
कुटीकारयित्वा तत्रगृहे वा वसन् बन्धुषु स्वगृहे वा भुञ्जानः  
आत्मज्ञो भवेदिति ॥ संन्यासोपनिषदि कुटीचकलक्षणमाह ॥  
शिखा यज्ञोपवीति दण्डकमण्डलधरः कौपीनं शाटी कन्या-  
धरः पितृमातृ गुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्ष्यादिमात्र  
साधनपर एकत्रान्नादपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारीत्रिदण्डः ॥ इति  
कुटीचक लक्षणमुक्तं ब्राह्मणस्य पक्षे न तु क्षत्रियवैश्ययोः  
पक्षे यतो लिंगधारणं निषेधात् एतत् पूर्वोक्तं मिति ।

### ( स्कंदपुराणे )

कुटीचकश्च संन्यस्य स संयततिनित्यशः ॥

भिक्षामादाय भुञ्जीत स्वबंधूनां गृहेऽथवा ॥ १ ॥

शिखायज्ञोपवीती स्यात् त्रिदण्डी सकमण्डलुः ॥ इति  
एव मात्मपुराणे मते क्षत्रियवैश्ययोः तुर्याश्रमग्रहणं वी-  
राध्वानपरं । ऋषभादिवत् इति पूर्वोक्तम् ॥ महानिर्वाणतत्वे  
अवधूताश्रमधारणं लिंग दण्डादि धारणं पृथक् पृथक् रूपेण  
निर्दिष्टं इति पूर्वमुक्तम् ॥

॥ लिंगधारणे दोषमाह । मनुसंहितायां ॥

अलिङ्गी लिंगिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति ॥

स लिंगिनां हरत्येन स्तिर्यग् योनौ चजायते ॥ २ ॥

( विष्णु संहितायां त्रिनवतितमाऽध्याये )

अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति

सलिङ्गिनां हरत्येन स्तिर्यग् योनौ प्रजायते

इति लिङ्गादिधारणं निषिद्धमुक्तम् ननु पूर्वोक्तवृद्धयाज्ञवल्क्य  
मते क्षत्रियस्याश्रमास्त्रयः ब्रह्मचारी गृहस्थः वानप्रस्थइति  
कथिता वैश्यस्याश्रमद्वितयम् ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्यं च शूद्रस्यैको  
गार्हस्थाश्रमइति एवं ब्रह्मपुराणेपि क्षत्रियस्यत्रयो वैश्यस्यद्वौ  
शूद्रस्यैकआश्रमइति महाभारतेपि शान्तिपर्वण्यपि त्रयो-  
द्वावेकआश्रमइति दत्तात्रेयोपि गतिस्तुर्याश्रमेनास्तिबाहुजो  
रुजयोः कचिदिति ।

क्षत्रियवैश्ययोर्लिंगधारणेपिनिषेधउक्तः तदाह विष्णुपुराणे  
मुखजानामयंधर्मइति दत्तात्रेयेपि मुखजानामयंधर्म इति  
शाठ्यायनीयोपनिषदि त्रिदण्डवैष्णवं लिंगं विप्राणां मुक्ति  
साधनमिति आत्मपुराणेपि नानायोगाश्रमेतुर्ग्ये लिंग-  
धारणमिष्यते इति त्रिदण्डग्रहणादेवप्रेतत्वनैवजायते इत्यादि  
प्रमाणेषु पूर्वोक्त लिखितवचनेषु क्षत्रियवैश्ययोश्चतुर्षुयुगे-  
ष्वपि युगान्तरेचएवंयुगभेदेष्वपि परिव्राजकधर्मो नास्तिइति  
पूर्वोक्तवचनेऽभ्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेपि निषिद्धंप्रतीयते कुत्र-  
क्षत्रियवैश्ययोः संन्यासग्रहणमस्ति इतितदाह माधवेन तु व-



णत्रयस्याप्यधिकारउक्तो ब्राह्मणःक्षत्रियोवाथवैश्योवाप्रव्रजे  
 गृहात् इतिवचनेन क्षत्रियवैश्ययोः संन्यासग्रहणविधानादि-  
 ति एतद्वचनस्यसार्थकताकुत्र स्यात् यतः पूर्वोक्तनिषेधवचने  
 गतिस्तुर्याश्रमेनास्तीत्युक्तत्वात् सत्यम् यद्यपितीव्रवैराग्यः  
 स्यात्तदाद्यकुटीचकसंन्यासग्रहणपरत्वमेव नतुबहूदकहंस-  
 संन्यासपरत्वम् यतः पूर्वोक्तवचनेलिंगधारणादेर्निषिद्धत्वात्  
 यद्यप्याद्यकुटीचकस्य संन्यासेऽधिकारोऽस्ति तथापि अश्व-  
 मेधं गवालम्भमित्यादिवचनेन कलौसंन्यासग्रहणंनिषिद्धं प्र-  
 तीयते एतद्विषये स्मार्त्तभट्टाचार्योपिक्षत्रियवैश्ययोः पक्षे  
 निषेधमुक्तवान् एवं निर्णयसिन्धुकारोपि काषायवस्त्रदण्डादि-  
 लिंगधारणं निषिद्धमित्युक्तवान् परन्तु आत्मपुराणेपि वीर-  
 मार्गगमनं यत्क्षत्रियवैश्ययोः पक्षेसंन्यासग्रहणमुक्तम् तदा  
 क्षत्रियोवापि वैश्योवा संन्यासीऋषभादिवत् वीरमार्गेणदेहं सं-  
 त्यजेदेवाविचारयन् इतिवचनेन क्षत्रियवैश्ययोर्वीरमार्गात्  
 संन्यासलक्षणंप्रसिद्धमेव इतिवीरमार्गश्चपूर्वमुक्तः स्मृत्यन्तरात्  
 जडभरताद्युपाख्यानाच्चक्षत्रादेर्विरक्तस्यसंन्यासोभवत्येव पर-  
 न्तु दण्डादिलिंगंनास्ति प्रागुक्तवचने तस्यैव निषेधादिति  
 पुनरपिक्षत्रियवैश्ययोर्वीरमार्गेगमनंयदुक्तं तदपि निषिद्धं स-  
 यति। बृहन्नारदीयपुराणे समुद्रयात्रास्वीकारो महाप्रस्थानादि-  
 गमनपर्यन्तमिमाम्धर्मान्कलियुगेवज्यानाहुर्मनीषिणः इत्या-  
 द्युक्तेः कलौ वीरमार्गादिगमनंप्रतिषिद्धं प्रतीयतइति प्र-  
 पञ्च्यम्। यस्मात्तुर्याश्रमेगतिर्नास्तीतिनिषेधवचनात् एवंत-  
 यस्य त्रयः प्रोक्ताद्वावेकोवैश्यशूद्रयोरिति वचनाच्च श्रुतिस्त-

तिहासपुराणेषु क्षत्रियवैश्ययोः संन्यासग्रहणे कलौ निषेधः  
प्रतीयत इत्यभिप्रायः । अथवा श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे तु श्रुतिरेव  
गरीयसीति प्रासिद्धम् तथापि व्याससंहितायां प्रथमाध्याये  
श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते तत्र श्रौतं प्रमाणं तु  
तयोद्वैधे स्मृतिर्वरा ।

अतएव श्रुतिस्मृतिप्रमाणेन तुय्याश्रमे गतौ क्षत्रिय वैश्ययो  
रनधिकारः सिद्ध एव । यद्यपि पौराणिकोक्तवचनेऽधिकारो  
ऽस्ति तदपि आद्य कुटीचकसंन्यासपरं । इति निर्णयमि-  
न्धावप्युक्तं न तु बहुदक हंस परमहंसपरं ॥ तदपि कलौ  
निषिद्धमेव ॥ अश्वमेधं गवालम्भ मित्यादिवचनेन । वीरमार्गे  
यः संन्यास उक्तः सोऽपि कलौ निषिद्धः स्पष्ट एव बृहन्नारदीय  
पुराणे । इति भावः ॥

(ननु क्षत्रियवैश्ययोः संन्यासग्रहणेऽनधिकारोऽस्तु ।  
कथं स्त्रीशूद्रयोः संन्यासग्रहणं न स्यात् । इति न च वाच्यं ॥  
असंस्कारत्वात् एवं वेदमार्गे कर्मणि अनधिकारत्वाच्च ॥  
एवमपि पुराणादिकर्ममार्गे प्रणवादे रुच्चारणेऽनर्हत्वात्

(तदुक्तं व्याससंहितायां )

शूद्रो वर्णश्चतुर्थोऽपि वर्णत्वाद्धर्मं मर्हति ॥  
वेदमंत्रस्वधास्वाहावपद् कारादिभिर्विना ॥ १ ॥  
ब्राह्मण क्षत्रिय विश स्त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥  
श्रुतिस्मृति पुराणोक्त धर्मयोग्यास्तु नेतरे ॥ २ ॥



( एतद्वचनेन संन्यासग्रहणे ऽयोग्यो भवति )

यद्यपि स्त्रीशूद्रयोः स्तीव्रवैराग्यं स्यात् तदायकुटीचक  
संन्यासः । किंवा वीरमार्गो विधीयते । यथा मैत्रेयी गार्गी  
प्रभृतीनां यथाविदुरादीनां च तत्त्वविदां श्रुतिस्मृतीतिहास  
पुराणेषूपलंभात् ॥ किन्तु स्त्रीशूद्रयोः संन्यासादि ग्रहणं  
कुत्रापि शास्त्रे न दृष्टं एवं लिंगादिधारणं च निषिद्धमेव शास्त्रे  
प्रतीयते । तत् प्रमाणमाह ॥

( अत्रिसंहितायां ) जपस्तप स्तीर्थयात्रा प्रव्रज्या मंत्र-  
साधनं । देवताराधनं चैव स्त्रीशूद्रपतनानिषद् । )

( नृसिंह पूर्ववतापिन्युपनिषदि )

सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति । द्वारि-  
शदक्षरं साम जानीयाद् योजानीते सो ऽमृतत्वं च गच्छति  
सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात् स्त्रीशूद्रः स मृतो  
ऽधोगच्छति ॥ इति ॥ तस्मात् सर्वदा नाचष्टे यद्याचष्टे त  
आचार्य्य स्तेनैव मृतो ऽधोगच्छति ॥ इति ॥ ( छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थाध्याये शूद्रशब्दो यउक्तः स शूद्र वाच्यो  
न ॥ तत् दर्शयति ॥ )

तमुह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र इति ॥ ( अस्यापि )  
हारेत्वा हारेण युक्ता इत्वा मंत्रीसेयं हारेत्वा गोभिः सह तवैव  
स्तु तवैव तिष्ठतु न ममापय्याप्तेन कर्मार्थमनेन प्रयोजन  
मित्य भिप्रायो हे शूद्र इति ॥ ननु राजा ऽसौक्ष्मनृसंन्यास

सह क्षत्तारमुवाचयुक्तं । विद्याग्रहणाय च ब्राह्मणसमीपो  
पगमात् । शूद्रस्य चानधिकारात् । कथमिदमननुरूपं रैक्केणो  
च्यते हे शूद्रेति । तत्राहुराचार्याः ॥ हंसवनश्रवणात् शुगेन  
माविवेश । तेनासौ शुचाश्रुत्वा रैक्कस्य महिमानं वा द्रवती  
ति ऋषिरात्मनः परोक्षज्ञतां दर्शयन् शूद्र इत्याहेति । शूद्र  
वद्वा धनेनैवैनं विद्याग्रहणायोपजगाम न च शुश्रूषया । न  
तु जात्यैव शूद्र इति अपरे पुनराहुरल्पं धनमाहृतमिति रुषैवेन  
मुक्तवाञ्छूद्र इति । आजहारे माः शूद्र इति श्रुतेः ॥ शूद्रेति पूर्वो  
क्तानुकृतिमात्रं न तु कारणान्तरापेक्षया इति ॥ एवं शारीरकसूत्रे  
प्रमाणमाह ॥ (शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यतेहि)  
अस्यार्थः । शारीरक भाष्यं तदभिप्रायमाह ॥ यथामनुष्याधिकार  
नियममपोद्य देवादीनामपि विद्यास्वधिकार उक्तस्तथैव द्विजात्य  
धिकार नियमापवादेन शूद्रस्याप्यधिकारः स्यादित्येतामाशंकां  
निवर्त्तयितुं इदमधिकरणमारभ्यते । तत्र शूद्रस्याप्यधिकारः  
स्यादिति तावत् प्राप्तं । अर्थित्वसामर्थ्ययोः संभवात् तस्मा-  
च्छूद्रो यज्ञे ऽनवकृप्त इतिवत् शूद्रो विद्यायामनवकृप्त इति  
निषेधश्रवणात् । यच्च कर्मस्वनधिकारकरणं शूद्रस्यानगित्वं  
न तद्विद्यास्वधिकारस्यापवादकं । न ह्यावहनीयादिरहितेन  
विद्यावेदितुं न शक्यते । भवति च लिंगं शूद्राधिकारस्योपोद्व-  
लकं संवर्गं विद्यायां हि जानश्रुतिं पौत्रायणं शुश्रूषुं शूद्रशब्दे-  
न परामृशति । आजहारेत्वाशूद्र तवैव सहगोभिरस्तु इति  
श्रुतिः । विदुरप्रभृतयश्च शूद्रयोनिप्रभवा अपि विक्षिष्ट वि-  
ज्ञान संपन्नाः स्मर्यन्ते तस्मादधिक्रियते शूद्रो विद्यास्वित्येवं



प्राप्तेब्रूमः । न शूद्रस्याधिकारो वेदाध्ययनाभावात् । अधीतवेतो  
 हि विदित वेदार्थो वेदार्थेष्वधिक्रियते न च शूद्रस्य वेदाध्ययन  
 मस्ति, उपनयनपूर्वकत्वाद्देदाध्ययनस्य, उपनयनस्य च वर्ण  
 त्रयविषयत्वात् । यत्त्वर्थित्वं न तदसति सामर्थ्ये अधिकारकारणं  
 भवति । सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवलमधिकारकरणंभवति  
 शास्त्रीये ऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्यापेक्षितत्वात् । शास्त्रीयस्य  
 च सामर्थ्यस्याध्ययननिराकरणेननिराकृतत्वात् । यच्चेशूद्रो  
 यज्ञे ऽनवक्लृप्त इति तत् न्यायपूर्वकत्वाद्विद्यायामप्यन  
 वक्लृप्तं द्योतयति न्यायस्य साधारणत्वात् यत्पुनः संवर्गवि  
 द्यायां शूद्रशब्दश्रवणं लिंगमन्यसे न तल्लिंगं न्यायाभावात्  
 न्यायोक्तेर्हि लिंगदर्शनं द्योतकं भवति, न चात्रन्यायो ऽस्ति  
 कामंचायं शूद्रशब्दः संवर्गविद्यायामेवैकस्यां शूद्रमधिकृ  
 र्ण्यात् तद्विषयत्वात् नसर्वासुविद्यासु, अर्थवादस्थत्वात् न तु  
 कचिदप्ययं शूद्रमधिकर्तुमुत्सहते शक्यतेचायं शूद्रशब्दो  
 ऽधिकृतविषये योजयितुं । कथमित्युच्यते । कंवर एनमेतत्  
 सन्तं स युग्वानमिव रैक्कमात्थेत्थस्माद्धंसवाक्यादात्मनो ऽना  
 दरंश्रुतवतो जानश्रुतेः पौत्रायणस्य शुगुत् पेदेतामृषी रैक्क  
 शूद्रशब्देनानेनसूच्यांवभूवात्मनः परोक्षज्ञानस्य ख्यापनायेति  
 गम्यते । जातिशूद्रस्या नधिकारात् । कथं पुनः शूद्र  
 ब्देन शुगुत्पत्रा सूच्यते इति उच्यते तदाद्रवणाच्छुचम नि  
 दुद्राव शुचावाभिदुद्रुवे शुचावा रैक्कमभिदुद्रावेति शूद्रावयव  
 र्थसंभवात् रूढार्थस्य चासंभवात् दृश्यते चायमर्थो ऽस्या  
 ख्यायिकायां ॥ इतश्च न जातिशूद्रौ जानश्रुतिः ॥

## (संस्कारपरामर्शात् तदभावा भिलापाच्च)

(टीका) इतश्च न शूद्रस्याधिकारो यद्विद्या प्रदेशेषु पनयनादयः संस्काराः परामृश्यन्ते तं होपनिन्ये अधीहि भगव इति होपससाद ब्रह्मनिष्ठाः परंब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्ना इति च तान् हानुपनीयैवेत्यपि प्रदर्शितै वोपनयन प्राप्तिर्भवति शूद्रस्य च संस्काराभावो ऽभिलप्यते शूद्रश्चतुर्थोवर्ण एकजातिरित्येकजातित्व स्मरणेन, न शूद्रेपातकं किञ्चिन्न च संस्कार मर्हतीत्यादिभिश्च ॥

## (श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॥)

इतश्च न शूद्रस्याधिकारो यदस्य स्मृतैः श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधोभवति वेदश्रवण प्रतिषेधो वेदाध्ययन प्रतिषेधः तदर्थ ज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते । श्रवणप्रतिषेध स्तावदथास्य वेदमुपशृण्वत स्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमिति पद्यु ह वा एतत् श्मशानं यच्छूद्र स्तस्मात् शूद्रसमीपे नाध्येतव्यमिति च । अतएवाध्ययन प्रतिषेधो यस्य हि समीपे ऽपि नाध्येतव्यं भवति स कथं श्रुति मधीयीत भवति चोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति ॥ अतएव चार्थादर्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधोभवति न शूद्रायमर्ति दद्यादिति द्विजातीनामध्ययनमिज्यादान मिति च । येषांपुनः पूर्वकृत संस्कारवशात् विदुरधर्मव्याघ्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्ति स्तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिबन्धुं ज्ञानस्यैकान्तिक फलत्वात् ॥



श्रावयेच्चतुरोवर्णानिति चेतिहास पुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यधिकार स्मरणात् । वेदपूर्वकं स्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितं ॥

स्मृत्या श्रवणादि निषेधाच्च नाधिकार इत्याह । श्रवणेति अस्य शूद्रस्य द्विजैः पठ्यमानं वेदप्रमादाच्छृण्वतः सीसला क्षाभ्यां तसाभ्यां श्रोत्रद्वय पूरणं प्रायश्चित्तं कार्यमित्यर्थः ॥ पयुपादयुक्तं संचरिष्णुरूपमिति यावत्भवति च स्मृतिरिति शेषः ॥

( अधिकरणमालायां यन्निर्दिष्टं तदाह )

प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादे दशमाधिकरणे ॥

शूद्रो ऽधिक्रियते वेदविद्याया मथवा नहि ॥

अत्रैवर्णिकदेवाद्या इव शूद्रो ऽधिकारवान् ॥ १ ॥

देवाः स्वयं भातवेदाः शूद्रो ऽध्ययनवर्जनात् ॥

जानश्रुतिर्नाम कश्चित्शिष्यो गोसहस्रं दुहितरं मुक्ताहारं रथं कांश्चिद्ग्रामांश्च उपायनत्वेनानीय रैक्कनामकं पुत्रमुपससाद । तत्र रैक्कवचनमेतत् हे शूद्रजानश्रुते इमा ते सहस्राद्या आहूतवानसि इति । अत्र शूद्रो ऽपि वेदविद्याया मधिकारवानिति । प्राप्तं अत्रैवर्णिकं देवदृष्टान्तात् शूद्रस्याप्यत्रैवर्णिकस्य तत् संभवादिति पूर्वपक्षः । एवंप्राप्तेब्रूमः देवा इति अस्ति देवशूद्रयोर्वैषम्यं । उपनयनाध्ययनाभावेऽपि स्वयं प्रतिभातवेदा देवा स्तादृशस्य सुकृतस्य पूर्वमुपाजितत्वात्, शूद्रस्तु तादृश सुकृतराहित्यात् न स्वयं प्रतिभातवेदः नापि तस्य वेदाध्ययनमस्ति उपनयनाभावात् । अतो

विद्वत्त्वस्याधिकारहेतो रभावाच्च श्रौतविद्यायां शूद्रोऽधिकारी ।  
 कथं तर्हि उदाहृते वाक्ये जानश्रुतिविषयः शूद्रशब्दः यौ-  
 गिको ऽयं न रूढ इति ब्रूमः । विद्याराहित्यजनितया शुचा  
 गुरुंदुद्राव इति शूद्रः । नच रूढयायोगापहारः रूढेरत्रासंभवात्  
 अस्मिन्नुपाख्याने क्षत्तृप्रेरणाद्यैश्वर्य्योपन्यासेन जानश्रुतेः  
 क्षत्रियत्वावगमात् ॥

ननु शूद्रस्य वेदविद्या नधिकारे सति मुमुक्षायां सत्यामपि  
 मुक्तिर्न सिध्येदिति चेन्न स्मृतिपुराणादिमुखेन ब्रह्मविद्योद-  
 ये सति मुक्तिसिद्धेः तस्मात् न शूद्रो वेदविद्यायामधिक्रियते ॥

(मनुः) न शूद्रायमर्तिं दद्यात् नोच्छिष्टं न हविष्कृतं ॥

न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥ १ ॥

(बृहन्नारदीयपुराणे) स्त्रीशूद्राणां समीपे तु वेदाध्ययनकृन्नरः ॥

कल्पकोटिसहस्रेषु प्राप्नोति नरकान् क्रमात् ॥ २ ॥

प्रणवाद्यं न दातव्यं मंत्रं शूद्राय सर्व्वथा ॥

शूद्रो निरय माप्नोति ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ॥ ३ ॥

यः स्वकर्मपरित्यागी पाषण्डीत्युच्यते बुधैः ॥

तत् संगृह्यत्तत्समश्च तावुभावतिपापिनौ ॥ ४ ॥

कल्पकोटि सहस्राणि कल्पकोटि शतानि च ॥

सहस्र वंशसंयुक्तो नरके वासमश्नुते ॥ ५ ॥

(गौतमसंहितायां द्वादशाऽध्याये)

वेदमुपशृण्वत स्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरण ॥

मुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीर भेदः ॥ ६ ॥ इति

(मनुः पंचमाऽध्याये) नास्तिस्त्रीणां पृथक्यज्ञो न व्रतं नाप्यु



पोषितं ॥ पतिंशुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥ ७ ॥  
 ( ब्रह्मवैवर्तपुराणे ) ओंकारोच्चारणाद्धोमाच्छालाग्रामशिला-  
 र्चनात् ॥ मह्यं पक्वान्नदानाच्च विप्रादन्योव्रजेदधः ॥ ८ ॥  
 ( पराशरसंहितायां ) कपिलाक्षीरपानेन ब्राह्मणीगमनेनच ।  
 वेदाक्षरविचारेण शूद्रश्चाण्डालतां व्रजेदिति ॥ ९ ॥  
 शूद्राणां द्विजशुश्रूषा परोधर्मः प्रकीर्तितः ॥  
 अन्यथा कुरुते किञ्चित् तद्भवेत् तस्य निष्फलं ॥ १० ॥  
 दानमध्ययनं वापि यजनंचेति वै विशः ॥  
 शूद्रस्य वार्त्ता शुश्रूषाद्विजानां कारुकर्म च ॥ ११ ॥  
 शूद्रान्नं शूद्रसंपर्कं शूद्रेणच सहाशनम् ॥  
 ते यांति नरकं घोरं यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ १२ ॥  
 उदासीनादुराचारादन्नं न गृह्णीयात् सुधीः ॥  
 दैवादपदि च गृह्णीयाद्धनहीनो भवेद्भुवम् ॥ १३ ॥  
 (अंगिराः) योभुङ्क्ते हि च शूद्रान्नं मांसमेकं निरन्तरम् ॥  
 इहजन्मनि शूद्रत्वं मृतः श्वा चाभिजायते ॥ १४ ॥  
 शूद्रान्नं शूद्रसंपर्कं शूद्रेण च सहाशनं ॥  
 शूद्राज्ज्ञानागमः कश्चित् ज्वलन्तमपि पातयेत् ॥ १५ ॥  
 अप्रणामे तु शूद्रेऽपिस्वास्ति यो वदति द्विजः ॥  
 शूद्रोऽपि नरकं याति ब्राह्मणोऽपि तथैवच ॥ १६ ॥  
 अग्निहोत्री च यो विप्रः शूद्रान्नं चैव भोजयेत् ॥  
 पञ्चतस्य प्रणश्यन्ति आत्मवेदास्त्रयोऽग्नयः ॥ १७ ॥  
 शूद्रान्नेन तु भुङ्क्तेन योद्विजो जनयेत् सुतान् ॥  
 यस्यान्नं तस्य ते पुत्रा अन्नाच्छुक्रं प्रवर्त्तते ॥ १८ ॥

शूद्रेण स्पृष्टमुच्छिष्टं प्रमादादथ पापिना ॥  
 तद्विजेभ्यो न दातव्यमापस्तंबोऽब्रवीन्मुनिः ॥ १९ ॥  
 ब्राह्मणस्य सदा भुंक्ते क्षत्रियस्य च पर्वसु ॥  
 वैश्येष्वपत्सु भुञ्जीत न शूद्रेऽपि कदाचन ॥ २० ॥  
 ब्राह्मणान्ने दरिद्रत्वं क्षत्रियान्ने पशुस्तथा ॥  
 वैश्यान्नेन तु शूद्रत्वं शूद्रान्ने नरकं ध्रुवं ॥ २१ ॥  
 (मनुसंहितायां) एक मेवतु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ॥  
 एतेषा मेव वर्णानां शुश्रूषा मनुसूयया ॥ २२ ॥  
 श्वचर्मणि यथा क्षीरमपेयं धर्मवादिभिः ॥  
 तथा शूद्रमुखाद्वाक्यं न श्रोतव्यं कदाचन ॥ २३ ॥  
 पण्डितस्यापि शूद्रस्य शास्त्रज्ञानरतस्य वै ॥  
 वचनं तस्य न ग्राह्यं शुनोच्छिष्टं हविर्यथा ॥ २४ ॥  
 (भविष्यत् पुराणे) विदुषा ब्राह्मणेनेद्र मध्येतव्यं प्रयत्नतः ॥  
 शिष्येभ्य इचैव वक्तव्यं चातुर्वर्ण्येभ्य एवहि ॥ २५ ॥  
 अध्येतव्यं न चान्येन ब्राह्मणं क्षत्रियं विना ॥  
 श्रोतव्यमेव शूद्रेण नाध्येतव्यं कदाचन ॥ २६ ॥  
 (शिव पुराणे) शूश्रूषा मात्रसारा हि शूद्राः श्रुतिवहिष्कृताः ॥  
 ( अत्रिसंहितायां १ अध्याये )

वध्योराज्ञः सर्वे शूद्रो जपहोमपरश्चयः ॥  
 ततो राष्ट्रस्यहन्तासौ यथा बह्वे इव वै जलं ॥ २७ ॥  
 ( विष्णुसंहितायां ५ अध्याये ) शूद्रप्रव्रजतानां दैवे पित्र्ये  
 भोजकश्च ॥ इति ॥ (टीका) यदैवपित्र्ये कार्ये शूद्रः परि-



ब्राजकश्च भोजनं कारयति स्वकीयं अयोग्यकर्म करोति ।  
शूद्रवेदाध्ययनं वत् इति ॥

अयोग्यं कर्मचारी च इति विष्णूक्तं ॥ (पुनरपि विष्णुः) ॥ ७ ॥  
अध्याये ) न शूद्राय मर्तिदद्यात् ॥ नोच्छिष्टहविषी ॥ न  
तिलान् ॥ न चास्योपदिशेद्धर्मं ॥ न व्रतं ॥ न संहताभ्यां  
पाणिभ्यां शिर उदरञ्च कण्डूयेत् ॥ न दधिसुमनसी प्रला  
चक्षीत इति ॥ १४ ॥

( मनु ११ अध्याये ) न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत क  
हिंचित् । यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालं प्रेत्यजायते ॥  
( यम १ अध्याये ) अन्नं शूद्रस्य भोज्यं वा ये भुञ्जन्त्यबुधानराः ।  
प्रायश्चित्तं तथा प्राप्तं चरेच्चान्द्रयणव्रतं ॥ २ ॥

आपस्तम्ब ९ अध्याये ) ब्राह्मणस्य सदाकालं शूद्रप्रेषणकारि  
णः । भूमावन्नं प्रदातव्यं यथैव श्वा तथैव सः ॥ ३ ॥

(संवर्त्त १ अध्याये) शूद्रहस्तेन यो ऽश्नीयात् पानीयं वा पि  
वेत्कचित् । अहोरात्रोषितो भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥ ४ ॥  
शूद्राणां भाजने भुक्त्वा भुत्वा वा मिन्नभाजने । अहोरात्रोषि  
तो भूत्वा पञ्चगव्येन शुद्ध्यति ॥ ५ ॥

(विष्णुः) न धर्मस्योपदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत् ॥  
व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन्नीशूद्रदंभनं ॥ ६ ॥

(व्यासः) शूद्रान्नरसपुष्टस्याप्यधीयानस्य नित्यशः ॥  
जपतो जुद्धतो वापि गतिरुक्ता न विद्यते ॥ ७ ॥

शूद्रान्नेनोदरस्थेन यदि काश्चिन्निषेयेत यः ॥  
स भवेत् शूकरो नूनं तस्य वा जायते कुले ॥ ८ ॥

मृतसूतकपुष्टांगो द्विजः शूद्रान्नभोजने ॥

अहमेव नजानामि कां योर्नि स गमिष्यति ॥ ९ ॥

गृध्रोद्वादशजन्मानि सप्तजन्मानि शूकरः ॥

श्वानश्च सप्तजन्मानि इत्येवं मनुरब्रवीत् ॥ १० ॥

( वसिष्ठः ) ६ अध्याये ॥ किञ्चिद्देदमयं पात्रं किञ्चित् पात्रं तपोमयं । पात्राणामपितत् पात्रं शूद्रान्नं यस्यनोदरे ॥११॥

( अष्टादशाऽध्याये ) (टीका) शूद्रायां पारशवः पारायन्नेव जीवन्नेव शवो भवती त्याहुः ॥ शव इति मृताख्या एतच्छब्दं यच्छूद्रं तस्माच्छूद्रसमीपे तु नाध्येतव्यं । तथापि यम-गीतान् श्लोकानुदाहरन्ति ॥ श्मशान मेतत् प्रत्यक्षं येशूद्राः पापचारिणः तस्माच्छूद्रसमीपे च नाध्येतव्यं कदाचन ॥१२॥

न शूद्राय मतिं दद्यात् इति पूर्वोक्तं ॥

यश्चास्योपदिशेद्धर्मं यश्चास्य व्रतमादिशेत् ॥

सोऽसंव्रतं तमो घोरं सहतेन प्रपद्यते ॥ इति ॥ १३ ॥

व्रणद्वारे कुमिर्यस्य संभवेत् कदाचन ॥

प्राजापत्येन शुध्येत् हिरण्यं गौर्वसो दक्षिणेति ॥ १४ ॥

( यमसंहितायां अंगहीनस्या नधिकारित्वं दर्शयति )

शिवत्रीकुष्टी तथाचैव कुनखी श्यावदन्तकः ॥

रोग हीनातिरिक्तांगः पिशुनो मत्सरस्तथा ॥ १५ ॥

दुर्भगो हि तथाषण्ठः पापण्डीवेदनिन्दकः ॥

हैतुकः शूद्रयाजी च अयाज्यानांचयाजकः ॥ १६ ॥

नित्यं प्रतिग्रहे लुब्धो याचको त्रिषयात्मकः ॥

श्यावदन्तोऽथ त्रैद्यश्च असदालापकस्तथा ॥ १७ ॥



एते श्राद्धे च दाने च वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥

ततो देवलकश्चैव भृतको वेदविक्रयी ॥ १८ ॥

एते वर्ज्याः प्रयत्नेन एतद्भास्वति रत्रचीत् ॥

( संन्यासोपनिषदि ) न शूद्रस्त्रीपतितोदक्या संभाषणं ॥  
( इति श्रुतिस्मृतिपुराणेषु प्रमाणेषु पतितस्त्रीशूद्रादीनां वै-  
चादिकर्मणि अनर्हत्वादित्युक्तं । एवं वाचाभिरपिसंभाषणं  
निषिद्धं प्रतीयते कथं संन्यासग्रहणं संभवति न च वाच्य-  
मिति वाक्यशेषः ॥

( यथोक्तसाधनसंपन्नस्य संन्यासाधिकारो भवति ॥ तत्  
दर्शयति मुण्डकोपनिषदि ॥ )

परिक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्व्वेदमायात्रात्प-  
कृतः कृतेन तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणि-  
श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमिति ॥

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमानि-  
य येनाक्षरं पुरुषं वेदसत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्यां वेदा-  
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृतचक्षु रमृतत्वमिच्छत् ॥  
शान्तोदान्त उपरतास्ति तिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्यात्मानं  
पश्यतीत्यादि श्रुतिभ्यः ॥ विहितानां कर्मणां विधिनापरित्याक-  
संन्यास इति ॥ सच वैराग्यहेतुः । वैराग्यं परमेतस्येति श्रुति-  
स्मृतेश्च । स संन्यासो वैराग्यन्यूनाधिक्येन चतुर्विधः  
। कुटीचक्र बहूदक हंस परमहंसाः । इति भेदात् । वैराग्य-  
द्विविधं परमपरञ्चेति तच्चापरं चतुर्विधं यतमान व्यतिरेक-  
केन्द्रियत्ववशीकारभेदात् । अस्मिन् संसारे इदंसारं इदमसारं

रामिति सारासारविवेको यतमानवैराग्यं ॥

चित्तगतदोषाणां मध्ये एतावन्तः पक्षादिति विविच्यापक्षदोष  
निरोधयत्नोऽव्यतिरेकवैराग्यं । विषयेच्छासत्वेऽपि मनसीन्द्रि-  
यनिरोधावस्थानं एकेन्द्रियत्ववैराग्यं वशीकारवैराग्यं ॥ ऐ-  
हिकामुष्मिकविषयजिहासा तदुक्तं । दृष्टानुश्रविकविषय-  
वितृष्णस्य वशीकारसंज्ञावैराग्यमिति ॥ तत् त्रिविधं मन्दं  
तीव्रं तीव्रतरंचेति । पुत्रदारादि वियोगेऽधिकं संसार मिति  
बुद्ध्याविषयजिहासा मन्दवैराग्यं । अस्मिन् मन्दवैराग्ये  
संन्यासाधिकार एव नास्ति ॥ तीव्रवैराग्यमाह । अस्मिन्  
जन्मनि पुत्रदारादिमास्त्विति स्थिरबुद्ध्या विषय जिहासा-  
तीव्रं । तीव्रवैराग्येऽसति यदा मनसि वैराग्यं जायते सर्व्व  
वस्तुषु । तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पातितो भवेदिति स्मर-  
णात् । यात्रायशक्तौ चेत् कुटीचकादि संन्यासाधिकारः ।  
तीव्रवैराग्ये हंससंन्यासाधिकारः । तीव्रतरस्तु पुनरावृत्ति स-  
हित ब्रह्मलोकादिपर्य्यन्तं मास्त्विति स्थिरबुद्ध्याविषयजिहा-  
सा तीव्रतरं वैराग्यं ॥

तीव्रतरवैराग्येऽसति मुमुक्षोः परमहंससंन्यासो विद्वत्  
संन्यासश्चेति परमहंससंन्यासाधिकारः । सच परमहंसो  
द्विविधः । विविदिषा संन्यासो विद्वत् संन्यासश्चेति ॥ त-  
त्त्वज्ञानमुद्दिश्य साधनसंपन्नेन क्रियमाणः संन्यासः स विवि-  
दिषा संन्यासः । इति ।

एवमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः ॥ इति प्रमाणं ॥  
॥ विद्वत् संन्यासलक्षणमाह ॥ गृहस्थाश्रमादौ कृतश्रवणा



दिमि रुत्पन्नब्रह्मसाक्षात्कारेण गृहस्थादिना चित्तविश्रा-  
 न्तिलक्षणजीवन्मुक्तिमुद्दिश्य क्रियमाणः संन्यासो विद्वत्  
 संन्यासः । तत्रप्रमाणमाह ॥ एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति ।  
 अथ योगिनां परमहंसानामित्यादि परमहंसोपनिषत् ॥ य-  
 दातु विदितं तत्त्वं परब्रह्मसनातनं । तदैकदण्डसंगृह्य सोप-  
 वीतां शिखांत्यजेदित्यादि श्रुतिस्मृतिवचनानि प्रमाणानि  
 । सच संन्यासो द्विविधः । जन्मापादककर्मत्यागात्मकः  
 प्रेषोच्चारणपूर्वकं दण्डधारणाद्याश्रमरूपश्चेति । न कर्म-  
 णा न प्रजया धनेन त्यागैकेन अमृतत्व मानश्रुतियादि  
 श्रुतिराद्ये मानं विरक्तस्य गृहस्थादेः प्रवर्तनमित्तवशेन  
 संन्यास प्रतिबन्धे आद्यसंन्यासकुटीचकाधिकारः । अत्र  
 प्रथममधिकारः । द्वितीये तुदण्डमाच्छादनं कौपीनं कमण्ड-  
 लुं परिग्रहेच्छेषं विसृजेत् ॥ संसारमेव निःसारं दृष्टासां  
 दिदृक्षया । प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परंवैराग्यमाश्रिता इत्यादि  
 वचनानि प्रमाणानि । तत्राद्य कुटीचकसंन्यासो जन्मान्त-  
 रीयोऽपिविज्ञान उपकरोति जनकादीनां तत्त्वज्ञानोपल-  
 भात् श्रुत्यादिषु यद्यातुरः स्यान्मनसा वाचा वा सन्यसे-  
 त्यातुरसंन्यासविधानाच्च । आतुरेऽपिविरक्तस्यैवाधिकारात्  
 न संन्यासान्तरं अन्यथा प्रकरणविरोधप्रसंगात् । इति भाष्य-  
 ॥ लिखितसंहितायां ॥ त्रिदण्डग्रहणादेव प्रेतत्वं नैव जायते ।  
 अहन्येकादशे प्राप्ते पार्वणं तु विधीयते ॥ १ ॥  
 ॥ शिवपुराणे ८ अध्याये ॥ त्रैवर्णिकानां सर्वेषां स्वत्वा-  
 श्रमरतानां । श्रुतिस्मृत्युदितोधर्मोऽनुष्ठेयो नापरः कश्चित् ।



श्रुतिस्मृत्युदितं कर्म कुर्वन् सिद्धिमपाप्स्यति ॥  
वर्णाश्रमाचारपुष्पैरभ्यर्च्य परमेश्वरं ॥ ३ ॥  
तत्सायुज्यंगताः सर्वे बहवो मुनिसत्तमाः ॥  
॥ अथनारदपरिव्राजकोपनिषदि प्रमाणमाह । अधिकारवि-  
षयं दर्शयति ॥ अथकदाचित् परिव्राजकाभरणोनारदः ।  
सर्वलोकसंचारं कुर्वन्नपूर्वपुण्यस्थलानि । पुण्यतीर्थानि  
तीर्थीकुर्वन्नवलोक्य चित्तशुद्धिं प्राप्य निर्वेदः शान्तोदान्तः  
सर्वतो निर्वेदमासाद्य स्वरूपानुसन्धानमनुसन्धाय निय-  
मानन्दविशेषगण्यं मुनिजनैरुपसंकीर्णं नैमिषारण्यं पुण्य-  
स्थलमवलोक्य सरिगमपधनिससंज्ञैर्वैराग्यबोधकरैः स्वर-  
विशेषैः प्रपंचिकपराङ्मुखैर्हरिकथालापैः स्थावरजंगमनामकै-  
र्भगवद्भक्तिविशेषैर्नरमृगकिंपुरुषामरकिंनराप्सरोगणान् सं-  
मोहयन्नागतं ब्रह्मात्मजं भगवद्भक्तं नारदमवलोक्य द्वादश  
वर्षसत्रयागोपस्थिताः । श्रुत्यध्ययनसंपन्नाः सर्वज्ञा स्तपोनि-  
ष्ठापराश्च ज्ञानवैराग्यसंपन्नाः शौनकादिमहर्षयः प्रत्युत्थानं  
कृत्वा नत्वा यथोचितातिथ्यपूर्वकमुपवेशयित्वा स्वयं सर्वे  
ऽप्युपविष्टा भो भगवन् ब्रह्मपुत्र कथं मुत्क्युपायो ऽस्माकं  
वक्तव्यमित्युक्तं स्तान् स होवाच नारदः । सत्कुलभवोपनीतः  
सम्यगुपनयनपूर्वकंचतुश्चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः स्वाभि-  
तैकगुरुसमीपे स्वशाखाध्ययनपूर्वकं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा  
द्वादशवर्षशुश्रूषापूर्वकं ब्रह्मचर्यं । पंचविंशतिवत्सरं गार्ह-  
स्थ्यं पंचविंशतिवत्सरं वानप्रस्थाश्रमं । तद्विधिवत् क्रमान्-  
निर्वर्त्य चतुर्विधंब्रह्मचर्यं । षड्विधंगार्हस्थ्यं । चातुर्विध्यवा-



नप्रस्थधर्मं सम्यगभ्यस्य तदुचितं कर्म सर्वनिर्वृत्य साधन-  
चतुष्टयसपन्नः सर्वसंसारोपरिमनोवाक्कायकर्मभिर्यथाज्ञा-  
निवृत्तस्तथावासनैषणोपर्यपि निर्व्वैरः शान्तोदान्तः सं-  
न्यासी परमहंसाश्रमेणाखलितस्वस्वरूपध्यानेन देहत्यागं  
करोति । समुक्तोभवति समुक्तोभवतीत्युपनिषत् । प्रथमो-  
पदेशः ॥ अथ हैनं भगवन्तं नारदं सर्वं शौनकादयः पप्रच्छ  
भो भगवन् संन्यासाविधिं नो ब्रूहीति । तानवलोक्य नारद-  
स्तत् स्वरूपं सर्वं पितामहमुखेनैव ज्ञातुमुचितमित्यु-  
त्त्वा सत्रयागपूर्य्यनन्तरं तैः सह सत्यलोकं गत्वा विधि-  
वद्ब्रह्मनिष्ठापरं परमेष्ठिनं नत्वा स्तुत्वा यथोचितं तदाज्ञा-  
तैः सहोपविश्य नारदः पितामहमुवाच गुरुस्त्वं जनकस्तं  
सर्वविद्यारहस्यज्ञः सर्वज्ञत्वमतो मत्तो मादिष्टं रहस्यमेकं  
वक्तव्यं त्वद्दिना मदभिमतं रहस्यं वक्तुं कः समर्थः कि-  
मिति चेत् परिव्राज्यस्वरूपक्रमं नो ब्रूहीति । नारदेन प्रार्थिता  
परमेष्ठी सर्वतः सर्वानवलोक्य मुहूर्तमात्रं समाविनिष्टो  
भूत्वा संसारार्तिनिवृत्यन्वेषण इति निश्चित्य नारदमवलोक्य  
तमाह पितामहः । पुरामत्पुत्र पुरुषसूक्तोपनिषद्ब्रह्म  
प्रकारं निरतिशयाकाराबलं विना विराट्पुरुषेणोपदिष्टं रहस्यं  
ते विविच्योच्यते ॥ तत्क्रममतिरहस्यं वाढमवहितो भूत्वा  
श्रूयतां भो नारद विधिवदादावनुपनीतोपनयनानन्तरं तत्  
सत्कुलप्रसूतः । पितृमातृविवेयः पितृसमीपादन्यत्र सत्  
संप्रदायस्थं श्रद्धावंतं सत्कुलोद्भवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्य-  
गुणवंतमकुटिलं सद्गुरुमासाद्य नत्वा यथोपयोगशुभ्रं



पूर्वकं स्वाभिमतं विज्ञाप्य द्वादशवर्षसेवापुरःसरं सर्वं  
विद्याभ्यासं कृत्वा तदनुज्ञया स्वकुलानुरूपामभिमतकन्यां  
विवाह्य पञ्चविंशतिवत्सरं गुरुकुलवासं कृत्वाथगुर्वनुज्ञया  
गृहस्थोचितकर्म कुर्वन् दौर्ब्राह्मण्यनिवृत्तिमेत्य स्ववंश  
वृद्धिकामः पुत्रमेकमासाद्य गार्हस्थोचित पञ्चविंशतिवत्सरं  
तीर्त्वा ततः पञ्चविंशतिवत्सरपर्यन्तं त्रिषवणमुदकस्पर्शनं  
पूर्वकं चतुर्थकालमेकवारमाहारमाहरन्नयमेक एवं वनस्थो  
भूत्वा पुरग्रामप्राक्तनसंचारं विहायनिकिरविरहिततदाश्रित क-  
र्म्मोचितकृत्यं निर्व्वर्त्यदृष्टश्रवणविषयवैतृष्ण्यमेत्य चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः । सर्वतो विरक्तश्चिन्तशुद्धिमेत्या  
शासूयेष्याहंकारदग्ध्वा साधनचतुष्टयसंपन्नः संन्यस्तुमर्हतीत्यु-  
पनिषत् ॥ द्वितीयोपदेशः ॥

॥ अथ संन्यासाधिकारी निरूप्यते इत्याह ॥

॥ नारदपरिव्राजके तृतीयोपदेशः ॥

अथैतन्न नारदः पितामहं पप्रच्छ भगवन् केन संन्यासः  
संन्यासाधिकारी वेत्येवमादौ संन्यासाधिकारिणं निरूप्य  
पश्चात् संन्यासविधिरूप्यते । अवहितः शृणु ॥ अथ पण्डः  
पतितो-गविकल स्त्रैणोवधिरो भ्रकोमूकः पाषण्डश्चकी  
लिङ्गीवैखानसहरद्विजौ श्रुतकाध्यापकः क्षिपिविष्टोऽनग्निको ।  
वैराग्यवंतोऽप्येते न संन्यासार्हाः संन्यस्ता यद्यपि महावा-  
क्योपदेशो नाधिकारिणः ॥  
पूर्वसंन्यासी परमहंसाधिकारी ॥



परेणैवात्मनश्चापि परस्यैवात्मना तथा ।

अभयं समवाप्नोति स परिव्राडिति स्मृतिः ॥ १ ॥

षण्डोऽथ विकलोऽप्यंघो बालकश्चापि पातकी ॥

पतितश्च परद्वारी वैखानसहरद्विजौ ॥ २ ॥

चक्रीलिङ्गी च पाषण्डी शिपिविष्टोऽप्यनग्निकः ॥

द्वित्रिवारेण संन्यस्तो भृतकाध्यापकोऽपि च ॥

एतेनार्हन्ति संन्यास मातुरेण विनाक्रमम् ॥ ३ ॥

॥ अथ संन्यासोपनिषदि प्रमाणमाह ॥

( संन्यासानधिकारी निरूप्यते )

अथषण्डः पतितोऽङ्गविकलः स्त्रैणोवधिरोऽर्भकोमूकः ।

पाषण्डश्चक्री लिङ्गीकुष्ठी वैखानसहरद्विजौ भृतकाध्यापकः ।  
शिपिविष्टोऽग्निको वैराग्यवंतोऽप्येते न संन्यासाऽर्हाः ।

संन्यस्ता यद्यपि महावाक्योपदेशे नाधिकारिणः ॥ ४ ॥

आरूढपतिताऽपत्यं कुनखीश्यावदन्तकः ॥

क्षीवस्तथाङ्गविकलो नैव संन्यस्तुमर्हति ॥ ५ ॥

संप्रत्यवसितानां च महापातकिनां तथा ॥

व्रात्यानामभिज्ञस्तानां संन्यासं नैवकारयेत् ॥ ६ ॥

व्रतयज्ञतपोदानहोमस्वाध्यायवर्जितम् ॥

सत्यशौचपरिभ्रष्टं संन्यासं नैवकारयेत् ॥ ७ ॥

एतेनार्हन्ति संन्यास मातुरेण विनाक्रमम् ॥ इति ॥

( विश्वेश्वर पद्धतौ संन्यासनिषेधमाह )

पितृमातृ गुरुद्वेषी निन्दको यतिनिन्दकः ॥

जानीयादन्त्यजं विप्रो नैव संन्यास मर्हति ॥ १ ॥  
 ( बृहस्पतिः ) अतीतान्न स्मरेद्भोगां स्तथैकनागतानपि ॥  
 प्राप्तांश्च नाभिनन्देद्यः स कैवलयाश्रमेवसेत् ॥ २ ॥  
 श्रद्धाध्यानं तपः शौचं यस्य वित्तंचतुष्टयं ॥  
 रमणं चाद्वितीयस्य स कैवलयाश्रमेवसेत् ॥ ३ ॥  
 अन्तस्थानीन्द्रियाण्यन्त बहिस्थान् विषयान् बहिः ॥  
 शक्नोति यः सदाकर्तुं स कैवलयाश्रमेभवेत् ॥ ४ ॥  
 ( व्यासः ) यावन्तो यानिजन्मानि तेषु नूनं कृतं भवेत् ॥  
 यत्कृतं पुरुषेणहं नान्यथा ब्रह्मणः स्थितिः ॥ ५ ॥  
 तामासाद्यतु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चितः ॥  
 त्रिष्वाश्रमेषुकोऽन्यथो भवेत् परमभीप्सितः ॥ ६ ॥  
 ( इत्यादिना विदुषो ब्रह्मस्थितस्य पारिव्राज्यधर्मो दर्शितौ )  
 ( बह्वचपरिशिष्टे )

यथोक्तचारिणांभिक्षुं गुरुमेकं परिग्रहेत् ॥  
 यतिवृन्दैरनुज्ञातो मोक्षाश्रममुपाश्रयेदिति ॥ ७ ॥  
 ( कूर्मपुराणे तृतीयाध्याये ) ( कूर्म उवाच )  
 ब्रह्मचारीगृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ॥  
 क्रमेणैवाश्रमाः प्रोक्ताः कारणादन्यथाभवेत् ॥ १ ॥  
 उत्पन्नज्ञानविज्ञानो वैराग्यं परमंगतः ॥  
 प्रव्रजेद्ब्रह्मचर्यानु यद्विच्छेत् परमांगतिं ॥ २ ॥  
 वारानाहत्य विधिवद्वन्यथा विविधैर्मखैः ॥  
 यजेदुत्पादयेत् पुत्रान् विरक्तो यदि संन्यसेत् ॥ ३ ॥  
 अनिष्ठाविधिवदयज्ञैरनुत्पाद्य तथात्मजान् ॥



न गार्हस्थ्यं गृहीत्यक्त्वा संन्यसेद्वबुद्धिमान् द्विजः ॥ ४ ॥

अथ वैराग्यवेगेन स्थातुंनोत्सहतेगृहे ॥

तत्रैव संन्यसेद्विद्वानिष्ट्वापिच द्विजोत्तमः ॥ ५ ॥

तथापि विविधैर्यज्ञै र्निष्ठा वनमथाश्रयन् ॥

तपस्तप्त्वा तपोयोगाद्विरक्तः संन्यसेद्वहिः ॥ ६ ॥

वानप्रस्थाश्रमंगत्वा न गृहं प्रविशेत् पुनः ॥

न संन्यासी वनञ्चाथ ब्रह्मचर्य्यश्च साधकः ॥ ७ ॥

प्राजापत्या त्रिरूप्येष्टि माग्नेयी मथवाद्विजः ॥

प्रव्रजेत्तु गृहीद्विद्वान् वनाद्वा श्रुतिचोदनात् ॥ ८ ॥

प्रकर्तुं मसमर्थो ऽपि जुहोति यजतिक्रियाः ॥

अंधः पंगुर्द्विरिद्रोवा विरक्तः संन्यसेद्विजः ॥ ९ ॥

सर्व्वेषामेव वैराग्यं संन्यासेतु विधीयते ॥

ननु नारदपरिव्राजकसंन्यासोपनिषदि च अन्धपंगुप्रभृतीनां संन्यासग्रहणस्य निषेध्यत्वमुक्तं एते वैराग्यवन्तोऽपि संन्यासेऽनर्हाः । इति कथं संन्यासग्रहणे ऽधिकारीति संन्यसेव यद्यपि एतत् पौराणिकवचने विध्युक्तं ।

तदपि संन्यासोपनिषदि यदुक्तं तदाह । एते संन्यस्ता यद्यपि महावाक्योपदेशे नाधिकारिणः ॥ इति ॥

पतत्येवाविरक्तो वा यः संन्यासं कर्तुमिच्छति ॥ १० ॥

एकस्मिन्नथवा सम्यग् वर्तेतामरणान्तिकं ॥

श्रद्धावानाश्रमे युक्तः सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ११ ॥

(अथ एतत् वचनाभिप्रायमाह)

मरणान्तिकमिति शब्देन देहपरित्यागरूपः स संन्यासः

वीरमार्गे विधीयते वीरमार्गादि संन्यासो अन्धपंगुप्रभृतीनां  
कर्तव्यता किंवा कुटीचकपरः । यतःपूर्वोक्तसंन्यासोपनिषदि  
नारदपरिव्राजकेऽपि निषेध्यता प्रतीयते किंतु एतेसंन्यस्ता  
यद्यपि महावाक्योपदेशेनाधिकारिणः । अतएव वीरमार्गादि  
कुटीचकसंन्यासः प्रतीयते नतु एते बहूदकहंसपरमहंसादि  
संन्यासेऽधिकारिणः । इति सिद्धान्तः ॥

न्यायागतधनः शान्तो ब्रह्मविद्यापरायणः ॥

( पुनरपि कूर्मपुराणे दर्शयति )

स्वधर्मपालको नित्यं ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १२ ॥

ब्रह्मण्याध्याय कर्माणि निःसंगः कामवर्जितः ॥

प्रसन्नेनैव मनसा कुर्वाणो यातितत्परं ॥ १३ ॥

ब्रह्मणादीयते देयं ब्रह्मणे संप्रदीयते ॥

ब्रह्मैव दीयते चेति ब्रह्मार्पणमिदं परम् ॥ १४ ॥

नाहं कर्त्ता सर्वमेतद्ब्रह्मैव कुरुते तथा ॥

एतद्ब्रह्मार्पणं प्रोक्तं मृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १५ ॥

प्रीणातु भगवानीशः कर्मणानेन शाश्वतः ॥

करोतिसततं बुद्ध्या ब्रह्मार्पणमिदं परं ॥ १६ ॥

यद्वाफलानां संन्यासं प्रकुर्यात् परमेश्वरे ॥

कर्मणामेतदप्याहुः ब्रह्मार्पणं मनुजमम् ॥ १७ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं संगवर्जितम् ॥

क्रियते विदुषा कर्म तन्न वेदपि मोक्षदम् ॥ १८ ॥

अथवा यदि कर्माणि कुर्यान्नित्यान्यपि द्विजः ॥

अकृत्वा फलसंन्यासं वध्यते तत्फलेनतु ॥ १९ ॥



तस्मात् सर्वप्रयत्नेन त्यक्त्वा कर्म्माश्रितंफलम् ॥ १९ ॥

अविद्वानपि कुर्वीत कर्म्माप्नोति चिरात्पदम् ॥ २० ॥

कर्म्मणाक्षीयते पापमैहिकं पौर्विकं तथा ॥

मनः प्रसादमन्वेति ब्रह्मविज्जायते नरः ॥ २१ ॥

कर्म्मणा सहिताज्ज्ञानात् सम्यग्योगोऽभिजायते ॥

ज्ञानञ्चकर्म्मसहितं जायते दोषवर्जितम् ॥ २२ ॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन यत्र तत्राश्रमेरतः ॥

कर्म्माणीश्वरतुष्ट्यर्थं कुर्यान्नैष्कर्म्यमाप्नुयात् ॥ २३ ॥

सं प्राप्यपरमं ज्ञानं नैष्कर्म्यं तत् प्रसादतः ॥

एकाकी निर्म्ममः शान्तो जीवन्नेव विमुच्यते ॥ २४ ॥

वीक्षते परमात्मानं परंब्रह्म महेश्वरम् ॥

नित्यानन्दी निराभास स्तस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ॥ २५ ॥

तस्मात् सेवेत सततं कर्म्मयोगं प्रसन्नधीः ॥

तृप्तये परमेशस्य तत्पदं याति शाश्वतम् ॥ २६ ॥

एतद्वः कथितं सर्वं चातुराश्रम्य मुत्तमम् ॥

न ह्येतत् समतिक्रम्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ २७ ॥

॥ इति कूर्म्मपुराणे चातुराश्रम्ये तृतीयोऽध्यायः ॥

( मनुसंहितायां षष्ठाऽध्याये संन्यासधर्ममाह )

चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वासंगान् परिव्रजेत् ॥

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः ॥ १ ॥

भिक्षावलि परिश्रान्तः प्रव्रजन् प्रेत्यवर्द्धते ॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनोमोक्षे निवेशयेत् ॥ २ ॥

अनपाकृतमोक्षन्तु सेवमानो ब्रजत्यधः ॥  
 अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ॥ ३ ॥  
 इष्ट्वा च शक्तितोयज्ञैर्मनोमोक्षे निवेशयेत् ॥  
 अनधीत्य द्विजोवेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् ॥ ४ ॥  
 अनिष्ट्वाचैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् ब्रजत्यधः ॥  
 प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणां ॥ ५ ॥  
 आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रब्रजेद्गृहात् ॥  
 यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रब्रजत्यभयं गृहात् ॥ ६ ॥  
 तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥  
 यस्मादणवपि भूतानां द्विजान्नोत् पद्यते भयम् ॥ ७ ॥  
 तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन ॥  
 आगाराद भिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितोमुनिः ॥ ८ ॥  
 समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥  
 एकएव चरेन्नित्यं सिद्धचर्यमसहायवान् ॥ ९ ॥  
 सिद्धिमेकस्य संपश्यन् नजहाति नहीयते ॥  
 अनग्निरनिकेतः स्याद्ग्राममन्नार्थं माश्रयेत् ॥ १० ॥  
 उपेक्षको ऽसंकसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ स्थिरः ॥  
 कपालं वृक्षमूलानि कुचेल मसहायता ॥ ११ ॥  
 नाभिनन्देत् मरणं नाभिनन्देत् जीवितं ॥  
 कालमेव प्रतीक्षेत् निदेशं भृतको यथा ॥ १२ ॥  
 दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ॥  
 सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ १३ ॥  
 अतिवादां स्तितिक्षेत् नावमन्येत कञ्चन ॥



नचेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ १४ ॥  
 कुप्यन्तं न प्रतिकुप्येदाकुष्ठः कुशलं वदेत् ॥  
 सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ १५ ॥  
 अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निराशिषः ॥  
 आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरोदिह ॥ १६ ॥  
 नचोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्रांगविद्यया ॥  
 नानु शासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥ १७ ॥  
 न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः ॥  
 आकीर्णं भिक्षुकैर्वा न्यैरागारमुपसंभ्रजेत् ॥ १८ ॥  
 क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्रीदण्डी कुसुम्भवान् ॥ कमण्डलुः  
 विचरोन्नित्यतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ १९ ॥  
 अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च ॥  
 तेषामद्भिः स्मृतंशौचं चमसानामिवाध्वरे ॥ २० ॥  
 अलावुदारुपात्रं च मृण्मयं वैदलं तथा ॥  
 एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥ २१ ॥

(विष्णुसंहितायां यतिधर्मः ९६ अध्याये)

अथ त्रिष्वाश्रमेषु पक्ककषायः प्राजापत्यामिष्टिं ॥  
 कृत्वा सर्ववेद सदक्षिणां दत्त्वा प्रव्रज्याश्रमी स्यात् ॥ १ ॥  
 आत्मन्यग्नीनारोप्य भिक्षार्थं ग्राममियात् ॥  
 दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ॥  
 सत्यपूतं वदेत्वाक्यं मनःपूतं समाचरेत् ॥ २ ॥  
 मरणं नाभिकामयेत् जीवितं च ॥ ४ ॥ अतिवादां स्तितिक्षेत्  
 न कञ्चनावमन्येत ॥ इति ॥

( हारीतसंहितायां ६ अध्याये )

अतःपरं प्रवक्ष्यामि चतुर्थाश्रम मुत्तमम् ॥  
 श्रद्धया तदनुष्ठाय तिष्ठन् मुच्येत बन्धनात् ॥ १ ॥  
 एवं वनाश्रमे तिष्ठन् पातयं श्रैव किल्बिषम् ॥  
 चतुर्थमाश्रमं गच्छेत् संन्यासविधिना द्विजः ॥ २ ॥  
 दत्त्वा पितृभ्यो देवेभ्यो मानुषेभ्यश्च यत्नतः ॥  
 दत्त्वाश्राद्धं पितृभ्यश्च मानुषेभ्य स्तथाश्रमः ॥ ३ ॥  
 इष्टिं वैश्वानरीं कृत्वा प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपिवा ॥  
 अग्निं स्वात्मनि संरोप्य मन्त्रवित् प्रव्रजेत् पुनः ॥ ४ ॥  
 ततःप्रभृति पुत्रादौ स्नेहालापादि वर्जयेत् ॥  
 बन्धूनामभयं दद्यात् सर्वभूताभयं तथा ॥ ५ ॥  
 त्रिदण्डं वैणवं सम्यक्सन्ततं समपर्वकम् ॥  
 वेष्टितं कृष्णगोवालरज्जुमञ्चतुरङ्गुलम् ॥ ६ ॥  
 शौचार्थं मानसार्थञ्च मुनिभिः समुदाहृतं ॥  
 कौपीनाच्छादनं वासः कन्थां शीतनिवारिणीम् ॥ ७ ॥  
 पादुकेचापि गृहीयात् कुर्यान्नान्यस्य संग्रहं ॥  
 एतानि तस्य लिङ्गानि यतेः प्रोक्तानि सर्वदा ॥ ८ ॥  
 मंगृह्य कृतसंन्यासो गत्वा तीर्थमनुत्तमम् ॥  
 स्नात्वाचम्य च विधिवद्वस्त्रपूतेन वारिणा ॥ ९ ॥  
 तर्पयित्वा तु देवांश्च मन्त्रवद्भास्करं नम्रेत् ॥  
 आत्मनः प्राङ्मुखोमौनी प्राणायामत्रयं चरेत् ॥ १० ॥  
 गायत्रीं च यथाशक्तिजप्त्वाध्यायेत् परंपदम् ॥  
 स्थित्यर्थमात्मनो नित्यं भिक्षाटन मथाचरेत् ॥ ११ ॥



सायंकाले तु विप्राणां गृहाण्यभ्यवपद्यतु ॥  
 सम्यग् याचेच्च कवलं दक्षिणेन करेण वै ॥ १२ ॥  
 पात्रं वामकरे स्थाप्य दक्षिणेन तु शेषयेत् ॥  
 यावताग्नेन तृप्तिः स्यात्तावद्भैक्षं समाचरेत् इति ॥ १३ ॥  
 ( संवर्त्तः ) चतुर्थमाश्रमं गच्छेद्धुतहोमो जितेन्द्रियः ॥  
 अग्निमात्मनि संस्थाप्य द्विजः प्रव्रजितो भवेत् ॥ १४ ॥  
 वेदाभ्यासरतो नित्यमात्मविद्या परायणः ॥ इति ॥

### ( शङ्ख सहितायां १७ अध्याये )

कृत्वेष्टिं विधिवत् पश्चात् सर्ववेदसदक्षिणाम् ॥  
 आत्मन्यग्नीन् समारोप्य द्विजो ब्रह्माश्रमी भवेत् ॥ १ ॥  
 विधूमे न्यस्तमुशले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ॥  
 अतीतपादसंपाते नित्यं भिक्षां यतिश्चरेत् ॥ २ ॥  
 न व्यथेत तथालाभे यथालब्धेन वर्त्तयेत् ॥  
 न पाचयेत्तथैवान्नं नाश्नीयात् कस्यचिद्गृहे ॥ ३ ॥  
 मृण्मया लावुपात्राणि यतीनां तु विनिर्दिशेत् ॥  
 तेषां संमार्ज्जनाच्छुद्धि रन्निश्चैव प्रकीर्त्तिता ॥ ४ ॥  
 कौपीनाच्छादनं वासो विभृयादसखश्चरन् ॥  
 शून्यागारनिकेतः स्याद्यत्र सायं गृहो मुनिः ॥ ५ ॥  
 दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ॥  
 सत्यं पूतं वेददाक्यं मनः पूतं समाचरेत् ॥ ६ ॥  
 चन्दनैर्लिप्यतेऽङ्गं वा भस्मचूर्णैर्विगर्हितैः ॥  
 कल्याणं मप्यकल्याणं तयोरेव न संश्रयेत् ॥ ७ ॥

सर्वभूतहितो मैत्रः समलोष्टाश्मकाश्चनः ॥  
 ध्यानयोगरतो नित्यं भिक्षुर्यायात् परागतिं ॥ ८ ॥  
 जन्मना यस्तु निर्द्विषणो मन्यते च तथैवच ॥  
 आधिभि व्याधिभिश्चैव तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ ९ ॥  
 अशुचित्वं शरीरस्य प्रियस्य च विपर्ययः ॥  
 गर्भवासे च वसति स्तस्मान्मुच्येत नान्यथा ॥ १० ॥  
 जगदेतन्निराक्रन्दं न तु सारमनर्थकम् ॥  
 भोक्तव्यमिति निर्द्विषणो मुच्यते नात्रसंशयः ॥ ११ ॥  
 प्राणायामैर्देहदोषान् धारणाभिश्च किल्बिषान् ॥  
 प्रत्याहारैरसत् संगान् ध्यानेर्नेह्वरान् गुणान् ॥ १२ ॥  
 सव्याहतिं सप्रणवार्द्धं गायत्रीं शिरसा सह ॥  
 त्रिः पठेदायतंप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥ १३ ॥  
 मनसः संयमस्तज्ज्ञैर्धारणेति निगद्यते ॥  
 संहारश्चेन्द्रियाणाञ्च प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ॥ १४ ॥  
 हृदयस्थस्य योगेन देव देवस्य दर्शनम् ॥  
 ध्यानं प्रोक्तं प्रवक्ष्यामि सर्वस्माद्योगतः शुभम् ॥ १५ ॥  
 हृदिस्थादेवताः सर्वा हृदिप्राणाः प्रतिष्ठिताः ॥  
 हृदिज्योतींषि भूयश्च हृदिसर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १६ ॥  
 स्वदेहमराणि कृत्वा प्रणवंचोत्तरारणिम् ॥  
 ध्याननिर्ममथनाभ्यां तु विष्णुं पश्येद्दृदिस्थितम् ॥ १७ ॥  
 हृदयर्कश्चन्द्रमाः सूर्यः सोमोमध्ये हुताशनः ॥  
 तेजोमध्ये स्थितं तत्त्वं तत्त्वमध्येस्थितोऽच्युतः ॥ १८ ॥  
 अणोरणयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहा-



यां । तेजोमयं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमान्-  
मात्मनः ॥ १९ ॥

वासुदेव स्तमोऽन्धानां प्रत्यक्षं नैवजायते ॥

अज्ञानपटसंवीतै रिन्द्रियै विषये प्सुभिः ॥ २० ॥

एष वै पुरुषो विष्णु र्व्यक्ताव्यक्तःसनातनः ॥

एष धाता विधाता च पुराणो निष्कलः शिवः ॥ २१ ॥

विदेहमेतं पुरुषं महांतमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥

मन्त्रैर्विदित्वा न विभेति मृत्योर्नान्यःपन्थाविद्यतेऽयनाय ॥ २२ ॥

### ( दक्षसंहितायां ७ अध्याये )

सत्त्वोत्कटाः सुगश्चापि विषयेण वशीकृताः ॥

प्रमादिभिः क्षुद्रसत्त्वै र्मानुषैरत्रका कथा ॥ १ ॥

### ( यतीनां योगसाधनविधिः )

लोकोवशीकृतो येन येन चात्मावशी कृतः ॥

इन्द्रियार्थो जितो येन तं योगं प्रब्रवीम्यहम् ॥ २ ॥

प्राणायामं स्तथाध्यानं प्रत्याहारं स्तु धारणा ॥ ३ ॥

तर्कश्चैव समाधिश्च षडंगो योगउच्यते ॥ ३ ॥

नारण्यसेवनाद्योगो नानेकग्रन्थचिन्तनात् ॥

व्रतैर्यज्ञै स्तपोभिश्च नयोगः कस्यचिद्भवेत् ॥ ४ ॥

न च पथ्याशनाद्योगो न नासाग्रनिरीक्षणात् ॥

नच शास्त्रातिरिक्तेन शौचेन स भवेत् क्वचित् ॥ ५ ॥

अभियोगात्तथाभ्यासात्तस्मिन्नेव तु निश्चयात् ॥

पुनः पुनश्च निर्व्वेदाद्योगः सिध्यति नान्यथा ॥ ६ ॥

न मौनमन्त्रकुहकै रनेकैः सुकृतै स्तथा ॥  
 लोकयात्रा वियुक्तस्य योगो भवति कस्यचित् ॥ ७ ॥  
 आत्मचिन्ता विनोदेन शौचक्रीडनकेनच ॥  
 सर्वभूतसमत्वेन योगः सिद्ध्यति नान्यथा ॥ ८ ॥  
 यश्चात्मनिरतो नित्यमात्म क्रीडस्तथैवच ॥  
 आत्मनिष्ठश्च सतत मात्मन्येव स्वभावतः ॥ ९ ॥  
 रतश्चैव स्वयंतुष्टः सन्तुष्टो नान्यमानसः ॥  
 आत्मन्येव सुतृप्तोऽसौ योगस्तस्य प्रसिध्यति ॥ १० ॥  
 सुतोऽपि योगयुक्तः स्याज्जाग्रच्चापि विशेषतः ॥  
 ईदृक् चेष्टः स्मृतः श्रेष्ठो गरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् ॥ ११ ॥  
 य आत्मव्यतिरेकेण द्वितीयं नैवपश्यति ॥  
 ब्रह्मीभूय स एवं हि दक्षपक्ष उदाहृतः ॥ १२ ॥  
 विषयासक्तचित्तो हि यतिर्मोक्षं न त्रिन्दति ॥  
 यत्नेन विषयासक्तिं तस्माद्योगी विवर्जयेत् ॥ १३ ॥  
 विषयेन्द्रियसंयोगं केचिद्योगं वदन्ति हि ॥  
 अधर्म्मो धर्म्मरूपेण गृहीत स्तै रपण्डितैः ॥ १४ ॥  
 मनसश्चात्मनश्चैव संयोगं च तथापरे ॥  
 उक्तानामधिकाद्येते केवलं योगवञ्चिताः ॥ १५ ॥  
 वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि ॥  
 एकी कृत्य विमुच्येत योगोऽयं मुख्य उच्यते ॥ १६ ॥  
 कषायमोहविक्षेप लज्जाशंकादि चेतसः ॥  
 व्यापारा स्तु समाख्याता स्तान् जित्वा वशमानयेत् ॥ १७ ॥  
 कुटुम्बैः पञ्चभिर्ग्राम्यैः पष्ठस्तत्र महत्तरः ॥



देवासुर मनुष्यै स्तु स जेतुं नैव शक्यते ॥ १८ ॥  
 बलेन परराष्ट्राणि गृह्णन् शूरस्तु नोच्यते ॥  
 जितो येनेन्द्रियग्रामः स शूरः कथ्यते बुधैः ॥ १९ ॥  
 बहिर्मुखानि सर्वाणि कृत्वा चाभिमुखानिवै ॥  
 सर्वश्चैवेन्द्रियग्रामं मनश्चात्मनि योजयेत् ॥ २० ॥  
 सर्वभावविनिर्मुक्तः क्षेत्रज्ञं ब्रह्मणिन्यसेत् ॥  
 एतद्व्यानञ्च योगश्च शेषाः स्युर्ग्रन्थविस्तराः ॥ २१ ॥  
 त्यक्त्वा विषय मोगांश्च मनोनिश्चलतां गतम् ॥  
 आत्मशक्तिस्वरूपेण समाधिः परिकीर्तितः ॥ २२ ॥  
 चतुर्णां सन्निकर्षेण पदं यत्तदशाश्वतम् ॥  
 द्वयो स्तु सन्निकर्षेण शाश्वतं ध्रुवमक्षयम् ॥ २३ ॥  
 यन्नास्ति सर्वलोकस्य तदस्तीति विरुध्यते ॥  
 कथ्यमानं तथान्यस्य हृदये नावतिष्ठते ॥ २४ ॥  
 स्वयं वेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी मैथुनं यथा ॥  
 अयोगी नैव जानाति जातान्धो हि यथा घटम् ॥ २५ ॥  
 नित्याभ्यसनशीलस्य सुसंवेद्यं हि तद्ब्रवेत् ॥  
 तत् सूक्ष्मत्वादर्निर्देश्यं परब्रह्म सनातनम् ॥ २६ ॥  
 बुधस्त्वाभरणं भावं मनसालोचनं यथा ॥  
 मन्यते स्त्री च मूर्खश्च तदेव बहुमन्यते ॥ २७ ॥  
 तस्मात् त्यक्तकषायेण कर्त्तव्यं दण्डधारणम् ॥  
 इतरस्तु न शक्नोति विषयै रभिभूयते ॥ २८ ॥  
 न स्थिरं क्षणमप्येक मुदकं हि यथोर्मिमभिः ॥  
 वाताहतं तथाचित्तं तस्मात् तस्य न विश्वसेत् ॥ २९ ॥

त्रिदण्डव्यपदेशेन जीवन्ति बहवो नराः ॥  
 यो हि ब्रह्म न जामाति न त्रिदण्डार्ह एव सः ॥ ३० ॥  
 ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेदष्टधा मिथुनं पृथक् ॥  
 स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ॥ ३१ ॥  
 संकल्पो ऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥  
 एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ३२ ॥  
 न ध्यातव्यं न वक्तव्यं न कर्त्तव्यं कदाचन ॥  
 एतैः सर्वैः सुसंपन्नो यतिर्भवति नेतरः ॥ ३३ ॥  
 पारिव्राज्यं गृहीत्वा च यो धर्मे नावतिष्ठते ॥  
 स्वपदेनांकयित्वा तं राजा शीघ्रं प्रवासयेत् ॥ ३४ ॥  
 एकोभिक्षुर्यथोक्तस्तु द्वौ चैव मिथुनं स्मृतम् ॥  
 त्रयोग्राम स्तथाख्यात ऊर्ध्वन्तु नगरायते ॥ ३५ ॥  
 नगरं हि न कर्त्तव्यं ग्रामो वा मिथुनं तथा ॥  
 एतत्त्रयं प्रकुर्वाणः स्वधर्माच्च्यवते यतिः ॥ ३६ ॥  
 राजवार्त्तादि तेषान्तु भिक्षावार्त्ता परस्परम् ॥  
 स्नेहपैशुन्य मातृसख्यं सन्निकर्षादसंशयम् ॥ ३७ ॥  
 लाभपूजानिमित्तं हि व्याख्यानं शिष्यसंग्रहः ॥  
 एते चान्ये च बहवः प्रपञ्चाः कुतपस्विनाम् ॥ ३८ ॥  
 ध्यानं शौचं तथाभिक्षा नित्यमेकान्तशीलता ॥  
 भिक्षोश्चत्वारि कर्म्माणि पञ्चमो नोपपद्यते ॥ ३९ ॥  
 तपोजपैः कृशीभूतो व्याधितो ऽवसथावहः ॥  
 वृद्धो ग्रहगृहीतश्च यश्चान्यो विकलेन्द्रियः ॥ ४० ॥  
 नीरुजश्च युवाचैव भिक्षुर्नावसथावहः ॥



स दूषयति तत् स्थानं बुधान् पीडयतीति च ॥ ४१ ॥  
 नीरुजश्च युवाचैव ब्रह्मचर्याद्विनश्यति ॥  
 ब्रह्मचर्याद्विनष्टस्तु कुलञ्चैवतु नाशयेत् ॥ ४२ ॥  
 वसन्नावसथे मिक्षु मैथुनं यदि सेवते ॥  
 तस्यावसथनाथस्य मूलान्यपि निकृन्तति ॥ ४३ ॥  
 आश्रमे तु यतिर्यस्य मुहूर्त्तमपि विश्रमेत् ॥  
 किंतस्यान्येन धर्मेण कृतकृत्यो ऽभिजायते ॥ ४४ ॥  
 सञ्चितं यद्गृहस्थेन पापमाभरणान्तिकम् ॥  
 स निर्दहति तत्सर्वमेकरात्रोषितो यतिः ॥ ४५ ॥  
 योगाश्रमपरिश्रान्तं यस्तु भोजयते यतिम् ॥  
 निखिलं भोजितं तेन त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ ४६ ॥  
 यस्मिन्देशे वसेद्योगी ध्यानयोगविचक्षणः ॥  
 सोऽपिदेशो भवेत्पूतः किंपुनस्तस्य बान्धवाः ॥ ४७ ॥  
 द्वैतंचैव तथाद्वैतं द्वैताद्वैतं तथैवच ॥  
 न द्वैतं नापि चाद्वैतमितो तत् परमार्थिकम् ॥ ४८ ॥  
 नाहं नैवान्यसंबन्धो ब्रह्मभावेन भावितः ॥  
 ईदृशोऽयामवस्थायामवाप्यं परमं पदम् ॥ ४९ ॥  
 द्वैतपक्षे समास्था ये अद्वैते तु व्यवस्थिताः ॥  
 अद्वैतिनां प्रवक्ष्यामि यथा धर्मः सुनिश्चितः ॥ ५० ॥  
 तत्रात्मव्यतिरेकेण द्वितीयं यदि पश्यति ॥  
 ततः शास्त्राण्यधीयन्ते श्रूयन्ते ग्रन्थसंचयाः ॥ ५१ ॥  
 दक्षशास्त्रं यथाप्रोक्तं मशेषाश्रममुत्तमम् ॥  
 अधीयन्ते तु ये विप्रा स्ते यान्त्यमरलोक्ताः ॥ ५२ ॥

इदंतु यः पठेद्भक्त्या शृणुयादधमो ऽपि वा ॥  
 स पुत्रपौत्रपशुमान् कीर्तिञ्च समवाप्नुयात् ॥ ५३ ॥  
 श्रावयित्वास्विदं शास्त्रं श्राद्धकाले ऽपि वा द्विजः ॥  
 अक्षयं भवति श्राद्धं पितृभ्यश्चोपजायते इति ॥ ५४ ॥

दाक्षे धर्मशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ।

( गौतमसंहितायां तृतीयाऽध्याये )

उत्तरेषांचैतदविरोधी अनिचयो भिक्षुरुर्द्ध्वरेताः ॥  
 ध्रुवशीलो वर्षासु भिक्षार्थी ग्राममियात् ॥ १ ॥  
 जघन्यमनिवृत्तं चरेत् निवृत्ताशी वाक्चक्षुःकर्मसंयतः ॥  
 कौपीनाच्छादनार्थं वासो विभ्रयात् ॥ २ ॥  
 प्रहीणमेके निर्णेजनाविप्रयुक्तं । ओषधिवनस्पतीनामङ्गमु-  
 पाददीत ॥ न द्वितीयामुपहर्तुं रात्रिं ग्रामे वसेत् ॥ ३ ॥  
 मुण्डः शिखीवा वर्ज्येज्जीववधं । समो भूतेषु हिंसानुग्रहयो-  
 रनारंभी ॥ इति ॥

( वसिष्ठसंहितायां दशमाऽध्याये )

( परिव्राजकधर्मः ) परिव्राजकः सर्वभूताभयदक्षिणां  
 दत्त्वा प्रतिष्ठेत् ॥ १ ॥ अथाप्पुदाहरन्ति ॥  
 अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा चरति यो द्विजः ॥  
 तस्यापि सर्वभूतेभ्यो न भयं जातु विद्यते ॥ २ ॥  
 अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यद्भुवि वर्तते ॥  
 हन्ति जातानजातांश्च प्रतिगृह्णाति यस्य च ॥ ३ ॥  
 संन्यसेत् सर्वकर्मणि वेदमेकं न संन्यसेत् ॥



वेदसंन्यासतः शूद्र स्तस्माद्वेदं न संन्यसेत् ॥ ४ ॥

एकाक्षरं परंब्रह्म प्राणायामः परन्तपः ॥

उपवासात् परंभैक्षं दया दानाद्विशिष्यते ॥ ५ ॥

मुण्डोऽममत्व परिग्रहः सप्तागाराण्यसंकल्पितानि चरेद्भैक्षं विधूमे सन्नमुषले एकशाटीपरिवृतोऽजिनेन वा गोप्र लूनै स्तृणैर्वैष्टितशरीरः ।

स्थण्डिलशाग्यनित्यां वसतिं वसेत् ॥ ६ ॥

ग्रामान्ते देवगृहे शून्यागारे वृक्षमूले वा मनसाज्ञानमधीयात् ॥

अरण्यनित्यो न ग्राम्यपशूनां संदर्शनेविहरेत् ॥ ७ ॥

[ अथाप्युदाहरन्ति ]

अरण्यनित्यस्य जितेन्द्रियस्य सर्वेन्द्रियप्रीतिनिवर्त्तकस्य ॥

अध्यात्मचिन्ता गतमानसस्य ध्रुवा ह्यनावृत्तिरूपेक्षकस्य ॥

अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारोऽनुन्मत्त उन्मत्तवेशः ॥ ८ ॥

[ अथाप्युदाहरन्ति ]

न शब्दशास्त्राभिरतंस्य मोक्षो न चापि लोके ग्रहणेरतस्य ॥

न भोजनाच्छादन तत्परस्य न चापिरम्यावसथप्रियस्य ॥

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ॥

अनुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित् ॥ ११ ॥

अलाभेन विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ॥

प्राणयात्रिकमात्रः स्यात् मात्रासंगाद्विनिर्गतः ॥ १२ ॥

न कुट्यां नोदके संगे न चैले न त्रिपुष्करे ॥

नागारे नासने नान्ते यस्य वै मोक्षवित्तमः ॥ १३ ॥

ब्राह्मणकुले वा यल्लभेत् तद्ब्रुञ्जीत सायं मधुमांससर्पि-  
र्वर्जम् ॥ यतीन् साधून् वा गृहस्थान् सायं प्रातश्चतुप्येत् ।  
ग्रामेवसेद जिह्वोऽशरणोऽसंकसुकः । नचेन्द्रियसंयोगं  
कुर्वीत केनचित् उपेक्षकः सर्वभूतानां हिंसानुग्रहपरिहाण-  
पैशुन्यमत्सराभिमानाहंकाराश्रद्धानार्जवात्मस्तवपरगर्हादंभ-  
लोभमोहक्रोधासूयाविवर्जितः सर्वाश्रमिणां धर्मिष्ठो य-  
ज्ञोपवीत्युदककमण्डलुहस्तः शुचिर्ब्राह्मणो वृषलान्नपानवर्जी  
नहीयते ब्रह्मलोकात् ब्रह्मलोकात् ॥ १४ ॥

( वसिष्ठसंहितायां दशमोऽध्यायः समाप्तः )

[ इति ऊनविंशति संहितायामुक्तम् ॥ ]

( अथेदानीं पौराणिकमतं यतिधर्ममाह )

ब्रह्मपुराणं प्रथमं पद्मं वैष्णवमेव च ॥

शैवं भागवतं चैव भविष्यं नारदादिकम् ॥ १ ॥

मार्कण्डेयमथारुणं ब्रह्मवैवर्तमेव च ॥

लैङ्गंतथाचवाराहं स्कन्दं वामनमेव च ॥ २ ॥

कौर्म मत्स्यं गारुडं च वायवीयमनन्तरम् ॥

अष्टादशं समुद्रिष्टं ब्रह्माण्डमिति संज्ञितम् ॥ ३ ॥

इति अष्टादश महापुराणान्युक्तानि

( अथाष्टादशोप पुराणान्याह )

सनत्कुमारं प्रथमं नारसिंहं नारदीयम् ॥

शिवचैव दीर्वाससं कापिलं मानवं ॥

चौशनसं वारुणं कालिकाख्यं च साम्बं ॥



नन्दिकृतं सौरं पाराशरंआदित्यं माहेश्वरं ॥

भागवतं वाशिष्ठञ्च शौनकं ॥

एतान्युपपुराणानि कथितानि महात्मभिः ॥ इति ॥

॥ ब्रह्मपुराणे १० अध्याये ॥

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ॥

नालमेकस्य तत्सर्वमिति कृत्वा नमुह्यति ॥ १ ॥

यदा भावं न कुरुते सर्वभूतेषु पापजम् ॥

कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ २ ॥

यदान्येभ्यो न विभेति यदाचास्मान्न विभ्यति ॥

यदानेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्मसंपद्यते तदा ॥ ३ ॥

[ ब्रह्मपुराणे १८ अध्याये ]

वसन्त्याश्रित्य मुनयः संसिद्धा दैवतैः सह ॥

गृहस्थाजनकाद्याश्च राजन्ते योगधर्मिणः ॥ ४ ॥

वालखिल्यादयश्चैव ऋषयो ब्रह्मवादिनः ॥

वानप्रस्थाश्च व्यासाद्या भिक्षुः पञ्चशिखस्तथा ॥ ५ ॥

योगमास्थाय सर्वे ते प्रविष्टाः सूर्यमण्डलम् ॥

शुको व्याससुतः श्रीमान् योगधर्ममवाप्य सः ॥ ६ ॥

आदित्यकिरणान्गत्वा ह्यपुनर्योगमास्थितः ॥

शब्दमात्रे श्रुतिसुखा ब्रह्मविष्णुशिवादयः ॥ ७ ॥

प्रत्यक्षोऽयं परोदेवः सूर्य्यस्तिमिरनाशनः ॥

तस्मादन्यत्र भक्तिर्हि न कार्या शुभमिच्छता ॥ ८ ॥

( ब्रह्मपुराणे ११ अध्याये चतुर्थश्रमधर्मं दर्शयति ॥ )

चतुर्थश्चाश्रमो भिक्षोः प्रोच्यते च मनीषिभिः ॥

तस्य स्वरूपं वदतो बुध्यध्वं मुनिसत्तमाः ॥ ९ ॥  
 पुत्रद्रव्यकलत्रेषु त्यजेत् स्नेहं द्विजोत्तमाः ॥  
 चतुर्थमाश्रमस्थानं गच्छेन्निर्झूतमत्सरः ॥ १० ॥  
 त्रैवर्णिकां त्यजेत् सर्वानारंभान् द्विजसत्तमाः ॥  
 मित्रादिषु समो मैत्रः समस्तेष्वेव जन्तुषु ॥ ११ ॥  
 जरायुजाण्डजादीनां बाह्यमनः कर्मभिः क्वचित् ।  
 युक्तः कुर्वीत नद्रोहं सर्वसंगांश्च वर्जयेत् ॥ १२ ॥  
 एकरात्रिस्थितिं ग्रामे पञ्चरात्रिस्थितिःपुरे ॥  
 तथातिष्ठेद्यथा प्रीतिर्दोषोवाप्त्य न जायते ॥ १३ ॥  
 प्राणयात्रानिमित्तं व्यङ्ग्ये भुक्तवज्जने ॥  
 काले प्रशस्तग्रामेषु भिक्षार्थं पर्यटद्गृहान् ॥ १४ ॥  
 अलाभेन विषादो स्याल्लाभत्वे न तु हर्षयेत् ॥  
 प्राणयात्रिकमात्रं स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः ॥ १५ ॥  
 अभिपूजितलाभश्च यतिर्मुक्तोपि बध्यते ॥  
 कामः क्रोधस्तथादर्यो लोभमोहादयश्च ये ॥ १६ ॥  
 तांस्तुदोषान् परित्यज्य परब्रह्ममना भवेत् ॥  
 अभयं सर्वसत्त्वेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥ १७ ॥  
 कृत्वाग्निहोत्रं स्वशरीरसंस्थं शरीरमग्निं स्वमुखेजुहोति ॥  
 विप्रास्तुभैक्ष्योपगतैर्हविर्भिश्चिताग्निनासब्रजतिस्मलोकान् ॥  
 मोक्षाश्रमं यश्चरते यथोक्तं शुचिश्च संकल्पितबुद्धियुक्तः ॥  
 अनिन्धनं ज्योतिरिव प्रशान्तं सब्रह्मलोकं जयति द्विजातिः १९  
 इति श्री ब्रह्मपुराणे व्यासर्षि संवादे वर्णाश्रम धर्मवर्णनं नाम  
 द्वादशोत्तराक्षतमोऽध्यायः ॥



[पद्मपुराणेस्वर्गखण्डे ३१ अध्याये] संन्यासधर्ममाह

( व्यासउवाच )

एवं वनाश्रमोस्थित्वा तृतीयं भागमायुषः ।  
 चतुर्थं चायुषोभागं संन्यासेन नयेत्क्रमात् ॥ १ ॥  
 ज्ञानसंन्यासिनः केचिद्वेदसंन्यासिनोपरे ॥  
 कर्मसंन्यासिनस्त्वन्ये त्रिविधाः परिकीर्तिताः ॥ २ ॥  
 यः सर्वत्र विनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वश्चैव निर्भयः ॥  
 प्रोच्यते ज्ञानसंन्यासी आत्मन्येव व्यवस्थितः ॥ ३ ॥  
 वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं निराशीर्निष्परिग्रहः ॥  
 प्रोच्यते वेदसंन्यासी मुमुक्षुर्विजितेन्द्रियः ॥ ४ ॥  
 यस्त्वग्निमात्मसात्कृत्वा ब्रह्मार्पणपरोद्विजः ॥  
 ज्ञेयः स कर्मसंन्यासी महायज्ञपरायणः ॥ ५ ॥  
 त्रयाणामपि चैतेषां ज्ञानीत्वभ्यधिकोमतः ॥  
 न तस्य विद्यतेकार्यं न लिङ्गं वा विपश्चितः ॥ ६ ॥  
 निर्म्ममो निर्भयः शान्तो निर्द्वन्द्वः पर्णभोजनः ॥  
 जीर्णकौपीनवासाःस्यान्नग्नौ वा ज्ञानतत्परः ॥ ७ ॥  
 ब्रह्मचारी जिताहारो ग्रामादन्नं समाहरेत् ॥  
 अध्यात्मरतिरासीत निरपेक्षो निरामिषः ॥ ८ ॥  
 आत्मनैव सहायेन सुखार्थं विचरोदिह ॥  
 नाभिनन्देत् मरणं नाभिनन्देत् जीवनम् ॥ ९ ॥  
 कालमेव प्रतीक्षेत् निर्देशं भूतको यथा ॥  
 नाध्येतव्यं न वक्तव्यं श्रोतव्यं न कदाचन ॥ १० ॥

एवं ज्ञानपरो योगी ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥  
 एकवासो ऽथवा विद्वान्कौपीनाच्छादनोऽपि वा ॥ ११ ॥  
 मुण्डी शिखी वाथ भवेत् त्रिदण्डी निष्परिग्रहः ॥  
 कषायवासाः सततं ध्यान योगपरायणः ॥ १२ ॥  
 ग्रामान्ते वृक्षमूले वा वसेद्देवालये ऽपि वा ॥  
 समः शत्रौ तथा मित्रे तथा मानापमानयोः ॥ १३ ॥  
 भैक्षेण वर्त्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेत् क्वचित् ॥  
 यस्तु मोहेन वान्यस्मादेकान्नादी भवेद् यतिः ॥ १४ ॥  
 न तस्य निष्कृतिः काचिद्धर्मशास्त्रेषु दृश्यते ॥  
 रागद्वेष वियुक्तात्मा समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ १५ ॥  
 प्राणिहिंसानिवृत्तश्च मौनी स्यात् सर्वनिस्पृहः ॥  
 द्वाष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ॥ १६ ॥  
 सत्यपूतां वदेद्द्वार्ष्णीं मनःपूतं समाचरेत् ॥  
 नैकत्र निवसेद्देशे वर्षाभ्योऽन्यत्र भिक्षुकः ॥ १७ ॥  
 स्नात्वा शौचवृत्तो नित्यं कमण्डलुकरः शुचिः ॥  
 ब्रह्मचर्यरतो नित्यं वनवासरतो भवेत् ॥ १८ ॥  
 मोक्षशास्त्रेषु निरतो ब्रह्मसूत्री जितेन्द्रियः ॥  
 दम्भाहङ्कारनिर्मुक्तो निर्दोषोऽसत्यवर्जितः ॥ १९ ॥  
 आत्मज्ञानगुणोपेतो यतिर्भोक्षमवाप्नुयात् ॥  
 अभ्यसेत् सततं देवं प्रणवाख्यं सनातनम् ॥ २० ॥  
 स्नात्वा चम्य विधानेन शुचिर्देवालयादिषु ॥  
 यज्ञोपवीती शान्तात्मा कुशपाणिः समाहितः ॥ २१ ॥  
 धौतकापायवसनो भस्माच्छन्न तनुरुहः ॥



अधियज्ञं ब्रह्मजपेदाधिदैविकमेव च ॥ २२ ॥  
 आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत् ॥  
 पुत्रेषु वाथ निवसन् ब्रह्मचारी यतिर्मुनिः ॥ २३ ॥  
 वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं स याति परमांगतिम् ॥  
 अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं तपः परम् ॥ २४ ॥  
 क्षमादया च सन्तोषो व्रतान्यस्य विशेषतः ॥  
 वेदान्तज्ञाननिष्ठो वा पञ्चयज्ञान् समाहितः ॥ २५ ॥  
 कुर्यादहरहः स्नात्वा भिक्षार्थेनैव तेन हि ॥  
 होममन्त्राजपेन्नित्यं काले काले समाहितः ॥ २६ ॥  
 स्वाध्यायं चान्वहं कुर्यात् सावित्रीः सन्ध्ययोज्जपेत् ॥  
 ध्यायीत सततं देवमेकान्ते परमेश्वरम् ॥ २७ ॥  
 एकाग्रं वर्जयेन्नित्यं कामक्रोधं परिग्रहम् ॥  
 एकवासा द्विवासा ऽथ शिखीयज्ञोपवीतवान् ॥ २८ ॥  
 कमण्डलुकरोविद्वां स्त्रिदण्डो याति तत्परम् ॥  
 एवं त्वाश्रमनिष्ठानां यतीनां नियतात्मनाम् ॥ २९ ॥  
 अलानुदारुपात्रे च मृण्मयं वैणवं तथा ॥  
 चत्वारि यतिपात्राणि मनुराह प्रजापतिः ॥ ३० ॥  
 प्राग्रात्रे मध्यरात्रे च पररात्रे तथैव च ॥  
 सन्ध्यासूक्तिं विशेषेण चिन्तये न्नित्यमीश्वरम् ॥ ३१ ॥  
 कृत्वा हृत्पद्मनिलये विश्वाख्यं विश्वसम्भवम् ॥  
 आत्मानं सर्वभूतानां परस्तात्तमसः स्थितम् ॥ ३२ ॥  
 सर्वस्याधारमव्यक्तमानन्दं ज्योतिरव्ययम् ॥  
 प्रधानपुरुषातीत माकाशं दहनं शिवम् ॥ ३३ ॥

तदन्तं सर्वभावानामश्वरं ब्रह्मरूपिणम् ॥  
 ओङ्कारान्तेऽथ चात्मानं समाप्य परमात्मनि ॥ ३४ ॥  
 आकाशे देवमीशानं ध्यायेदाकाशमध्यगम् ॥  
 कारणं सर्वभावानामानन्दैक समाश्रयम् ॥ ३५ ॥  
 पुराणपुरुषं त्रिष्णुं ध्यायेन्मुच्येतबन्धनात् ॥  
 यद्वा गुहादौ प्रकृतौ जगत् सन्मोहनालये ॥ ३६ ॥  
 विचिन्त्यं परमं व्योम सर्वभूतैककारणम् ॥  
 जीवनं सर्वभूतानां यत्र लोकः प्रलीयते ॥ ३७ ॥  
 आनन्दं ब्रह्मणः सूक्ष्मं यत्पश्यन्ति मुमुक्षवः ॥  
 तन्मध्ये निहितं ब्रह्म केवलं ज्ञानलक्षणम् ॥ ३८ ॥  
 अनन्तं सत्यमीशानं विचिन्त्यासीत वाग्यतः ॥  
 गुह्याद्गुह्यतमं ज्ञानं यतीनामेतदीरितम् ॥ ३९ ॥  
 योऽत्र तिष्ठेत् सदानेन सोऽश्नुते योगमैश्वरम् ॥  
 तस्माज्ज्ञानरतो नित्यमात्मविद्यापरायणः ॥ ४० ॥  
 ज्ञानं समभ्यस्तेद्ब्रह्म येन मुच्येत बन्धनात् ॥  
 मत्वा पृथक्त्मात्मानं सर्वस्मादेव केवलम् ॥ ४१ ॥  
 आनन्दमक्षरं ज्ञानं ध्यायेत् च ततः परम् ॥  
 यस्माद्भवन्ति भूतानि यज्ज्ञात्वा नेह जायते ॥ ४२ ॥  
 स तस्मादीश्वरो देवः परस्ताद्व्योऽधितिष्ठति ॥  
 यदन्तरेतद्गमनं शाश्वतं शिवमव्ययम् ॥ ४३ ॥  
 य इदं स्वपरोक्षं स्तु सदेवः स्यान्महेश्वरः ॥  
 व्रतानि यानि भिक्षूणां तथैवायं व्रतानि च ॥ ४४ ॥  
 एकैका तिक्रमेतेषां प्रायश्चित्तं विधीयते ॥



अथ ब्रह्मध्यानमाह पद्मपुराणे ॥

यद्ब्रह्मपरमं ज्योतिः प्रतिष्ठाक्षरमव्ययम् ॥ ४५ ॥

यो ऽन्तरात्मा परंब्रह्म स विज्ञेयो महेश्वरः ॥

एष देवो महादेवः केवलः परमः शिवः ॥ ४६ ॥

तदेवाक्षरमद्वैतं तन्नित्यं परमं पदम् ॥

तस्मान्महीयतेदेव स्वधाम्नि ज्ञानसंज्ञिते ॥ ४७ ॥

आत्मयोगात्मके तत्त्वे महादेव स्ततः स्मृतः ॥

नान्यं देवं महादेवाद् व्यतिरिक्तं प्रपश्यति ॥ ४८ ॥

तमेवात्मानमन्वेति यः स याति परंपदम् ॥

मन्यन्ते ये स्वमात्मानं विभिन्नं परमेश्वरात् ॥ ४९ ॥

न ते पश्यन्ति तं देवं वृथा तेषां परिश्रमः ॥

एकमेव परंब्रह्म विज्ञेयं तत्त्वमव्ययम् ॥ ५० ॥

सदेवस्तु महादेवो नैतद्विज्ञाय बध्यते ॥

तस्माद्व्यतेत नियतं यतिः संयतमानसः ॥ ५१ ॥

ज्ञान योगरतः शान्तो महादेवपरायणः ॥

एषवः कथितो विप्रा यतीनामाश्रमः शुभः ॥ ५२ ॥

पितामहेन मुनिना विभुना पूर्व्वमीरितः ॥

नापुत्र शिष्ययोगिभ्यो दद्यादिदमनुत्तमम् ॥ ५३ ॥

ज्ञानं स्वयम्भुवा प्रोक्तं याति धर्माश्रयं शिवम् ॥

इति यति नियमानामेतदुक्तं विधानं सुरवरपरितोषे  
यद्भवेदेकहेतुः ॥ न भवति पुनरेषामुद्भवो वा विनाशः ।

प्रणिहित मनसो ये नित्यमवा चरन्ति ॥ ५४ ॥

(इति पद्मे स्वर्गखण्डे यतिनियमवर्णनं नाम एकत्रिंशो ऽध्यायः)

विष्णुपुराणे यतिधर्ममाह ९ अध्याये

यस्वेतां निहितश्चर्यां वानप्रस्थश्चरेन्मुनिः ॥  
 स दहत्यग्निवद्दोषान् जयेल्लांकांश्च शाश्वतान् ॥ १ ॥  
 चतुर्थश्चाश्रमो भिक्षोः प्राच्यते यो <sup>नीति</sup>मनिषाभिः ॥  
 तस्य स्वरूपं गदतो मम श्रोतुं नृपार्हति ॥ २ ॥  
 पुत्रद्रव्यकलत्रेषु त्यक्तस्नेहो नराधिप ॥  
 चतुर्थमाश्रमं स्थानं गच्छेन्निर्धूत मत्सरः ॥ ३ ॥  
 त्रैवर्गिकांस्त्यजेत् सर्वानारम्भान वनीपते ॥  
 मित्रादिषु समोमैत्रः समस्तेष्वेव जन्तुषु ॥ ४ ॥  
 जरायुजाण्डजादीनां वाङ्मनः कर्मभिः क्वचित् ॥  
 युक्तः कुर्वीत न द्रोहं सर्वसङ्गांश्च वर्जयेत् ॥ ५ ॥  
 एकरात्रस्थितिर्ग्रामे पञ्चरात्रस्थितिःपुरे ॥  
 तथातिष्ठेद्यथा प्रीतिर्द्वेषो वास्य न जायते ॥ ६ ॥  
 कामःक्रोधतथादर्प मोहलोभादयश्च ये ॥  
 तांस्तु दोषान् परित्यज्य परिव्राट् निर्म्ममो भवेत् ॥ ७ ॥  
 अभयं सर्वसत्त्वेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः ॥  
 न तस्य सर्वं सत्त्वेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥ ८ ॥  
 कृत्वाग्निहोत्रं स्वशरीर संस्थं शरीरमग्निं स्वमुखेजुहोति ॥  
 विप्रस्तुभिक्षोपगतैर्हविर्भिर्द्रिचताग्निना स ब्रजति स्म लोकान् ॥  
 मोक्षाश्रमं यश्चरते यथोक्तं शुचिः स्वसंकल्पितबुद्धियुक्तः ॥  
 अनिन्धनं ज्योतिरिव प्रशान्तं स ब्रह्मलोकं जयति द्विजातिः ॥ १० ॥  
 इति श्री विष्णुपुराणे तृतीयांशे यतिधर्मो नाम  
 नवमोऽध्यायः ॥



श्रीशिवमहापुराणे कैलाससंहितायामुत्तरभागे ऽष्टमाध्याये  
सन्यासप्रकरणमाह

( श्रीसुब्रह्मण्य उवाच )

साधुसाधु महाभाग वामदेव मुनीश्वर ॥  
त्वमतीव शिवेभक्तः शिवज्ञानवतांवर ॥ १ ॥  
मन्त्रादि षड्विधार्थानामर्थोपन्यासमार्गतः ॥  
समष्टिव्यष्टि भावार्थं वक्ष्यामि प्रणवात्मकम् ॥ २ ॥  
उपदेशक्रमो ह्यादौ वक्तव्यः श्रूयतामयम् ॥  
चातुर्वर्ण्यं हि लोकेऽस्मिन् प्रसिद्धं मानुषे मुने ॥ ३ ॥  
त्रैवर्णिकानामेवात्र श्रुत्याचार समन्वयः ॥  
शुश्रूषामात्रसाराहि शूद्राः श्रुतिवहिष्कृताः ॥ ४ ॥  
त्रैवर्णिकानां सर्वेषां स्वस्वाश्रमरतात्मनाम् ॥  
श्रुतिस्मृत्युदितो धर्म्मोऽनुष्ठेयो नापरः क्वचित् ॥ ५ ॥  
श्रुतिस्मृत्युदितं कर्म्म कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यति ॥  
वर्णाश्रमाचार पुष्पैरभ्यर्च्य परमेश्वरम् ॥  
तत् सायुज्यंगताः सर्वे बहवो मुनिसत्तमाः ॥  
ब्रह्मचर्येण ऋषयो देवयज्ञक्रियाध्वना ॥ ७ ॥  
पितरः स्वधयातृता इति हि श्रुतिरब्रवीत् ॥  
एवं ऋणत्रयान्मुक्तो वानप्रस्थाश्रमं गतः ॥ ८ ॥  
शीतोष्णमुखदुःखादि सहिष्णु विजितेन्द्रियः ॥  
तपस्वी विजिताहारो यमाद्यं योगमभ्यसेत् ॥ ९ ॥  
यथा दृढतराबुद्धिरविचाल्या भवेत्तथा ॥

एवं क्रमेणशुद्धात्मा सर्वकर्मणि विन्यसेत् ॥ १० ॥  
 संन्यस्य सर्वकर्मणि ज्ञानपूजापरो भवेत् ॥  
 सा हि साक्षाच्छिवैक्येन जीवनमुक्तिफलप्रदा ॥ ११ ॥  
 सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं वेदान्तज्ञानपारगम् ॥  
 आचार्यमुपसंगम्य यति मतिमतां वरम् ॥ १२ ॥  
 दीर्घदण्डप्रणामाद्यै स्तोषयेद्यत्नतः सुधीः ॥  
 यो गुरुः स शिवः प्रोक्तोयः शिवः स गुरुः स्मृतः ॥ १३ ॥  
 इतिनिश्चित्यमनसा स्वविचारं निवेद्य च ॥  
 लब्धानुज्ञस्तु गुरुणा द्वादशाहं पयोव्रती ॥ १४ ॥  
 शुक्लपक्षे चतुर्थ्यां वा दशम्यां वा विधानतः ॥  
 प्रातःस्नात्वा विशुद्धात्मा कृतनित्यक्रियः सुधीः ॥ १५ ॥ इति

( भागवते एकादशस्कन्धेऽष्टादशाध्याये )

[ यतिधर्मनिरूपणमाह ]

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अग्निहोत्रञ्च दर्शञ्च पूर्णमासञ्च पूर्ववत् ॥  
 चातुर्मास्यानि च मुनेराम्नातानि च नैगमैः ॥ १ ॥  
 एवं चीर्णेनतपसा मुनिर्धर्मनि संयतः ॥  
 मां तपोमयमाराध्य ऋषिलोकादुपैति माम् ॥ २ ॥  
 यदासौ नियमे कल्पो जरया जातवेदशुः ॥  
 आत्मन्यग्नीन् समारोप्य मच्चित्तोऽग्निं समाविशेत् ॥ ३ ॥  
 यदा कर्मविपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु ॥  
 विरागो जायते सम्यक् न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः ॥ ४ ॥



इष्ट्वायथोपदेशं मां दत्त्वा सर्वस्वमृत्विजे ॥  
 अग्नीन् स्वप्राणआवेदय निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ५ ॥  
 विप्रस्य वै संन्यसतो देवा दारादि रूपिणः ॥  
 विघ्नान् कुर्वन्त्ययं ह्यस्मान्नाक्रम्य समियात् परम् ॥ ६ ॥  
 विभृयाञ्चेन्मुनिर्वासः कौपीनाच्छादनं परम् ॥  
 त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत् किञ्चिदनापदि ॥ ७ ॥  
 दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिवेज्जलम् ॥  
 सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ८ ॥  
 मौनानीहानिलायामा दण्डावागुदेहचेतसाम् ॥  
 न ह्येते यस्य संत्याग वेणुभिर्न भवेद् यतिः ॥ ९ ॥  
 एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः ॥  
 आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान् समदर्शनः ॥ १० ॥  
 विविक्तक्षेम शरणो मद्भावं विमलाशयः ॥  
 आत्मानं चिन्तयेदेक मभेदेन मया मुनिः ॥ ११ ॥  
 अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं मोक्षञ्च ज्ञाननिष्ठया ॥  
 बन्धइन्द्रियं विक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः ॥ १२ ॥  
 तस्मान्नियम्य षड्वर्गं मद्भावेन चरेन्मुनिः ॥  
 विरक्तः क्षुल्लकामेभ्यो लब्धात्मनि सुखं महत् ॥ १३ ॥  
 पुरग्रामं व्रजान् सार्थान् भिक्षार्थं प्रविशंश्चरेत् ॥  
 पुण्यदेशं सरिच्छैलं वनाश्रमवर्ती महिम् ॥ १४ ॥  
 वानप्रस्थाश्रमपदेष्वभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेत् ॥  
 संसिध्यत्याश्वसंमोहः शुद्धसत्त्वः शिलान्धसा ॥ १५ ॥  
 नैतद्वस्तु तयापश्येद् दृश्यमानं विनश्यति ॥

असक्तचित्तो विरमेदिहामुत्र चिकीर्षितात् ॥  
 यदेतदात्मानि जगन्मनोवाक्प्राणसंहतम् ॥  
 सर्वं मायेति तर्केण स्वस्थस्त्यक्त्वा न तत् स्मरेत् ॥ १७ ॥  
 ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वा नपेक्षकः ॥  
 स लिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ॥ १८ ॥  
 बुधो बालकवत् क्रीडेत् कुशलो जडवच्चरेत् ॥  
 वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत् ॥ १९ ॥  
 वेदवादरतो न स्यान्न पाषण्डी न हैतुकः ॥  
 शुष्कवादविवादे न कश्चित् पक्षं समाश्रयेत् ॥ २० ॥  
 नोद्विजेत जनाद्धीरो जनं चोद्विजेन्नतु ॥  
 अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ॥ २१ ॥  
 देहमुद्दिश्य पशुवद्वैरं कुर्यान्न केनचित् ॥  
 एक एव परोह्यात्मा भूतेष्व्वात्मन्यवस्थितः ॥ २२ ॥  
 यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च ॥  
 अलब्ध्वा न विषीदेत काले काले ऽशनं क्वचित् ॥ २३ ॥  
 लब्ध्वा न हृष्येद्धृतिमानुभयं दैवतन्त्रितम् ॥  
 आहारार्थं समीहेत युक्तं तत् प्राणधारणम् ॥ २४ ॥  
 तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय विमुच्यते ॥  
 यद्वृत्त्योपपन्नान्नमद्याच्छ्रेष्ठमुतापरम् ॥ २५ ॥  
 तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः ॥  
 शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत् ॥ २६ ॥  
 अन्यांश्च नियमान्ज्ञानी यथाहं लीलयेत्परः ॥  
 न हि तस्य विकल्पाख्या याचमदीक्षया हता ॥ २७ ॥



आदेहान्तात् क्वचित् ख्याति स्ततः संपद्यते मया ॥  
 दुःखोदकैषु कामेषु जातनिर्व्वेद आत्मवान् ॥ २८ ॥  
 अजिज्ञासित मद्धर्मो गुरुं मुनिमुपाव्रजेत् ॥  
 तावत् परिचरेद्भक्तः श्रद्धावाननसूयकः ॥ २९ ॥  
 यावद्ब्रह्म विजानीयान्माभेव गुरुमादृतः ॥  
 यस्त्वंसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः ॥ ३० ॥  
 ज्ञानवैराग्यरहित स्त्रिदण्ड मुपजीवति ॥  
 सुरानात्मनामात्मस्थं निहृते माञ्चधर्महा ॥ ३१ ॥  
 अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते ।  
 भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः ॥ ३२ ॥  
 ग्रहिणो भूतरक्षेज्याद्विजस्याचार्य्यसेवनम् ॥  
 ब्रह्मचर्य्यं तपः शौचं सन्तोषो भूतसौहृदम् ॥ ३३ ॥  
 गृहस्थस्या प्यृतौगन्तुः सर्व्वेषां मदुपासनम् ॥  
 इति मां यः स्वधर्मेण भजेन्नित्य मनन्यभाक् ॥ ३४ ॥  
 सर्व्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दते ऽचिरात् ॥  
 भक्तयोद्धवानपायिन्या सर्व्वलोकमहेश्वरम् ॥ ३५ ॥  
 सर्व्वोत्पत्यप्ययं ब्रह्म कारण मुपयाति सः ॥  
 इति स्वधर्मनिर्णितसत्त्वो निर्ज्ञातमद्गतिः ॥ ३६ ॥  
 ज्ञानविज्ञानसंपन्नो न चिरात् समुपैति माम् ॥  
 वर्णाश्रमवृत्तां धर्म एष आचारलक्षणः ॥ ३७ ॥  
 स एव मद्भक्ति युतो निःश्रेयसकरः परः ॥  
 एतन्नेऽभिहितं सधो भवान् पृच्छति यच्च माम् ॥ ३८ ॥  
 यथा स्वधर्मसंयुक्तो भक्तो मां समियात् परम् ॥  
 इति श्रीभागवते महापुराणेऽष्टादशाध्याये यतिधर्मो वर्णितः ।

# अथ बृहन्नारदीयपुराणे यत्याश्रम निर्णयमाह पञ्चविंशाध्याये ।

यदा मनसि वैराग्यं जातं सर्वेषु जन्तुषु ॥  
तदैव संन्यसे द्विद्वान् अन्यथा पतितो भवेत् ॥ १ ॥  
वेदान्ताभ्यासनिरतः शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः ॥  
निर्द्वन्द्वो निरहंकारो निर्म्ममः सर्वदा भवेत् ॥ २ ॥  
समादिगुणनिर्युक्तः कामक्रोधविवर्जितः ॥  
नग्नो वा जीर्णकौपीनो भवेन्मुण्डी यती द्विजः ॥ ३ ॥  
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ॥  
एकरात्रं वसेद्ग्रामे त्रिरात्रं नगरे वसेत् ॥ ४ ॥  
भैक्ष्येण वर्तयेन्नित्यं द्वैकान्नाशी भवेद् यतिः ॥  
अनिन्दित द्विजगृहे व्यङ्गारे भुक्तिवर्जिते ॥ ५ ॥  
विवादराहिते चैव भिक्षार्थं पर्यटेद्यतिः ॥  
भवेत्त्रिषवणस्नायी नारायणपरायणः ॥ ६ ॥  
जपेच्च प्रणवं नित्यं यतात्मा विजितेन्द्रियः ॥  
एकान्नाशी भवेद्यस्तु कदाचिल्लम्पटो यतिः ॥ ७ ॥  
तस्य वै निष्कृतिर्नास्ति प्रायश्चित्तशतैरपि ॥  
विप्रा यदि यतिर्लिप्सुः प्रवृत्तदम्भको भवेत् ॥ ८ ॥  
स चण्डालसमोज्ञो वर्णाश्रमविगर्हितः ॥  
आत्मानं चिन्तयेद्देवं नारायणमनामयम् ॥ ९ ॥  
निर्द्वन्द्वं निर्म्ममं शान्तं मायातीतममत्सरम् ॥  
अव्ययं परिपूर्णञ्च सदानन्दैकविग्रहम् ॥ १० ॥



ज्ञानस्वरूपममलं परज्योतिः सनातनम् ॥  
 अविकारमनाद्यन्तं जगच्चैतन्यकारणम् ॥ ११ ॥  
 निर्गुणं परमं ध्यावेदात्मानं परमात् परम् ॥  
 पठेदुपनिषद्वाक्यं वेदार्थी श्चैव चिन्तयेत् ॥ १२ ॥  
 सहस्रशीर्षं देवेशं सदाध्याये जितेन्द्रियः ॥  
 एवं ध्यानपरो यस्तु यतिर्विगतमत्सरः ॥ १३ ॥  
 स याति परमानन्दं परंब्रह्मसनातनम् ॥  
 इत्येव माश्रमाचारान् यः करोति द्विजः क्रमात् ॥ १४ ॥  
 स याति परमं स्थानं यत्र गत्वा न शोचति ॥  
 वर्णाश्रमाचाररताः सर्वपापविमोचिताः ॥ १५ ॥  
 नारायणपरा यान्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥  
 इति बृहन्नारदीये पुराणे सदाचार वर्णनं नाम पञ्चविंशो  
 अध्यायः समाप्तः ॥

[ अथ मार्कण्डेयपुराणे ऽष्टाविंशाध्याये ]

यतिधर्म कथनम् ॥

वानप्रस्थाश्रम स्तस्माद्रिक्षोस्तु चरमोऽपरः ॥  
 चतुर्थस्य स्वरूपन्तु श्रूयतामाश्रमस्य मे ॥ १ ॥  
 यः स्वधर्मोऽस्य धर्मज्ञैः प्रोक्तस्तात महात्मभिः ॥  
 सर्वसंगपरित्यागो ब्रह्मचर्य्य मकोपिता ॥ २ ॥  
 यतेन्द्रियत्वमावासे नैकस्मिन् वसति श्रिरम् ॥  
 अनारम्भ स्तथाहारे भैक्ष्यान्नेनैककालिना ॥ ३ ॥  
 आत्मज्ञानावबोधेच्छा तथा चात्मावलोकनम् ॥  
 चतुर्थे त्वाश्रमोऽधर्मो मयायं ते निवेदितः ॥ ४ ॥

सामान्य मन्यवर्णाना माश्रमाणाञ्च मे शृणु ॥  
 सत्यं शौचमहिंसाच अनसूया तथा क्षमा ॥ ५ ॥  
 आनृशंस्यमकार्पण्यं सन्तोषश्चाष्टमोगुणः ॥  
 एते संक्षेपतः प्रोक्ता धर्माविर्णाश्रमेषु ते ॥ ६ ॥  
 एतेषु च स्वधर्मेषु स्वेषु तिष्ठेत् समन्ततः ॥  
 यश्चोल्लङ्घ्यस्वकं धर्मं स्ववर्णाश्रमसंज्ञितम् ॥ ७ ॥  
 नरोऽन्यथा प्रवर्त्तेत सदण्ड्यो भूभृतो भवेत् ॥  
 ये च स्वधर्मं संत्यागात् पापं कुर्वन्ति मानवाः ॥ ८ ॥  
 उपेक्षत स्तान् नृपते रिष्टापूर्त्तं प्रणश्यति ॥  
 तस्माद्राज्ञा प्रयत्नेन सर्व्वेवर्णाः स्वधर्मतः ॥ ९ ॥  
 प्रवर्त्तन्तोऽन्यथा दण्ड्याः स्थाप्याश्चैव स्वकर्मभु ।

इति मार्कण्डेय महापुराणे अष्टाविंशोऽध्यायः ।

अग्नि पुराणे एकषष्ठ्यधिकशत तमा  
 ऽध्याये यतिधर्मं निरूपयति ।

पुष्कर उवाच ।

यति धर्मं प्रवक्ष्यामि ज्ञानमोक्षादिदर्शकम् ।  
 चतुर्थमायुषो भागं प्राप्य संगत् परिव्रजेत् ॥ १ ॥  
 यदहि विरजेद्द्वीर स्तदाहि च परिव्रजेत् ।  
 प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्व्ववेदसदक्षिणाम् ॥ २ ॥  
 आत्मन्यग्नीन् समारोप्य प्रव्रजेद्ब्राह्मणो गृहात् ।  
 एकएव चरेन्नित्यं ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ॥ ३ ॥  
 उपेक्षको ऽसञ्चयिको मुनिर्ज्ञानसमन्वितः ॥



कपालं वृक्षमूलञ्च कुचेलमसहायता ॥ ४ ॥  
 समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥  
 नाभिनन्देतमरणं नाभिनन्देत जीवनम् ॥ ५ ॥  
 कालमेव प्रतीक्षेत निदेशं भृतको यथा ॥  
 दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ॥ ६ ॥  
 सत्यपूतां वदेद्वाचं मनः पूतं समाचरेत् ॥  
 अलावुदारुपात्राणि मृण्मयं वैणवं यतेः ॥ ७ ॥  
 शुद्धभाव इचरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमेरतः ॥  
 समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ८ ॥  
 फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बु प्रसादकम् ।  
 न नामग्रहणादेव तस्य वारिप्रसीदति ॥ ९ ॥  
 अजिह्वः षण्डकः पङ्गुरन्धो वधिर एव च ॥  
 सद्भिश्च मुच्यते सद्भि रज्ञानात् संवृतो द्विजः ॥ १० ॥  
 अद्विरात्र्याञ्च यान् जन्तून् हिनस्त्य ज्ञानतो यतिः ।  
 तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान् षडा चरेत् ॥ ११ ॥  
 अस्थिस्थूणं स्नायु युतं मांसशोणितलेपनम् ॥  
 चर्मावनद्धं दुर्गन्धं पूर्णं मूत्र पुरीषयोः ॥ १२ ॥  
 जराशोक समाविष्टं रोगाय तनुमातुरम् ।  
 रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ १३ ॥  
 यमा पञ्चाथ नियमाः शौचं सन्तोषणं तपः ।  
 स्वाध्यायेश्वरपूजा च पद्मकाव्यासनं यतेः ॥ १४ ॥  
 प्राणायामं स्तु द्विविधः सगर्भोऽगर्भ एव च ।  
 जपध्यानयुतो गर्भो विपरीत स्वगर्भकः ॥ १५ ॥

प्रत्येकं त्रिविधः सोऽपि पूरकुम्भकरेचकैः ।  
 पूरणात् पूरको वायो निश्चलत्वाच्च कुम्भकः ॥ १६ ॥  
 रेचनाद्रेचकः प्रोक्तो मात्राभेदेन च त्रिधा ।  
 द्वादशात् तु चतुर्विंशः षट्त्रिंशन्मात्रिको परः ॥ १७ ॥  
 तालोलध्वक्षरोमात्रा प्रणवादि चरेच्छनैः ॥  
 प्रत्याहारो जापकानां ध्यानमीश्वरचिन्तनम् ॥ १८ ॥  
 मनोधृति धारणा स्यात् समाधिर्व्रह्माणि स्थितिः ।  
 अयमात्मा परंब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तकम् ॥ १९ ॥  
 विज्ञानमानन्दं ब्रह्म तत्त्वमस्य हमस्मि तत् ।  
 परंब्रह्मज्योतिरात्मा वासुदेवो विमुक्तोऽहं ॥ २० ॥  
 देहेन्द्रियमनोबुद्धि प्राणाहङ्कारवर्जितम् ॥  
 जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तादि मुक्तं ब्रह्मतुरीयकम् ॥ २१ ॥  
 नित्यशुद्धबुद्धमुक्त सत्यमानन्दमद्वयम् ॥  
 अहंब्रह्मपरंज्योति रक्षरं सर्वगं हरिः ॥ २२ ॥  
 यो ऽसावादित्य पुरुषः सोऽसावहमखण्ड ओं ॥  
 सर्वारम्भ परित्यागी सम दुःखसुखाक्षमी ॥ २३ ॥  
 भावशुद्धश्च ब्रह्माण्डं भित्त्वा ब्रह्म भवेन्नरः ॥  
 आपाक्यां पौर्णमास्याश्च चातुर्मास्यं व्रतं चरेत् ॥ २४ ॥  
 ततो व्रजेन्नवम्यादौ धृतुसन्धिषु वापयेत् ॥  
 प्रायश्चित्तं यतीनाश्च ध्यानं वायुर्यम स्तथा ॥ २५ ॥  
 इत्याग्नेये महापुराणे यतिधर्म नामैक षष्ठ्यधिक  
 शततमो ऽध्यायः समाप्तः ॥



ब्रह्मवैवर्तपुराणे श्रीकृष्णजन्मखण्डे ८३ अध्याये

संन्यासधर्ममाह ॥

संन्यासिनाञ्च योधर्मो मन्मुखाञ्च निशामय ॥

दण्डग्रहणमात्रेण नरोनारायणो भवेत् ॥ १ ॥

पूर्वकर्माणि दग्ध्वाच परकर्म निकृन्तनम् ॥

कुरुते चिन्तयेन्माञ्च यायात् तु मम मन्दिरम् ॥ २ ॥

संन्यासिनः पदस्पर्शात् सद्यः पूतावसुन्धरा ॥

सद्यः पूतानि तीर्थानि वैष्णवस्य यथाव्रजः ॥ ३ ॥

संन्यासिनश्च स्पर्शेन निष्पापो जायते नरः ॥

भुक्त्वा संन्यासिनं लोकश्चाश्वमेधफलं लभेत् ॥ ४ ॥

नत्वा च कामतो दृष्ट्वा राजसूयफलं लभेत् ॥

फलं संन्यासिनां तुल्यं यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ॥ ५ ॥

संन्यासी यदि सायाह्ने क्षुधितो गृहिणां गृहम् ॥

सदन्नं वा कदन्नं वा तद्वत् नैव वर्जयेत् ॥ ६ ॥

न धनग्रहणं कुर्यादेकवासा निरीहितः ॥

शीतेग्रीष्मे समानश्च लोभमोह विवर्जितः ॥ ७ ॥

तत्र स्थित्वैकरात्रञ्च प्रातरन्य स्थलं व्रजेत् ॥

यानमारोहणं कृत्वा गृहीत्वा गृहिणो धनम् ॥ ८ ॥

गृहं कृत्वा गृहीव स्यात् सधर्मात् पतितो भवेत् ॥

कृत्वा च कृषिवाणिज्यं कुवृत्तिं कुरुते च यः ॥ ९ ॥

स संन्यासी दुराचारः स्वधर्मात् पतितो भवेत् ॥

अशुभञ्च शुभंवापि अकर्म कुरुते यदि ॥ १० ॥

बहिष्कृतः सधर्मा चाप्युपहास्यश्च तन्नवेत् ॥

इति ब्रह्मवैवर्तपुराणे यतिधर्मउक्तः ॥

स्कन्दपुराणे काशीखण्डे एकचत्वारिंशत्तमाध्याये  
संन्यासधर्मं दर्शयति ॥

स्कन्दउवाच ।

अतिवाह्यायुषोभागं तृतीयमिति कानने ॥

आयुषस्तु तुरीयांशे त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ॥ १ ॥

ऋणत्रयमसंशोध्य त्वनुत्पाद्यसुतानपि ॥

तथा यज्ञाननिष्ठा च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥ २ ॥

मनागपि न भूतानां यस्मादुत्पद्यते भयम् ॥

सर्वभूतानि तस्येह प्रयच्छन्त्यभयंसदा ॥ ३ ॥

एकएव चरे न्नित्यं अनग्निरनिकेतनः ॥

सिद्धयर्थमसहायः स्याद्ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ॥ ४ ॥

जीवितं मरणंवाथ नाभिकाङ्क्षेत् कचिन्मतिः ॥

कालमेव प्रतीक्षेत निदेशं भृतको यथा ॥ ५ ॥

सर्वत्र ममताशून्यः सर्वत्र समतायुतः ॥

वृक्षमूलनिकेतश्च मुमुक्षुरिह शस्यते ॥ ६ ॥

ध्यानं शौचं तथा भिक्षा नित्यमेकान्तशीलता ॥

यतेश्चत्वारि कर्माणि पञ्चमं नोपपद्यते ॥ ७ ॥

वार्षिकांश्चतुरो मासान् विहरेन्न यतिः कचित् ॥

बीजाङ्कुराणां जन्तूनां हिंसा तत्र यतो भवेत् ॥ ८ ॥

गच्छेत् परिहरन् जन्तून् पिबेत् कं वस्त्रशोधितम् ॥



वाचं वदेदनुद्वेगां न क्रुद्धेत् केनचित् क्वचित् ॥ ६ ॥  
 चरेदात्मसहायश्च निरपेक्षो निराश्रयः ॥  
 नित्यमध्यात्मनिरतो नीचकेशनखो वशी ॥ १० ॥  
 कुसुम्भवासा दण्डाढ्यो भिक्षाशी ख्यातिवर्जितः ॥  
 अलावुदारुमृद्वेणु पात्रं शस्तं न पञ्चमम् ॥ ११ ॥  
 न ग्राह्यं तैजसं पात्रं भिक्षुकेन कदाचन ॥  
 वराटके संगृहीते तत्र तत्र दिने दिने ॥ १२ ॥  
 गोसहस्रवधं पापं श्रुतिरेषा सनातनी ॥  
 हृदि सस्नेहभावेन चेद्रक्षेत् स्त्रियमेकदा ॥ १३ ॥  
 कोटिद्वयं ब्राह्मकल्पं कुम्भीपाकी न संशयः ॥  
 एककालं चरेद्भैक्षं न कुर्यात्तत्र विस्तरम् ॥ १४ ॥  
 आश्रमे तु यतिर्यस्य मुहुर्तमपि विश्रमेत् ॥  
 किं तस्यानेकतन्त्रेण कृतकृत्यः स जायते ॥ १५ ॥  
 सञ्चितं यदग्रहस्थेन पापमामरणान्तिकम् ॥  
 निर्द्धक्ष्यति हि तत् सर्वमेकरात्रोषितो यतिः ॥ १६ ॥  
 दृष्ट्वा जराभिभवनमसह्यं रोगपीडितम् ॥  
 देहत्यागं पुनर्गर्भं गर्भक्लेशञ्च दारुणम् ॥ १७ ॥  
 नानायोनिनिवासञ्च वियोगश्चप्रियैः सह ॥  
 अप्रियैः सह संयोग मधर्मात् दुःखसंभवम् ॥ १८ ॥  
 पुनर्निरयसंवासं नाना नरकयातना ॥  
 कर्मदोष समुद्रता नृणां गति रनेकधा ॥ १९ ॥  
 देहेष्व नित्यतां दृष्ट्वा नित्यतां परमात्मनः ॥  
 कुर्वीत मुक्तये यत्नं यत्र यत्राश्रमेरतः ॥ २० ॥

करपात्रीति विख्याता भिक्षापात्रविवर्जिताः ॥  
 तेषां शतगुणं पुण्यं भवत्येव दिने दिने ॥ २१ ॥  
 आश्रमां श्रतुरस्त्वेवं क्रमादासेव्य पण्डितः ॥  
 निर्द्वन्द्वस्त्यक्तसंगश्च ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २२ ॥  
 असंयतः कुबुद्धीनामात्मबन्धाय कल्पते ॥  
 धीमद्भिः संयतः सोऽपि पदं दद्यादनामयम् ॥ २३ ॥  
 श्रुतिस्मृति पुराणंच विद्योपनिषद स्तथा ॥  
 श्लोकाः सूत्राणि भाष्यानि य ज्ञान्यद्वाङ्मयं क्वचित् ॥ २४ ॥  
 वेदानुवचनं यज्ञा ब्रह्मचर्यं तपो दमः ॥  
 श्रद्धोपवासः स्वातन्त्र्य मात्मनो ज्ञानहेतवः ॥ २५ ॥  
 स हि सर्वैर्विजिज्ञास्य आत्मैवाश्रमवर्तिभिः ॥  
 श्रोतव्यस्त्वथ मन्तव्यो द्रष्टव्यश्च प्रयत्नतः ॥ २६ ॥  
 आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्चयोगादृते न हि ॥  
 स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिद्धति ॥ २७ ॥  
 इति स्कन्दपुराणे काशीखण्डे एकचत्वारिंशत्तमाध्याये  
 यतिधर्मनिरूपणमुक्तम् ॥

बृहद्धर्मपुराणे उत्तरखण्डे सप्तमाध्याये  
 यतिधर्मः स्मर्यते ॥

तृतीयमायुषो भागं ब्रह्मत्येव वनेषु तु ॥  
 चतुर्थमायुषोभागं ज्ञात्वा संगं परित्यजेत् ॥ १ ॥  
 आश्रमादाश्रमं गच्छेद्भुतहोमो जितेन्द्रियः ॥  
 ऋणानित्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ २ ॥



अधीत्य वेदानुत्पाद्य पुत्रान् कृतवनाश्रमः ॥  
 इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनोमोक्षे निवेशयेत् ॥ ३ ॥  
 अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य सुतानपि ॥  
 अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥ ४ ॥  
 प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्व्ववेद सदक्षिणाम् ॥  
 आत्मन्यग्निं समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ ५ ॥  
 एक एव चरोन्नित्यं सिद्धिमेकस्य लक्षयन् ॥  
 कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता ॥ ६ ॥  
 समताचैव सर्व्वत्र एतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥  
 मृत्युं वा जीवितं वापि नाभिनन्देत् कदाचन ॥ ७ ॥  
 सत्यपूतां वदेद्वाचं दृष्टिपूतं न्यसेत् पदम् ॥  
 वस्त्रं पूतं पिवेदम्भो मनः पूतं समाचरेत् ॥ ८ ॥  
 अतिवादां स्तितिक्षयेत् नावमन्येत कंचन ॥  
 न चैनं देहमाश्रित्य वैरं कुर्व्वीत केनचित् ॥ ९ ॥  
 अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युरव्रणानिच ॥  
 अलावुंदारुपात्रञ्च मृण्मयं वैणवं तथा ॥ १० ॥  
 एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥  
 जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ॥ ११ ॥  
 रजस्वलमनित्यञ्च भूतावासं मिमं त्यजेत् ॥  
 प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषुच दुष्कृतम् ॥ १२ ॥  
 विस्तृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम् ॥  
 गृहस्थस्य गृहे तिष्ठेद्गोदोहमात्रकालतः ॥ १३ ॥  
 तेन दत्तंच भुञ्जति मधुमांसविवर्जितम् ॥

यथा नद्यो नदाश्चापि सागरं यान्ति संस्थितिम् ॥ १४ ॥

एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थं यान्ति संस्थितिम् ॥

यथा समुद्रमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

तथा गृहस्थमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति भिक्षुकाः ।

धृतिः क्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥ १६ ॥

ह्री विद्या सत्यमक्रोधो दशमं धर्मलक्षणम् ॥

एष ते कथितो धर्मो यतीनां द्विजपुंगव ॥ १७ ॥

श्रोतु मिच्छसि जावाले किमन्यद्गदतो मम ॥

इति बृहद्धर्मपुराणे यतिधर्मकथनमुक्तम् ॥

कूर्मपुराणे २८ अध्याये संन्यास धर्ममाह ।

( व्यासउवाच )

एवं वनाश्रमे स्थित्वा तृतीयं भांगमायुषः ॥

चतुर्थमायुषोभागं संन्यासेन नयेत् क्रमात् ॥ १ ॥

अग्नीनात्मनि संस्थाप्य द्विजः प्रव्रजितो भवेत् ॥

योगाभ्यासरतः शान्तो ब्रह्मविद्या परायणः ॥ २ ॥

यदा मनसि सञ्जातं वैतृष्णं सर्व्ववस्तुषु ॥

तदा संन्यास मिच्छन्ति पतितः स्याद्विपर्य्यये ॥ ३ ॥

प्राजापत्या त्रिरूप्येष्टि माग्नेयी मथ वा पुनः ॥

वान्तः पक्ककषायोऽसौ ब्रह्माश्रम मुपाश्रयेत् ॥ ४ ॥

ज्ञानसंन्यासिनः केचिद्देव संन्यासिनः परे ॥

कर्म संन्यासिन स्त्वन्ये त्रिविधाः परिकीर्तिताः ॥ ५ ॥

यः सर्व्वसङ्गनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वश्चैव निर्भयः ॥



प्रोच्यते ज्ञान संन्यासी स्वात्मन्येव व्यवस्थितः ॥ ६ ॥

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥

प्रोच्यते वेद संन्यासी मुमुक्षु विजितेन्द्रियः ॥ ७ ॥

यस्त्वग्नीनात्मसात् कृत्वा ब्रह्मार्पणपरोद्विजः ॥

स ज्ञेयः कर्मसंन्यासी महायज्ञपरायणः ॥ ८ ॥

त्रयाणामपि चैतेषां योगी त्वभ्यधिकोमतः ॥

नतस्य विद्यते कार्यं न लिंगं वा विपश्चितः ॥ ९ ॥

निर्ममो निर्भयः शान्तो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥

जीर्णकौपीन वासा स्यान्नग्नेवा ध्यानतत्परः ॥ १० ॥

ब्रह्मचारी मितग्राशी ग्रामात्स्वन्नं समाहरेत् ॥

अध्यात्ममतिरासीत निरपेक्षो निराशिषः ॥ ११ ॥

आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ॥ १२ ॥

कालमेव प्रतीक्षेत निदेशं श्रुतको यथा ॥

नाध्येतव्यं न वक्तव्यं न श्रोतव्यं कदाचन ॥ १३ ॥

एवं ज्ञात्वा परो योगी ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

एकवासोऽथवा विद्वान् कौपीनाच्छादनं स्तथा ॥ १४ ॥

मुण्डी शिखी वाथ भवेत् त्रिदण्डी निष्परिग्रहः ॥

काषायवासाः सततं ध्यानयोगपरायणः ॥ १५ ॥

ग्रामान्ते वृक्षमूले वा वसेद्देवालयेऽपि वा ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ॥ १६ ॥

भेक्ष्येण वर्तयेन्नित्यं नैकाग्रशी भवेत् क्वचित् ॥

यस्तु मोहेन वान्यस्मादेकान्नादी भवेद्भयतिः ॥ १७ ॥

न तस्य निष्कृतिः काचिद्धर्म शास्त्रेषु कथ्यते ॥  
 रागद्वेष विमुक्तात्मा समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ १८ ॥  
 प्राणिर्हिंसानिवृत्तश्च मौनी स्यात् सर्वनिस्पृहः ॥  
 दृष्टि पूतंन्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ॥ १९ ॥  
 शास्त्र पूतां वदेद्वार्णीं मनः पूतं समाचरेत् ॥  
 नैकत्र निवसेद्देशे वर्षाभ्योऽन्यत्रभिक्षुकः ॥ २० ॥  
 स्नानशौचरतो नित्यं कमण्डलु करःशुचिः ॥  
 ब्रह्मचर्य्यरतो नित्यं वनवासरतो भवेत् ॥ २१ ॥  
 मोक्षशास्त्रेषु निरतो ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥  
 दम्भाहङ्कार निर्मुक्तो निन्दापैशुन्य वर्जितः ॥ २२ ॥  
 आत्मज्ञानगुणोपेतो यतिर्मोक्षमवाप्नुयात् ॥  
 अभ्यसेत् सततं देवं प्रणवाख्यं सनातनम् ॥ २३ ॥  
 स्नात्वाचम्य विधानेन शुचिर्देवालयादिषु ॥  
 यज्ञोपवीती शान्तात्मा कुशपाणिः समाहितः ॥ २४ ॥  
 धौतकाषायवसनो भस्मच्छन्न तनूरुहः ॥  
 अधियज्ञं ब्रह्मजपेदाधिदैविकमेव वा ॥ २५ ॥  
 अध्यात्मिकञ्च सततं वेदान्ताभिहितञ्चयत् ॥  
 पुत्रेषुचाथ निवसन् ब्रह्मचारी यतिर्मुनिः ॥ २६ ॥  
 वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं स याति परमाङ्गतिम् ॥  
 अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य्यं ततः परम् ॥ २७ ॥  
 क्षमादया च सन्तोषो व्रतान्यस्य विशेषतः ॥  
 वेदान्तज्ञान निष्णातान् पञ्चयज्ञान् समाहितान् ॥ २८ ॥  
 कुर्यादहरहः स्नात्वा भिक्षान्ते नैव तेन हि ॥



होममंत्रान्जपेन्नित्यं होमकाले समाहितः ॥ २६ ॥  
 स्वाध्यायंचान्वहं कुर्यात् सावित्रीं सन्ध्ययार्जपेत् ॥  
 ततो ध्यायेत तं देव मेकान्ते परमेश्वरम् ॥ ३० ॥

एकान्ते वर्जयेन्नित्यं कामक्रोधं परिग्रहम् ॥  
 एकवासा द्विवासा वा शिखीयज्ञोपवीतवान् ॥  
 कमण्डलुधरो विद्वान् त्रिदण्डी यति तत्परः ॥ ३१ ॥  
 इतिकूर्मपुराणे उपरिविभागे व्यासगीतासु यतिधर्मो  
 नाम अष्टाविंशोऽध्याय उक्तः ॥

( उनत्रिंशाध्याये कूर्मपुराणे ब्रह्मतत्त्व निर्णयमाह )

व्यासउवाच ।

कृत्वाहत् पद्मनिलये विश्वाख्यं विश्वसम्भवम् ॥  
 आत्मानं सर्वभूतानां परस्ता त्तमसि स्थितम् ॥ १ ॥  
 सर्वस्याधारभूताना मानन्दं ज्योति रव्ययम् ॥  
 प्रधानं पुरुषातीतं माकाशकुहरं शिवम् ॥ २ ॥  
 तदन्तः सर्वभावाना मीश्वरं ब्रह्मरूपिणम् ॥  
 ध्यायेद नादिमध्यान्त मानन्दाख्यं गुणालयं ॥ ३ ॥  
 महान्तं पुरुषं ब्रह्म ब्रह्माणं सत्यमव्ययम् ॥  
 सितं सितेतराकारं महेशं विश्वरूपिणम् ॥ ४ ॥  
 ओङ्कारेणा थ चात्मानं संस्थाप्य परमात्मनि ॥  
 आकाशे देवमीशानं ध्यायीताकाशमध्यगम् ॥ ५ ॥  
 कारणं सर्वभावाना मानन्दैक समाश्रयम् ॥  
 पुराणं पुरुषं शुभ्रं ध्यायन्मुच्येत बन्धनात् ॥ ६ ॥

यद्वा गुहायां प्रकृतं जगत् सम्मोहनालये ॥  
 विचिन्त्य परमं व्योम सर्वभूतैककारणम् ॥ ७ ॥  
 जीवनं सर्वभूतानां यत्र लोकः प्रतीयते ॥  
 आनन्दं ब्रह्मणः सूक्ष्मं यत् पश्यन्ति मुमुक्षवः ॥ ८ ॥  
 तन्मध्ये निहितं ब्रह्म केवलं ज्ञानलक्षणम् ॥  
 अनन्तं सत्यमीशानं विचिन्त्यासीति संयतः ॥ ९ ॥  
 गुह्याद्गुह्यतमं ज्ञानं यतीनामेतदीरितम् ॥  
 योऽनुतिष्ठेत् सहैतेन सोऽश्नुते योगमैश्वरम् ॥ १० ॥  
 तस्माद्ब्रह्मानरतो नित्यमात्मविद्यापरायणः ॥  
 ज्ञानं स मन्यते ब्रह्म येन मुच्येत बन्धनात् ॥ ११ ॥  
 न त्वापृथक् समात्मानं सर्वस्मादेव केवलम् ॥  
 आनन्दमजरं ज्ञानं ध्यायीतश्च पुनः परम् ॥ १२ ॥  
 तस्माद्भवन्ति भूतानि यद्गत्वा नेह जायते ॥  
 स तस्मादीश्वरो देवः परस्मादयो ऽधितिष्ठति ॥ १३ ॥  
 यदन्तरे तद्वमनं शाश्वतं शिवमुच्यते ॥  
 यदाहु स्तत् परो यः स्यात् स देवस्तु महे श्वरः ॥ १४ ॥  
 यद्ब्रह्मपरमं ज्योतिः प्रतिष्ठाक्षरमव्ययम् ॥  
 योऽन्तरापरमं ब्रह्म स विज्ञेयो महेश्वरः ॥ १५ ॥  
 एष देवो महादेवः केवलः परमः शिवः ॥  
 तदेवाक्षरमद्वैतं तदादित्यान्तरं परम् ॥ १६ ॥  
 यस्मान्महीयसो देवः स्वधाग्निज्ञान संस्थिते ॥  
 आत्मयोगाद्भूये तत्त्वे महादेव स्ततः स्मृतः ॥ १७ ॥  
 नान्यदेवं महादेवाद् व्यतिरिक्तं प्रपश्यति ॥



तमेवात्मानमात्मेति यः सं याति परंपदम् ॥ १८ ॥

मन्यन्ते ये स्वमात्मानं विभिन्नं परमेश्वरात् ॥

तेन पश्यन्ति तं देवं वृथा तेषां परिश्रमः ॥ १९ ॥

एकं ब्रह्मपरंब्रह्म ज्ञेयं तत्तत्त्वमव्ययम् ॥

स देव स्तु महादेवो नैतद्विज्ञाय बाध्यते ॥ २० ॥

तस्माद्यजेत नियतं यतिः संयतमानसः ॥

ज्ञानयोगरतः शान्तो महादेवपरायणः ॥ २१ ॥

एषवः कथितो विप्रा यतीनामाश्रमःशुभः ॥

पितामहेन विभुना मुनीनां पूर्व्वमीरितम् ॥ २२ ॥

नात्र शिष्यस्य योगिभ्यो दद्यादिदमनुत्तमम् ॥

प्रोक्तं स्वयम्भुवाज्ञानं यतिधर्माश्रयं शुभम् ॥ २३ ॥

इतियतिनियमानामेतदुक्तं विधानम् ॥

पशुपति प्ररितोषे यन्नवेदेकहेतुः ॥

न भवति पुनरेषा मुद्भवो वा विनाशः ।

प्रणिहितमनसा ये नित्यमेवा चरन्ति ॥ २४ ॥

इति श्री कूर्मपुराणे उपविभागे व्यासगीतासु

उनात्रिंशोऽध्यायः ।

[ पुनरपि कूर्मपुराणे स्मर्य्यते ]

कूर्मउवाच ।

साक्षात् प्रजापते मूर्तिर्निसृष्टा ब्रह्मणोऽद्विजाः ॥

भृग्वादय स्तद्वदनाच्छ्रुत्वा धर्मानथोचिरे ॥ २५ ॥

यजनं याजनं दानं ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहः ॥

अध्यापनं चाध्ययनं षट्कर्मणि द्विजोत्तमाः ॥ २६ ॥  
 दानमध्ययनं यज्ञो धर्मः क्षत्रिय वैश्ययोः ॥  
 वण्डोयुद्धं क्षत्रियस्य कृषिवैश्यस्य शस्यते ॥ २७ ॥  
 शुश्रूषैव द्विजातीनां शूद्राणां धर्मः साधनम् ॥  
 कारुकर्म तथा जीवः पाकयज्ञादि धर्मतः ॥ २८ ॥  
 ततः स्थितेषु वर्णेषु स्थापयामास चाश्रमात् ॥  
 गृहस्थं च वनस्थञ्च भिक्षुकं ब्रह्मचारिणम् ॥ २९ ॥  
 अग्नयोऽतिथि शुश्रूषा यज्ञोदानं सुरार्चनम् ॥  
 गृहस्थस्य समासेन धर्मोऽयं मुनिपुङ्गवाः ॥ ३० ॥  
 होमोमूल फलाशित्वं स्वाध्याय स्तप एव च ॥  
 संविभागो यथान्यायं धर्मोऽयं वनवासिनाम् ॥ ३१ ॥  
 भैक्षाशनञ्च मौनित्वं तपोध्यानं विशेषतः ॥  
 सम्यग् ज्ञानञ्च वैराग्यं धर्मोऽयं भिक्षुके मतः ॥ ३२ ॥  
 भिक्षाचर्या च शुश्रूषा गुरोः स्वाध्याय एव च ॥  
 तन्ध्याकर्मणिग्निकार्यञ्च धर्मोऽयं ब्रह्मचारिणाम् ॥ ३३ ॥  
 ब्रह्मचारि वनस्थानां भिक्षुकाणां द्विजोत्तमाः ॥  
 साधारणं ब्रह्मचर्यं प्रोवाच कमलोद्भवः ॥ ३४ ॥  
 ऋतुकालाभिगामित्वं स्वदारेषु न चान्यतः ॥  
 पर्ववर्जं गृहस्थस्य ब्रह्मचर्यं मुदाहृतम् ॥ ३५ ॥  
 आगर्भधारणादाज्ञा कार्या तेनाप्रमादतः ॥  
 अकुर्वाणस्तु विप्रेन्द्रा धूणहातूपजायते ॥ ३६ ॥  
 त्रयाणामाश्रमाणान्तु गृहस्थो योनिरुच्यते ॥  
 अन्ये तमुपजीवन्ति तस्माच्छ्रेयान् गृहाश्रमी ॥ ३७ ॥



ऐकाग्र्यं गृहस्थस्य चतुर्णां श्रुतिदर्शनात् ॥  
 तस्माद्गार्हस्थ्यं मेवैकं विज्ञेयं धर्मसाधनम् ॥ ३८ ॥  
 कर्मणा प्राप्यते धर्मो ज्ञानेन च न संशयः ॥  
 तस्माज्ज्ञानेन सहितं कर्मयोगं समाश्रयेत् ॥ ३९ ॥  
 प्रवृत्तश्च निवृत्तश्च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥  
 ज्ञानपूर्वं निवृत्तं स्यात् प्रवृत्तं यदतोऽन्यथा ॥ ४० ॥  
 निवृत्तं सेवमानं स्तु याति तत् परमं पदम् ॥  
 तस्मान्निवृत्तं संसेव्यमन्यथा संसरेत् पुनः ॥ ४१ ॥  
 क्षमादमोदयादानं मलोभं त्याग एव च ॥  
 आर्जवं चानसूया च तीर्थानुस्मरणं तथा ॥ ४२ ॥  
 सत्यं सन्तोषमास्तिक्यं श्रद्धा चेन्द्रियनिग्रहः ॥  
 देवताभ्यर्चनं पूजा ब्राह्मणानां विशेषतः ॥ ४३ ॥  
 अहिंसा प्रियवादित्वं मपैशून्यं मकल्कता ॥  
 सामासिकं मिमं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ ४४ ॥  
 प्राजापत्यं ब्राह्मणानां स्मृतं स्थानं क्रियावताम् ॥  
 स्थानमैन्द्रं क्षत्रियाणां संग्रामेष्वपलायिनाम् ॥ ४५ ॥  
 वैश्यानां मारुतं स्थानं स्वधर्मं मनुवर्त्तताम् ॥  
 गन्धर्व्वं शूद्रजातीनां परिचारेण वर्त्तताम् ॥ ४६ ॥  
 अष्टाशीतिं सहस्राणां मृषीणां मूर्द्धरेतसाम् ॥  
 स्मृतं तेषान्तु यत् स्थानं तदेव गुरुवासिनाम् ॥ ४७ ॥  
 सप्तर्षीणान्तु यत् स्थानं स्मृतं तद्वै वनौकसाम् ॥  
 प्राजापत्यं गृहस्थानां स्थानमुक्तं स्वयंभुवा ॥ ४८ ॥  
 यतीनां जितचित्तानां न्यासिनामूर्द्धरेतसाम् ॥

हैरण्यगर्भं तत्स्थानं यस्मान्नावर्त्तते पुनः ॥ ४९ ॥

योगिनाममृतं स्थानं व्योमाख्यं परमक्षरम् ॥

आनन्द मैश्वरं धाम साकाशा सापरागतिः ॥ ५० ॥

ऋषयउचुः ।

भगवन् देवता विघ्न हिरण्याक्षनिस्तृदन ॥

चत्वारो ह्याश्रमाः प्रोक्ता योगिनामेक उच्यते ॥ ५१ ॥

कूर्मउवाच ।

सर्वकर्मणि संन्यस्य समाधि मचलं श्रितः ॥

य आस्ते निश्चलो योगी स संन्यासी च पञ्चमः ॥ ५२ ॥

सर्वेषामाश्रमाणान्तु द्वैविध्यं श्रुति दर्शितम् ॥

ब्रह्मचार्यपकुर्वाणो नैष्ठिको ब्रह्म तत् परः ॥ ५३ ॥

योऽधीत्य विधिवद्वेदान् गृहस्थाश्रममाव्रजेत् ॥

उपकुर्वाणको ज्ञेयो नैष्ठिको मरणान्तिकः ॥ ५४ ॥

उदासीनः साधकश्च गृहस्थो द्विविधो भवेत् ॥

कुटुम्ब भरणायत्तः साधको ऽसौ गृही भवेत् ॥ ५५ ॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य त्यक्त्वा भार्याधनादिकम् ॥

एकाकी यस्तु विचरेदुदासीनः स मौक्षिकः ॥ ५६ ॥

तपस्तप्यति योऽरण्ये यजेद्देवान् जुहोति च ॥

स्वाध्याये चैव निरतो वनस्थ स्तापसो मतः ॥ ५७ ॥

तपसा कर्षितोऽत्यर्थं यस्तु ध्यानपरो भवेत् ॥

संन्यासिकः संविज्ञेयो वानप्रस्थाश्रमे स्थितः ॥ ५८ ॥

योगाभ्यासरतो नित्य मारुरुक्षु र्जितेन्द्रियः ॥

ज्ञानाय वर्त्तते भिक्षुः प्रोच्यते पारमेष्ठिकः ॥ ५९ ॥



यस्त्वात्मरतिरेव स्यान्नित्यं तृप्तो महामुनिः ॥  
 सम्यग्दर्शनं संपन्नः सयोगी भिक्षुरुच्यते ॥ ६० ॥  
 ज्ञानसंन्यासिनः केचिद्वद संन्यासिनोऽपरे ॥  
 कर्मसंन्यासिनः केचित् त्रिविधाः परमेष्ठिकाः ॥ ६१ ॥  
 योगी च त्रिविधो ज्ञेयो भौतिकः साङ्ख्य एव च ॥  
 तृतीयो ह्याश्रमी प्रोक्तो योगमुत्तममाश्रितः ॥ ६२ ॥  
 प्रथमा भावना पूर्वे साङ्ख्येत्यक्षर भावना ॥  
 तृतीये चान्तिमा प्रोक्ता भावना परमेश्वरी ॥ ६३ ॥  
 तस्मादेतद्विजानीध्वं आश्रमाणां चतुष्टयम् ॥  
 सर्वेषु वेदशास्त्रेषु पञ्चमो नोपपद्यते ॥ ६४ ॥  
 एवंवर्णाश्रमान् सृष्ट्वा देवदेवो निरञ्जनः ॥  
 वक्षादीन् प्राह विश्वात्मा सृजध्वं विविधाः प्रजाः ॥ ६५ ॥  
 ब्राह्मणो वचनात् पुत्रा वक्षाद्या मुनि सत्तमाः ॥  
 असृजन्त प्रजाः सर्वे देवमानुष पूर्वकाः ॥ ६६ ॥  
 इत्येवं भगवान् ब्रह्मा स्रष्टृत्वे संव्यवस्थितः ॥  
 अहं वै-पालयामीवं संहारिष्यति शूलभृत् ॥ ६७ ॥  
 तिस्रस्तु मूर्त्तयः प्रोक्ता ब्रह्मविष्णु महेश्वराः ॥  
 रजः सत्यतमो योगात् परमात्मन उत्तमाः ॥ ६८ ॥  
 अन्योन्यमनुरक्ता स्ते ह्यन्यो न्यमुपजीविनः ॥  
 अन्योऽन्यप्रणता श्वेव लीलया परमेश्वराः ॥ ६९ ॥  
 ब्राह्मी माहेश्वरी चैव तथैवाक्षर भावना ॥  
 तिस्रस्तु भावना रुद्रे वर्तन्ते सततं द्विजाः ॥ ७० ॥  
 प्रवर्तते मध्यजस्त्रमाद्या त्वक्षर भावना ॥

द्वितीया ब्रह्मणः प्रोक्ता देवस्याक्षर भावना ॥ ७१ ॥  
 अहं चैवमहादेवो न भिन्नः परमार्थतः ॥  
 विभज्य स्वेच्छयात्मानं सोऽन्तर्ग्यामीश्वरः स्थितः ॥ ७२ ॥  
 त्रैलोक्यमखिलं स्रष्टुं सदेवा सुरमानुषम् ॥  
 पुरुषः परतोऽव्यक्तो ब्रह्मत्वं समुपागमत् ॥ ७३ ॥  
 तस्माद्ब्रह्ममहादेव विष्णु विश्वेश्वरः परः ॥  
 एकस्यैव स्मृतस्तिस्रस्तद्वत् कार्यवशात् प्रभोः ॥ ७४ ॥  
 तस्मात् सर्वप्रयत्नेन वन्द्याः पूज्याः विशेषतः ॥  
 यदीच्छेदचिरात् स्थानं यत्तन्मोक्षाख्यमव्ययम् ॥ ७५ ॥  
 वर्णाश्रम प्रयुक्तेन धर्मेण प्रीतिसंयुतः ॥  
 पूजयेद्भाव युक्तेन यावज्जीवं प्रतिज्ञया ॥ ७६ ॥  
 चतुर्णामाश्रमाणान्तु प्रोक्तोऽयं विधिवद्द्विजाः ॥  
 आश्रमो वैष्णवो ब्राह्मो हराश्रम इति त्रयः ॥ ७७ ॥  
 तल्लिङ्गधारी नियतं तद्रक्तजनवत् सलः ॥  
 ध्यायेदथार्चयेदेतान् ब्रह्मविद्या परायणः ॥ ७८ ॥  
 सर्वेषामेव भक्तानां शम्भो लिंगमनुत्तमम् ॥  
 सितेन भस्मना कार्यं ललाटे तु त्रिपुण्ड्रकम् ॥ ७९ ॥  
 यस्तु नारायणं देवं प्रपन्नः परमं पदम् ॥  
 धारयेत् सर्वदा शूलं ललाटे गन्धवारिभिः ॥ ८० ॥  
 प्रपन्ना ये जगद्बीजं ब्रह्माणं परमेष्ठिनम् ॥  
 तेषां ललाटे तिलकं धारणीयन्तु सर्वदा ॥ ८१ ॥  
 याऽसावनादिर्भुतादिः कालात्मा सौ धृतोभवेत् ॥  
 उपर्यधोभावयोग त्रिपुण्ड्रस्य तु धारणात् ॥ ८२ ॥



यत्तत् प्रधारणं त्रिगुणं ब्रह्मविष्णु शिवात्मकम् ॥  
 धृतन्तु शूलघरणाद्भवत्येव न संशयः ॥ ८३ ॥  
 ब्रह्मतेजोमयं शुल्कं यदेतन्मण्डलरवेः ॥  
 भवत्येव धृतस्थानमैश्वरं तिलके कृते ॥ ८४ ॥  
 तस्मात् कार्यं त्रिशूलांगं तथा च तिलकं शुभम् ॥  
 आयुष्यश्चापि भक्तानां त्रयाणां विधिपूर्वकम् ॥ ८५ ॥  
 यजेत जुहुयादग्नौ जपेद्द्व्याज्जितेन्द्रियः ॥  
 शान्तो दान्तो जितक्रोधो वर्णाश्रम विधानवित् ॥ ८६ ॥  
 एवं परिचरेद्देवान् पावज्जीवं समाहितः ॥  
 तेषां स्वस्थानमचलं सोऽचिरादधिगच्छति ॥ ८७ ॥

इति श्री कूर्मपुराणे वर्णाश्रम वर्णन नाम  
 द्वितीयोऽध्याय उक्तः ।

गरुडपुराणे त्र्यधिकशततृमाध्याये  
 ॥ याज्ञवल्क्य उवाच ॥

भिक्षोर्धर्मं प्रवक्ष्यामि तं निबोधत सत्तमाः ॥  
 वनात् प्रावृत्य कृत्वेष्टिं सर्व्ववेदसदक्षिणाम् ॥ १ ॥  
 प्राजापत्यं तदन्तेऽपि अग्निमारोप्य चात्मनि ॥  
 सर्व्वभूत हितः शान्त छिदण्डी सकमण्डलुः ॥ २ ॥  
 सर्व्वारामः परिव्रज्य भिक्षार्थी ग्राममाश्रयेत् ॥  
 अप्रमत्तश्चरेद्भैक्ष्यं सायाह्ने नाभिलक्षितः ॥ ३ ॥  
 रहिते भिक्षुकैर्ग्रामे यात्रामात्र मलोलुपः ॥  
 भवेत् परमहंसो वा एकदण्डी यमादिकृत् ॥ ४ ॥

सिद्धयोग स्तयजन् देहममृतत्वमिहाप्नुयात् ॥  
योगमभ्यस्य मितभुक् परांसिद्धिं मवाप्नुयात् ॥  
दातातिथिप्रियोज्ञानी गृहीश्राद्धेऽपि मुच्यते ॥ ५ ॥

इति श्री गारुडे महापुराणे यतिधर्म उक्तः ॥

वायुपुराणे सप्तदशाध्याये परमाश्रमप्राप्ति-  
कथनमाह ॥

आश्रमत्रयमुत्सृज्य प्राप्तस्तु परमाश्रमम् ॥  
अतः संवत्सरस्यान्ते प्राप्य ज्ञानमनुत्तमम् ॥ १ ॥  
अनुज्ञाप्य गुरुञ्चैव विचरेत् पृथिवीमिमाम् ॥  
सारभूतमुपासीत ज्ञानं यज्ज्ञेयसाधकम् ॥ २ ॥  
इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयमितियस्तूषितश्चरेत् ॥  
अपि कल्पसहस्रायुर्नैव ज्ञेयमवाप्नुयात् ॥ ३ ॥  
त्यक्तसंगो जितक्रोधो लब्धाहारो जितेन्द्रियः ॥  
पिषाय बुद्ध्याद्वाराणि ध्याने ह्येवं मनोदधे ॥ ४ ॥  
शून्येष्वेवावकाशेषु गुहासु च वने तथा ॥  
नदीनां पुलिने चैव नित्यं युक्तः सदा भवेत् ॥ ५ ॥  
वागूदण्डः कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः ॥  
यस्येते नियतादण्डाः स त्रिदण्डी व्यवस्थितः ॥ ६ ॥  
अवस्थितो ध्यानरतिं जितेन्द्रियः शुभाशुभे हित्य च कर्मणां  
उभे ॥ इदं शरीरं प्रविमुच्य शास्त्रतो न जायते त्रियते वा  
कदाचित् ॥ ७ ॥ इति ॥



॥ आत्मपुराणे १८ अध्याये यतिधर्म दर्शयति ॥

एतज्जिज्ञासवः सर्वे ब्राह्मणाद्याः शरीरिणः ॥

कुर्वन्ति विहितं कर्म निषिद्धं वर्जयन्ति च ॥ १ ॥

सत्यंतपो दयादानं ब्रह्मचर्यमहिंसनम् ॥

इत्यादीन्यपि कर्माणि कुर्वन्ति च विवेकिनः ॥ २ ॥

ब्राह्मणा एतमिच्छन्ति एषणात्रयवर्जिताः ॥

भिक्षाचर्यं चरन्त्यत्र व्युत्थायाश्रमकर्मतः ॥ ३ ॥

एतं विज्ञाय विद्वांसो ह्यन्धवन्मूकवन्महीम् ॥

विहरन्त्यपि सर्वज्ञा अविज्ञाता जनैरिह ॥ ४ ॥

संवर्त्तकादिवत् सर्वे लोकातीता महाधियः ॥

॥ आत्मपुराणे १९ अध्याये ॥

एवं नानाविधोपाया विरक्तौ तेषु कञ्चनम् ॥ ५ ॥

आस्थाय तां विधायाथ कुर्यात् संन्यासमात्मवान् ॥

इतिते काल आख्यातः संन्यासे च वदामिते ॥ ६ ॥

अधिकारिणमत्रोक्तं मोक्षशास्त्रेषु सर्वतः ॥

तासां सत्त्वे भवेत् पूर्वं ब्रह्मचारी ततो गृही ॥ ७ ॥

ततोवनी ततो न्यासी हंसोऽतो न चतुर्थकः ॥

चतुर्थः परमोहंसो लोकद्वयगतस्पृहः ॥ ८ ॥

यः कञ्चित् सतु विज्ञेयो मायापाशवशं गतः ॥

ब्रह्मचर्यादगृह्याद्वापि वनाद्वा प्रव्रजेदयम् ॥ ९ ॥

सर्वैषणाविनिर्मुक्तो नैष्कर्म्यप्राप्तसंस्पृहः ॥

वर्णाश्रमादिसंयुक्तः सर्वेन्द्रियगुणैर्युतः ॥ १० ॥

विपरीतोऽथवा यस्मान्निराशोत्राधिकारवान् ॥

वेदव्रतैर्विहीनो वा साहितस्तैश्च वा पुमान् ॥ ११ ॥

अधीत्य वेदं वेदौ वा वेदान् वा स्नानमागतः ॥

एतदध्ययनाभावादथवा स्नानवर्जितः ॥ १२ ॥

उत्पन्नाग्निर्निमित्तेन केनचिद्वाप्य नग्निकः ॥

श्रौतस्मार्त्ताग्निवित्तेषु स्वीकाराभावतद्वचनौ ॥ १३ ॥

वैराग्यं परमं प्राप्तो ह्यथ वा पि कुटीचकः ॥

बहूदकोऽथवा हंसः परोहंसो भवेदिह ॥ १४ ॥

विधानं तत्र वक्ष्यामि परहंसांश्रमगूहे ॥

संन्यासग्रहणात् पूर्वे दिवसे मंगलयुतः ॥ १५ ॥

॥ इति आत्मपुराणे संन्यासाधिकारिणां विषयाउक्ताः ॥

अथेदानीं वामन पुराणे चतुर्थश्रमधर्म्माणां ब्राह्मण-

कर्त्तव्यतां दर्शयति ।

वानप्रस्थाश्रमं गच्छेदात्मनः शुद्धिकारणम् ॥

तत्रारण्योपभोगैश्च तपोभिश्चात्मकर्षणम् ॥ १ ॥

भूमौशय्या ब्रह्मचर्य्यं पितृदेवातिथिक्रिया ॥

होमस्त्रिसवनं स्नानं जटावल्कलधारणम् ॥ २ ॥

वन्यस्नेहनिषेवित्वं वानप्रस्थविधिस्त्वयम् ॥

सर्व्वसङ्गपरित्यागो ब्रह्मचर्य्यममानिता ॥ ३ ॥

जितेन्द्रियत्वमावासे नैकस्मिन् वसते चिरम् ॥

अनारम्भ स्तथाहारे भैक्षान्ने नातिकोपिता ॥ ४ ॥

आत्मज्ञानावबोधेच्छा तथा चात्मविशोधनम् ॥

चतुर्थस्त्वाश्रमो धर्म्मो अस्माभिः परिकीर्त्तितः ॥ ५ ॥

वर्णधर्म्माणि चान्यानि निशामय निशाचर ॥



गार्हस्थ्यं ब्रह्मचर्यञ्च वानप्रस्थं त्रयाश्रमाः ॥ ६ ॥

क्षत्रियस्यापि गदितो य आचारो द्विजस्य हिं ॥

वैखानसत्वं गार्हस्थ्यमाश्रमद्वितन्त्रं विशः ॥ ७ ॥

गार्हस्थ्यं चरितं त्वेकं शूद्रस्य क्षणदाचर ॥

स्वानिवर्णाश्रमोक्तानि धर्माणिह न हापयेत् ॥ ८ ॥

यो हापयेति तस्यासौ परिकुप्यति भास्करः ॥

कुपितः कुलनाशाय देहरोगविवृद्धये ॥ ९ ॥

भानु वै यतते तस्य नरस्य क्षणदाचर ॥

तस्मात् स्वधर्मं न हिसन्त्यजेत न हापयेच्चापिहि चात्मवंशम्

यः संत्यजेच्चापि निजं हि धर्मं तस्यैव कुप्येत दिवाकरश्च ॥ १० ॥

॥ वामन पुराणे इत्युक्तः ॥

॥ श्रीमद्भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे ॥

॥ युधिष्ठिर नारदसंवादे यतिधर्मनिरूपणमाह ॥

॥ त्रयोदशा ध्याये ॥

॥ नारदउवाच ॥

कल्पस्त्वेवं परिव्राज्य देहमात्रावशेषितः ॥

ग्रामैकरात्रविधिना निरपेक्षश्चरेन्महीम् ॥ १ ॥

विभृयाद्यद्यसौवासः कौपीनाच्छादनं परम् ॥

त्यक्तं न दण्डलिङ्गादेरन्यत् किञ्चिदनापदि ॥ २ ॥

एक एव चरेद्बिहुरात्मारामोऽनपाश्रयः ॥

सर्वभूतसुहृच्छान्तो नारायणपरायणः ॥ ३ ॥

पश्येदात्मन्यदोविश्वं परे सदसतोऽन्यये ॥

आत्मानञ्च परं ब्रह्म सर्वत्र सदसन्मये ॥ ४ ॥  
 सुप्तप्रबोधयोः सन्धावात्मनो गतिमात्मदृक् ॥  
 पश्यन् वन्धश्च मोक्षश्च मायामात्रं न वस्तुतः ॥ ५ ॥  
 नाभिनन्देद्भुवं मृत्युमध्रुवं वास्य जीवितम् ॥  
 कालं परं प्रतीक्षेत भूतानां प्रभवाप्ययम् ॥ ६ ॥  
 नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम् ॥  
 वादवादां स्तयजेत्तर्कान् पक्षं कश्च न संश्रयेत् ॥ ७ ॥  
 न शिष्याननुवर्धनीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून् ॥  
 न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् कचित् ॥ ८ ॥  
 न यतेराश्रमः प्रायो धर्महेतुर्महात्मनः ॥  
 शान्तस्य समचित्तस्य विभृयादुत वा त्यजेत् ॥ ९ ॥  
 अव्यक्तलिङ्गो व्यक्तार्थो मनीष्युन्मत्तबालवत् ॥  
 कविर्मूकवदात्मानं सदृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम् ॥ १० ॥  
 अत्राप्युदाहरन्तीममिति हासं पुरातनम् ॥  
 प्रहादस्य च सम्वादे मुनेराजगरस्य च ॥ ११ ॥  
 तं शयानं धरोपस्थे कावेर्यां सह्यासानुनि ॥  
 रजस्वलैस्तनूदेशैर्निगूढामलतेजसम् ॥ १२ ॥  
 ददर्श लोकान्विचरं लोके तत्त्वविवित्सया ॥  
 वृत्तोऽमात्यैः कतिपयैः प्रहादो भगवत्प्रियः ॥ १३ ॥  
 कर्मणा कृतिभिर्वाचा लिङ्गैर्वर्णाश्रमादिभिः ॥  
 न विदन्ति जनायं वै सोऽसाविति न वेति च ॥ १४ ॥  
 तं नत्वाभ्यर्च्य विधिवत् पादयोः शिरसास्पृशन् ॥  
 विवित्सुरिदमप्राक्षीन्महाभागवतोऽसुरः ॥ १५ ॥



कचिदल्पं कचिद्भूरि भुञ्जेऽन्नं स्वादस्वादु वा ॥  
 कचिद्भूरिगुणोपेतं गुणहनिमुत क्वचित् ॥ ३७ ॥  
 श्रद्धयोपाहतं क्वापि कदाचिन्मानवर्जितम् ॥  
 भुञ्जे भुक्त्वाऽथकस्मिन्निचिद्विवा नक्तं यदृच्छया ॥ ३८ ॥  
 क्षौमदुकूलमजिनं चीरंवल्लकलमेव वा ॥  
 वसेऽन्यदपि संप्राप्तं दिष्टभुक्तुष्टधीरहम् ॥ ३९ ॥  
 कचिच्छयेधरोपस्थे तृणपर्णाश्मभस्मसु ॥  
 कचित् प्रसादपर्यङ्के कशिपौ वा परेच्छया ॥ ४० ॥  
 कचित् स्नातोऽनुलिप्ताङ्गः सुवासाः स्रग्बलंकृतः ॥  
 रथेभाश्चैश्चरेक्वापि दिग्वासाग्रहवद्विभो ॥ ४१ ॥  
 नाहं निन्दे न च स्तौमि स्वभावविषमं जनम् ॥  
 एतेषां श्रेयआशासे उतैकात्म्यं महात्मनि ॥ ४२ ॥  
 विकल्पं जुहुयाच्चित्तौ तां मनस्यर्थविभ्रमे ॥  
 मनोवैकारिके हुत्वा तन्मायायां जुहोत्यनु ॥ ४३ ॥  
 आत्मानुभूतौ तां मायां जुहुयात् सत्यदृङ्मुनिः ॥  
 ततो निरीहोविरमेत् स्वानुभूत्यात्मनि स्थितः ॥ ४४ ॥  
 स्वात्मवृत्तं मयेत्यन्ते सुगुप्तमपिवर्णितम् ॥  
 व्यपेतलोकशास्त्राभ्यां भवान् हि भगवत् प्रियः ॥

॥ नारदउवाच ॥

धर्मं पारमहंस्यं वै मुनेः श्रुत्वाऽसुरेश्वरः ॥ ४५ ॥  
 पूजयित्वा ततः प्रीत आमन्त्र्य प्रययौ गृहम् ॥  
 इति श्री भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः  
 समाप्तः ।

श्रीभागवतेमहापुराणेकादशस्कंधे  
भगवदुद्धवसंवादेएकोनविंशाऽध्याये ॥

श्रीभगवानुवाच ॥

यो विद्याश्रुतसंपन्न आत्मवान्नानुमानिकः ॥

मायामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानं च मयि संन्यसेत् ॥ १ ॥

ज्ञानिन स्त्वहमेवेष्टः स्वार्थो हेतुश्च संमतः ॥

स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो महते प्रियः ॥ २ ॥

ज्ञानविज्ञानसंसिद्धाः पदं श्रेष्ठं विदुर्मम ॥

ज्ञानीप्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ विभर्ति माम् ॥ ३ ॥

तपस्तीर्थं जपोदानं पवित्राणीतराणि च ॥

नालं कुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलयाकृता ॥ ४ ॥

तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव ॥

ज्ञानविज्ञानसंपन्नो भज मां भक्तिभावितः ॥ ५ ॥

ज्ञानविज्ञानयज्ञेन मामिद्धात्मानमात्मनि ॥

सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन् ॥ ६ ॥

त्वय्युद्धवाश्रयतियस्त्रिविधो विकारो मायाऽतरापतति  
नाद्यपवर्गयोर्यत् ॥ जन्मादयोऽस्य यदमी तव तस्य किं

स्युराद्यं तयो र्यदसतोऽस्ति तदेव मध्ये ॥ ७ ॥

॥ उद्धव उवाच ॥ ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैतद्वैराग्यविज्ञान

युतं पुराणं ॥ आख्याहिविश्वेश्वर विश्वमूर्ते त्वद्भक्ति योगञ्च

महद्विमृग्यम् ॥ ८ ॥

तापत्रयेणाभिहतस्य घेरे सन्तप्यमानस्य भवाध्वनीश ॥

पश्यामि नान्यच्छरणं तवां धिद्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥ ९ ॥



कचिदल्पं कचिद्भूरि भुञ्जेऽन्नं स्वाद्वस्वादु वा ॥  
 क्वचिद्भूरिगुणोपेतं गुणहनिमुत क्वचित् ॥ ३७ ॥  
 श्रद्धयोपाहतं क्वापि कदाचिन्मानवर्जितम् ॥  
 भुञ्जे भुक्त्वाऽथ कस्मिंश्चिद्विवा नक्तं यदृच्छया ॥ ३८ ॥  
 क्षौमंदुकूलमजिनं चीरंवल्कलमेव वा ॥  
 वसेऽन्यदपि संप्राप्तं दिष्टभुक्तुष्टधीरहम् ॥ ३९ ॥  
 कचिच्छयेधरोपस्थे तृणपर्णाश्मभस्मसु ॥  
 कचित् प्रसादपर्यङ्के कशिपौ वा परेच्छया ॥ ४० ॥  
 कचित् स्नातोऽनुलिप्ताङ्गः सुवासाः स्रग्बलंकृतः ॥  
 रथेभाश्वैश्चरेक्वापि दिग्वासाग्रहवद्विभो ॥ ४१ ॥  
 नाहं निन्दे न च स्तौमि स्वभावविषमं जनम् ॥  
 एतेषां श्रेयआशासे उतैकात्म्यं महात्मनि ॥ ४२ ॥  
 विकल्पं जुहुयाच्चित्तौ तां मनस्यर्थविभ्रमे ॥  
 मनोवैकारिके हुत्वा तन्मायायां जुहोत्यनु ॥ ४३ ॥  
 आत्मानुभूतौ तां मायां जुहुयात् सत्यदृङ्मुनिः ॥  
 ततो निरीहोविरमेत् स्वानुभूत्यात्मनि स्थितः ॥ ४४ ॥  
 स्वात्मवृत्तं मयेत्यन्ते सुयुक्तमपिवर्णितम् ॥  
 व्यपेतं लोकशास्त्राभ्यां भवान् हि भगवत् प्रियः ॥  
 ॥ नारदउवाच ॥  
 धर्मं पारमहंस्यं वै मुनेः श्रुत्वाऽसुरेश्वरः ॥ ४५ ॥  
 पूजयित्वा ततः प्रीत आमन्त्र्य प्रययौ गृहम् ॥  
 इति श्री भागवते महापुराणे सप्तमस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः  
 समाप्तः ।

श्रीभागवतेमहापुराणेकादशस्कंधे  
भगवदुद्धवसंवादेएकोनविंशाऽध्याये ॥

श्रीभगवानुवाच ॥

यो विद्याश्रुतसंपन्न आत्मवान्नानुमानिकः ॥  
मायामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानं च मयि संन्यसेत् ॥ १ ॥  
ज्ञानिन स्त्वहमेवेष्टः स्वार्थो हेतुश्च संमतः ॥  
स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थोमहते प्रियः ॥ २ ॥  
ज्ञानविज्ञानसंसिद्धाः पदंश्रेष्ठं विदुर्मम ॥  
ज्ञानीप्रियतमोऽतोमे ज्ञानेनासौ विभर्त्ति माम् ॥ ३ ॥  
तपस्तीर्थं जपोदानं पवित्राणीतराणि च ॥  
नालं कुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलयाकृता ॥ ४ ॥  
तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव ॥  
ज्ञानविज्ञानसंपन्नो भज मां भक्तिभावितः ॥ ५ ॥  
ज्ञानविज्ञानयज्ञेन मामिद्धात्मानमात्मनि ॥  
सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन् ॥ ६ ॥

त्वय्युद्धवाश्रयतियस्त्रिविधो विकारो मायाऽतरापतति  
नाद्यपवर्गयोर्यत् ॥ जन्मादयोऽस्य यदमी तव तस्य किं  
स्युराद्यं तयो र्यदसतोऽस्ति तदेवमध्ये ॥ ७ ॥  
॥ उद्धव उवाच ॥ ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैतद्वैराग्यविज्ञान  
युतं पुराणं ॥ आख्याहिविश्वेश्वर विश्वमूर्ते त्वद्भक्ति योगञ्च  
महद्विमृग्यम् ॥ ८ ॥  
तापत्रयेणाभिहतस्य घेरे सन्तप्यमानस्य भवाध्वनीश ॥  
पश्यामि नान्यच्छरणां तवां प्रिद्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥ ९ ॥



दष्टं जनं संपतितं विलेऽस्मिन् कालाहिना क्षुद्र सुखोरुतर्षम् ॥  
 समुद्धरैनं कृपयाऽपवर्गैर्वचोभिरासिञ्च महानुभाव ॥ १० ॥  
 श्रीभगवानुवाच ॥ इत्थमेतत् पुराराजा भीष्मं धर्मभृताम्बरम् ॥  
 अजातशत्रुः पप्रच्छ सर्व्वेषां नोऽनुशृण्वताम् ॥ ११ ॥  
 निवृत्ते भारते युद्धे सुहृन्निधनविह्वलः ॥  
 श्रुत्वा धर्मान् बहून् पश्चान्मोक्षधर्मान् पृच्छत ॥ १२ ॥  
 तानहंतेऽभिधास्यामि देवव्रतमुखाच्छ्रुतान् ॥  
 ज्ञानवैराग्यविज्ञानश्रद्धाभक्त्युपवृत्तं हितान् ॥ १३ ॥  
 नवैकादश पञ्च त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै ॥  
 ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम् ॥ १४ ॥  
 एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत् ॥  
 स्थित्युत्पत्त्यप्ययान् पश्येद्भावानां त्रिगुणात्मनाम् ॥ १५ ॥  
 आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात् सृज्यं यदन्वियात् ॥  
 पुनस्तत् प्रति संक्रामे यच्छिष्येत तदेव सत् ॥ १६ ॥  
 श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम् ॥  
 प्रमाणेष्वनवस्थानाद्विकल्पात् स विरज्यते ॥ १७ ॥  
 कर्मणां परिणामित्वादाविरिञ्ज्यादमङ्गलम् ॥  
 विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥ १८ ॥  
 भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ ॥  
 पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणां परम् ॥ १९ ॥  
 श्रद्धाऽमृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ॥  
 परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥ २० ॥  
 आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ॥

मद्भक्तपूजाभ्यऽधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥ २१ ॥  
 मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मदगुणोरणम् ॥  
 मय्यर्पणञ्च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥ २२ ॥  
 मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ॥  
 इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः ॥ २३ ॥  
 एवं धर्मे र्मनुष्याणां मुद्धवात्मनि वेदिनाम् ॥  
 मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्याविशिष्यते ॥ २४ ॥  
 यदात्मन्यर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपवृंहितम् ॥  
 धर्मं ज्ञानं स वैराग्यमैश्वर्यञ्चाभिपद्यते ॥ २५ ॥  
 यदर्पितं तद्विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति ॥  
 रजस्त्रलञ्चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम् ॥ २६ ॥  
 धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तो ज्ञानश्चैकात्म्यदर्शनम् ॥  
 गुणेष्वसंगो वैराग्यमैश्वर्यञ्चाणिमादयः ॥ २७ ॥

॥ उद्धव उवाच ॥

यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो वाऽरिर्कर्षण ॥  
 कः शमः कोदमः कृष्ण का तितिच्चाधृतिः प्रभो ॥ २८ ॥  
 किं दानं किं तपः शौर्यं किं सत्यमृतमुच्यते ॥  
 कस्त्यागः किं धनं चेष्टं को यज्ञः का च दक्षिणा ॥ २९ ॥  
 पुंसः किं स्विद्वलं श्रीमान् भगोलाभश्च केशव ॥  
 का विद्या ह्रीः परा काश्रीः किं सुखं दुःखमेव च ॥ ३० ॥  
 कः परिडतः कश्चमूर्खः कः पन्था उत्पथश्च कः ॥  
 कः स्वर्गो नरकः कः स्विन् को बन्धुरुत किं गृहम् ॥ ३१ ॥



क आढ्यः को दरिद्रोवा कृपणः कः क ईश्वरः ॥  
एतान् प्रश्नान् मम ब्रूहि विपरीतांश्च सत्पते ॥ ३२ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अहिंसा सत्यमस्तेय मसंगो ह्रीरसञ्चयः ॥  
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यञ्च मौनं स्थैर्यं क्षमाऽभयम् ॥ ३२ ॥  
शौचं जपस्तपोहोमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम् ॥  
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्य्यं सेवनम् ॥ ३४ ॥  
एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादशस्मृताः ॥  
पुंसामुपासिता स्तात यथाकामं दुहन्ति हि ॥ ३५ ॥  
शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः ॥  
तितिक्षा दुःखसंमर्षो जिह्वोपस्थजयोधृतिः ॥ ३६ ॥  
दण्डन्यासः परंदानं कामत्याग स्तपः स्मृतम् ॥  
स्वभावविजयः शौर्य्यं सत्यञ्च समदर्शनम् ॥ ३७ ॥  
ऋतञ्च सूनृतावाणी कविभिः परिकीर्तिता ॥  
कर्मस्वसंगमः शौचं त्यागः सन्न्यास उच्यते ॥ ३८ ॥  
धर्मइष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः ॥  
दक्षिणा ज्ञानसन्देशः प्राणायामः परं वलम् ॥ ३९ ॥  
भगो म ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः ॥  
विद्यात्मनि भिदाबाधो जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु ॥ ४० ॥  
श्रोर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुखदुःखसुखात्ययः ॥  
दुःखं कामसुखापेक्षा परिडतो बन्धमोक्षवित् ॥ ४१ ॥  
मूर्खो देहाद्यहं बुद्धिः पन्था मन्निगमः स्मृतः ॥  
उत्पथ शिचत्तविक्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ॥ ४२ ॥

नरकस्तम उन्नाहो बन्धुर्गुरुरहं सखे ।

गृहं शरीरं मानुष्यं गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते ॥ ४३ ॥

दरिद्रो यस्त्वसन्तुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः ॥

गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसङ्गो विपर्ययः ॥ ४४ ॥

एत उद्धव ते प्रश्नाः सर्व्वे साधुनिरूपिताः ॥

किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणादोषयोः ॥ ४५ ॥

गुणादोषद्विशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ॥

५

इति श्रीमहाभागवते महापुराणे उद्धव कृष्ण संवादे  
ज्ञानादे स्त्यागे एकादशस्कन्धे एकोनविंशोऽध्यायः ॥

यदारंभेषु निर्विण्यो विरक्तः संयतेन्द्रियः ॥

अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः ॥ १ ॥

आत्मपुराणे ८ अध्याये ॥

कारणं कार्यजनकं नियतं संस्थितं यतः ॥

संन्यासोऽप्यात्मविज्ञानजनकः संप्रकीर्तितः ॥ १ ॥

संन्यस्यापि ततो नैव श्रवणादिकृतिर्हि या ॥

सोपादानाभिधा ध्यातुरालस्यादेव जायते ॥ २ ॥

कालतो जायते विश्वं कालाज्ज्ञानं भविष्यति ॥

श्रवणादौ ततो व्यग्रं चिन्तं कुर्व्वन् न चोचितम् ॥ ३ ॥

शान्तिदान्त्यादि हीनाय विषयासक्तचेतसे ॥

अर्थिनेऽपि न दातव्यं गुरुणापि कृपालुना ॥ ४ ॥

अपुत्रायाप्यशिष्याय वक्तव्यं नाधिकारिणे ॥

उक्ते सत्यपि तत्सारो वक्तव्यः सर्व्वथा न हि ॥ ५ ॥

गुरुभक्त्या विहीनाय सर्व्वदा प्यधिकारिणे ॥



## आत्मपुराणे षष्ठाऽध्याये ॥

अगृहीत्वैव दाराणां पाणिं परमनिर्वृताः ॥ ६ ॥  
 पुत्राणामपि वित्तानां लोकानां चोभयात्मनाम् ॥  
 इहामुत्रसुखार्थानां परित्यज्यैषणात्रयम् ॥ ७ ॥  
 भिक्षाचर्य्यं चरन्ति स्म संन्यासाश्रममागताः ॥  
 पुत्रैषणात्रया प्रोक्ता सैव वित्तैषणा स्मृता ॥ ८ ॥  
 पुत्राणामपि वित्तत्वं पितुः स्याद्गोधनादिवत् ॥  
 वित्तैषणा तु या प्रोक्ता सा स्याल्लोकैषणा सदा ॥ ९ ॥  
 वित्तं हि सुखहेतुः स्याल्लोको नाकादिको यथा ॥  
 उभेएव ततो ज्ञेये एषणो वेदवादिभिः ॥ १० ॥  
 एषणात्रयनिर्मुक्ता भिक्षाचर्य्यपरायणाः ॥  
 यंजानन्ति महात्मान स्तं को वेत्ति पुमान् सुधीः ॥ ११ ॥  
 तस्यैव ब्राह्मणस्यायं महिमा ब्राह्मणो भवेत् ॥  
 पदनीयात्मविज्ञानादयो ह्यात्मवपुः स्थितः ॥ १२ ॥  
 को नामान्यस्तरेदेते दुस्तरे पुण्यपातके ॥  
 यस्मात् पूर्व्वेपि विद्वांसः पुण्यपापविवर्जिताः ॥ १३ ॥  
 एषणात्रयनिर्मुक्ता जाता भिक्षाटने रताः ॥  
 आत्मलोकेन संपन्नाः परिव्राज्या जितेन्द्रियाः ॥ १४ ॥  
 पश्चात् संन्यासजायायै ब्रह्मविद्यांसमर्प्यच ॥

## आत्मपुराणे १० अध्याये ॥

वेदान्तजात्मविज्ञानसुनिश्चितपदार्थकाः ॥ १५ ॥  
 संन्यासयोगतः शुद्धचित्तः शान्त्यादिं संयुताः ॥

यतयो यत्र जीवन्तः साक्षान्नैव विजानते ॥ १६ ॥  
 इदं सुदुर्लभं ज्ञानं जन्मकोटिशतायुतैः ॥  
 प्राप्यते पुरुषव्याघ्रैर्गुरु श्रुश्रूषणादिना ॥ १७ ॥  
 क्रमप्राप्तश्च संन्यासः सप्तत्याः स्यादनन्तरम् ॥  
 युवानः सर्व एवैते आत्मज्ञानविवर्जिताः ॥ १८ ॥  
 आत्मावलोकनार्थाय शान्तिदान्त्यादिसंयुतः ॥  
 सन्न्यसेत् सर्वकर्माणि श्रुतिस्त्वेवमुवाच ह ॥ १९ ॥  
 सन्न्यस्य सर्वकर्माणि वेदान्तार्थविचारणा ॥  
 गुरूपदेशतः कार्या तर्केण ध्यानतोऽपि च ॥ २० ॥  
 एवं ममाऽद्वितीयस्य चिदानन्दात्मरूपिणः ॥  
 साक्षात्कृतिर्भवेद्यस्य दुःखं नैतत् समाप्नुयात् ॥ २१ ॥  
 वक्तव्यं साधुना युक्त मन्त्यजे वाथ वैरिणि ॥  
 पतितेऽपि दुराचारे तात्पर्येणोह पृच्छति ॥ २२ ॥  
 मया पृष्टा इमे सर्व एव मौनं समाश्रिताः ॥  
 इमे न कर्म योग्याः स्युः सन्न्यस्तत्वाद्धि दुर्धियः ॥ २३ ॥  
 विरक्तिं नैव चापन्नाः कोपे सति कुतो हि सा ॥  
 जन्मकष्टं नृणामेतत् कामः कष्टतरस्ततः ॥ २४ ॥  
 क्रोधः कष्टतम स्तस्मात् स एतेषु समाश्रितः ॥  
 अविरक्तेषु किं नाम न्यासात् स्यात् फलमेषु हि ॥ २५ ॥  
 आत्मपुराणे द्वितीयाऽध्याये ॥  
 प्रत्युतानेन पतनं भवेद्धि तनुमानिनाम् ॥  
 गुरुनेते न गच्छन्ति मूर्खाः परिडितमानिनः ॥ २६ ॥  
 स्वयञ्च न विजानन्ति मम सन्न्याससंभवम् ॥



कामक्रोधाद्यरिणां सम्पक् संच्छिद्य सर्वदा ॥ २७ ॥  
 सकारणमहं ब्रह्मेतीत्यं विज्ञानहेतुना ॥  
 नितरामासनं स्वस्य पुनरावृत्तिवर्जितम् ॥ २८ ॥  
 यदेतत् सहि सन्यास स्तर्हि नैतेषु विद्यते ॥  
 अथवा संघियागम्यं फलजातं ससाधनम् ॥ २९ ॥  
 इहामुत्र च संत्यज्य नितरामासनं गुरौ ॥  
 आत्मविज्ञानसंतत्यै तदप्येषु न विद्यते ॥ ३० ॥  
 न हि सन्यासतो मुक्तिर्नटानां सा कुतो न हि ॥  
 किन्तु सर्वाभिलाषस्य कोपस्य च विवर्जनात् ॥ ३१ ॥  
 सर्वात्मनाप्यशक्यत्वे साधुशास्त्रसमाश्रयात् ॥  
 कालुष्यं हि यथा हन्यान्नीराणां हि शरच्छनैः ॥ ३२ ॥  
 कामक्रोधौ तथा दीप्तौ साधुशास्त्रे हतः शनैः ॥  
 दुर्दान्तो हि यथा वाजी कालेन दममाब्रजेत् ॥ ३३ ॥  
 शिद्यमाणो नरैस्तज्ज्ञैः शिक्षाभेदैरनेकशः ॥  
 दुर्दान्तं मन एवं हि कामक्रोधवशङ्गतम् ॥ ३४ ॥  
 गुरुशास्त्रैः शिद्यमाणं दान्तं भवति कालतः ॥  
 आशानैतेषु साप्यस्ति नित्यं परिडितमानिषु ॥ ३५ ॥  
 अनादृतवचः स्वात्मबोधशून्येषु कर्मिषु ॥

आत्मपुराणे तृतीयाऽध्याये ॥

याजनाध्यायनं चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ ३६ ॥  
 ब्राह्मणस्यैव कर्मैतत् क्षत्रियस्य न कर्हिचित् ॥  
 सुखदुःखेषु नियते सशरीरस्य देहिनः ॥ ३७ ॥

इतिविज्ञानसंपन्नो मुमुक्षुर्देहदोषवित् ॥

सशिखं वपनं कृत्वा परित्यज्यान्यमाश्रमम् ॥ ३८ ॥

सपरिष्करमादाय तुरीयं मोक्षसाधनम् ॥

आश्रमं ज्ञानसंपन्नं गुरुमेत्य विधानतः ॥ ३९ ॥

वेदवाक्यानि श्रुत्वाथ गुरुवक्त्रारविन्दतः ॥

सार्थानि मनसा तेषामुपपत्तिं विचार्य च ॥ ४० ॥

परित्यज्य च पाण्डित्यं तत्त्वमस्यादिवोधने ।

एकाग्रं मन आपाद्य जड़वालपिशाचवत् ॥

अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थं साक्षात् कृति मुपेयिवान् इति ॥ ४१ ॥

अस्यार्थः । मोक्षसाधनं ज्ञानमेव दृष्ट्वा तत्साधन-

संन्यासपूर्वकं श्रवणादि कर्तुं त्याह ॥

सशिखमिति ॥ शास्त्रोक्तविधिना सशिखमुण्डनं कृत्वा  
 ज्ञ्यं त्रयाणां वानप्रस्थान्तानामन्यतममाश्रमं ( मोक्षसा-  
 धनमादाय ) विहाय परिष्करैर्दण्डाद्युपकरणैः सहितं तुरी-  
 यमाश्रमं मोक्षसाधनमादाय गृहीत्वा अथ ब्रह्मनिष्ठं गुरुं विधि-  
 बद्धुपेत्याथ तस्य गुरोर्मुखाम्बुजात् सार्थानि वेदवाक्यानि  
 श्रुत्वा तेषां वाक्यानां स्वार्थपरत्वे उपपत्तिञ्च शारीरकेप्रपञ्चि-  
 तां मनसा विचार्य एतादृशं श्रवणं संपाद्येति यावत् । अथ  
 तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थबोधे पाण्डित्यं श्रवणाभ्यासं परित्यज्य  
 रागद्वेषराहित्येन जड़वालपिशाचवद्भाव रूपं मननं संपाद्याथ  
 मनस एकाग्रता लक्षणां निदिध्यासनं श्रुतौ मौन शब्दोदितं  
 संपाद्य तथा च श्रुतिः तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य



वाल्मेन तिष्ठासेद्वात्यं पाण्डित्यं निर्विद्याय मुनिरिति  
 तिष्ठासेत् स्यातुमिच्छेत् । अथोक्तसाधनफलभूतामहं ब्रह्म  
 इत्याकारां वाक्यार्थं साक्षात् कृति मुपेयिवान्प्राप्त इति  
 चतुर्णामर्थः ॥

आत्मपुराणे चतुर्थाऽध्याये ॥

अभिकारं विना तद्वद्विफलं ब्रह्मबोधनम् ॥  
 एवं वदन्मुनि नित्यमिच्छतामधिकारिणाम् ॥ १ ॥  
 कामक्रोधौ महाशत्रू देहिनां सहजाबुधौ ॥  
 तौ विहाय परंशत्रुं योजयेत् स तु मन्दधीः ॥ २ ॥  
 युवयो र्यदि सामर्थ्यं जेतुं शत्रून् हि विद्यते ॥  
 जयत्वं दुर्जयौ शत्रू कामक्रोधौ महाबलौ ॥ ३ ॥  
 कामेन विजितो ब्रह्माकामेन विजितो हरः ॥  
 कामेन विजितो विष्णुः शक्रः कामेन निर्जितः ॥ ४ ॥  
 अपरे त्वमराः किं नारीक्रीडामृगा हि ये ॥  
 पञ्चवाणस्ततो जेयः शत्रुरस्ति हि देहिनाम् ॥ ५ ॥  
 युवाभ्याञ्च जितो नायं किन्तु तेन युवां जितौ ॥  
 जयन्ति मुनयः केचित् पञ्चवाणां कथञ्चन ॥ ६ ॥  
 तदीयं तनयं क्रोधं शक्ताजेतुं न ते पि हि ॥  
 पितृपुत्रौ महावीर्यौ कामक्रोधौ दुरासदौ ॥ ७ ॥  
 विजित्य सकलं विश्वं वर्तेते जयकाशिनौ ॥  
 एकमेवाद्वितीयं यत् सोऽयमात्माशरीरिणाम् ॥ ८ ॥  
 अहंब्रह्मेति वाक्येन विज्ञेयो ब्रह्मरूपभृत् ।

आत्मपुराणे सप्तमाऽध्याये ॥  
 सतु संजातविज्ञानः सन्न्यासाय समुद्यते ॥ ९ ॥  
 ब्रह्मचर्याश्रमादेव निस्पृहोदारसंग्रहे ।  
 विरक्तवीक्ष्य शिष्यन्तं भगवान् रविरब्रवीत् ॥ १० ॥  
 याज्ञवल्क्यात्र विद्यायाः प्रयच्छ गुरुदक्षिणाम् ।  
 संप्रदाय प्रवृत्त्याख्यां वेदानध्यापयाखिलान् ॥ ११ ॥  
 त्रैवर्णिकान् गृहस्थः सन् पश्चात् सन्न्यासमाव्रज ।  
 ब्रह्मविद्याञ्चसन्न्यस्य वेद वा पूर्वमेव वा ॥ १२ ॥  
 इत्युक्तो याज्ञवल्क्योऽपि तथेपि गुरुशासनम् ।  
 गृहीत्वा शिरसा भूमिं समागाद्भास्करो यथा ॥ १३ ॥  
 ऋषीणां ब्रह्मचर्येण ऋणं दत्तं यथामुना ।  
 देवानाञ्च पितॄणाञ्च दत्तवान् स तथैव तत् ॥ १४ ॥  
 अग्निष्टोमादिकान् यज्ञान् कृतवान् बहुदक्षिणान् ॥  
 स्वात्मनः सदृशान् पुत्रान् कन्यकाश्चोदपादयत् ॥ १५ ॥  
 ऋणं यद्यपि नैवास्ति विरक्तस्यास्य किञ्चन ॥  
 तथाप्याश्रमसंबन्धादृणमस्मिन्नुपागतम् ॥ १६ ॥  
 ब्रह्मचर्याश्रमी यद्वदृषीणां हि भवेदृणी ॥  
 ऋणागृहस्थश्च तथा देवपित्रोः सदाभवेत् ॥ १७ ॥  
 सन्न्यासे तु कृते न स्यादयत् स्यात् पूर्वाश्रमेऋणम् ॥  
 लौकिकञ्च यथा न स्यादृणं तद्वद्धि वैदिकम् ॥ १८ ॥  
 सन्न्यासिनामतः पूर्वं विदुषोऽपिभवेद्वित्तम् ॥  
 नैमित्तिकं निमित्ते स्यान्नियतं लोकवेदयोः ॥ १९ ॥



ऋणात्रये निमित्तं स्यात् पूर्वोक्तं ह्याश्रमद्वयम् ॥  
 द्विजानामाश्रमाभावो न प्रशस्तः कदाचन ॥ २० ॥  
 वनवासस्य नियतः काल उक्तो मनीषिभिः ॥  
 गृहस्थश्च यदा पश्येद्वलीपलित मात्मनः ॥ २१ ॥  
 अपत्यस्य तथापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥  
 ब्रह्मचर्याद्गृहाद्वापिवनाद्वा प्रव्रजेद्यथा ॥ २२ ॥  
 न तथा ब्रह्मचर्यादि र्वनवासः श्रुतौ श्रुतः ॥  
 आनिपाताच्छरीरस्य ह्येकमाश्रममाश्रितः ॥ २३ ॥  
 तिष्ठेदित्यादि वचनं न क्रमं विनिवारयेत् ॥  
 ऋषीणामृणमत्यर्थमनायासान् मयार्पितम् ॥ २४ ॥  
 समर्प्यैव तंतःशेषं प्राणिनां तदृणद्वयम् ॥  
 सन्न्यस्य मित्यतोऽ मीषां पक्तिभेदो न संभवेत् ॥ २५ ॥  
 याज्ञवल्क्यो यथा तद्वन्मैत्रेय्यपि चचारह ॥  
 सन्न्यासलिङ्गरहिता भुवमात्मस्वरूपिणी ॥ २६ ॥  
 द्विजोत्तम सलिङ्गस्याच्चतुर्थाश्रम वासिनः ॥  
 वर्णिनामपि नान्येषां कुत एतत् स्त्रिया भवेत् ॥ २७ ॥  
 ब्रह्मचर्यादिकं धर्मं चतुर्थाश्रमवासिनाम् ॥  
 योषितश्च न कुर्वन्तु आश्रमस्य विधारणम् ॥ २८ ॥  
 विटादि वेषयुक्तोऽपि चरेद्धर्मं मनिन्दितम् ॥  
 आश्रमेऽनधिकारो य उक्तमाश्रमिणः सदा ॥ २९ ॥  
 कामं त्रैवर्णिकस्त्रीणां तथा क्षत्रियवैश्ययोः ॥  
 विज्ञानं वेदवाक्येन कारयेद्ब्राह्मणः स्वयम् ॥ ३० ॥

चतुर्थमाश्रमं नैव कारयेत्तु कदाचन ॥  
 लिङ्गधारणरूपं तमलिङ्गं धर्मतः समम् ॥ ३१ ॥  
 कारयेत् केऽपि कुर्युर्वा न धर्मकरणेन हि ॥  
 विरोधो विद्यते यद्वद्योगे शूद्रस्य कीर्तितः ॥ ३२ ॥  
 क्षत्रियाश्च तथा वैश्यास्तद्वत्रैवर्णिकाः स्त्रियः ॥  
 विद्यावन्तोऽपि नान्येभ्यः कुर्युरात्मेोपदेशनम् ॥ ३३ ॥  
 उपदेशेऽपि विप्रस्य केऽपि नैवाधिकारिणः ॥  
 क्षत्रियः क्षत्रियं वापि वैश्यंवापि द्वयोः स्त्रियः ॥ ३४ ॥  
 विप्राद्यभावतः कामं शिष्यं कुर्वीत धर्मवित् ॥  
 वैश्यं वैश्यस्तथा वैश्यस्त्रियो वा धर्मसंयुताः ॥ ३५ ॥  
 शिष्यत्वेन प्रगृहीयात् कामं नोत्तमवर्णागाः ॥  
 स्त्रियस्तैवर्णिकानां स्युर्गुरवो नैव कर्हिचित् ॥ ३६ ॥  
 अनधीता यतस्त्वेता वेदवाक्याविचक्षणाः ॥  
 संप्रदायस्य विच्छेदे कामं त्रैवर्णिकस्त्रियः ॥ ३७ ॥  
 उपदेशान् प्रकुर्वन्तु समानान् धर्मान् प्रति ॥  
 त्रैवर्णिकास्तु विज्ञाय संप्रदायं स्वयं धिया ॥ ३८ ॥  
 वेदेभ्योऽप्यवगच्छन्तु वक्रभावे स्थिते सति ॥  
 ब्राह्मणानां स्त्रियो विप्रो गुरुरुक्तो न चापरः ॥ ३९ ॥  
 अन्यस्यापि भवेदेव गुरुः सर्वशरीरिणः ॥  
 अत्रापि कुलविद्यादि सपन्नः पितृतस्तथा ॥ ४० ॥  
 मातृतश्चापि संवद्धः प्रशस्तो गुरुरीरितः ॥  
 पतिः सर्वत्र नारीणां प्रथमः प्रोच्यते गुरु ॥ ४१ ॥



तदभावाद्भवेदन्य उत्तमोऽपि समोऽपि वा ॥

वर्णो नैव निकृष्टः स्यादधमः कस्यचिद्गुरुः ॥ ४२ ॥

कस्यां चिदपि विद्यायामापद्यपि च कर्हिचित् ॥

शूद्रादयस्तदीयाया योषितो यदि धर्मतः ॥ ४३ ॥

वर्त्तन्ते तत्र विज्ञेयं पुराणादे श्च वाक्यतः ॥

उपदेशन मन्त्रं स्याद्वेद वाक्यान्त्र कर्हिचित् ॥ ४४ ॥

यदाधमो गुरुर्नृणां कदाचित् संकटे सति ॥

वर्णिनो विक्रयादेव विद्यामस्मात् समाप्नुयात् ॥ ४५ ॥

निःस्पृहो यदि तत्रापि तदान्य विद्यया प्नुयात् ॥

विद्या गुरुश्च नो तस्मादधिकं कारयेत् कचित् ॥ ४६ ॥

॥ इति आत्मपुराणउक्तं ॥

अस्यार्थः । अत्राभिप्रायमाह ॥ चतुर्थमिति स ब्राह्मण उक्ताधिकारिणां लिंगधारणरूपं क्षत्रियवैश्ययोः चतुर्थमाश्रमन्तु न कारयेत् लिंगधारणादि निषेधात् यदि तं चतुर्थाश्रमं कारयेत्तदा कुटीचकपरं पूर्वमुक्तं । अलिंगं दण्डादिलिङ्गरहितं ब्रह्मचर्यादिधर्मैः समवेतं कारयेत् । न वा केऽपि विप्रभिन्ना स्तं लिङ्गधारणरूपं चतुर्थाश्रमं कुर्युः । यदि कुर्युस्तदाऽलिङ्गं धर्मतः समं कुर्युः हि यतो धर्ममात्रानुष्ठानेन कोऽपि श्रुत्यादि विरोधो विद्यते । विशेषानुष्ठाने तु स विद्यते । अत्रोदाहरणं शूद्रः यथा शूद्रस्य श्रौतस्मार्त्तयागेषु शूद्रो यज्ञेऽनवकृत् इत्यादि वाक्यैः पर्युदासस्तत्तुल्य दानादि साधारणं धर्मेष्व-

नुमतिर्नमस्कारेण पञ्चयज्ञान् न हापयेदिति वाक्यैरिति  
द्वयोरर्थः । ब्राह्मणादितरे तु दण्डधारणादिकमकृत्वा  
ऽहिंसा सत्यादिकं यतिधर्मं कुर्वीरन् तेषां साधारण धर्मं  
त्वेनापि पुराणादिषु विधानादित्याशयेनाह । अब्रह्मचर्या  
दिकमिति चतुर्थश्रमवासिनां योब्रह्मचर्यादिरूपो धर्मस्तद  
नुष्ठान रूपमुत्तमाश्रम धारणं योषित् क्षत्रियाद्याश्च कुर्वन्ति  
ति सम्बन्धः ब्रह्मचर्यमुपस्थसंयमः ॥ ५ ॥ १६ ॥

वर्णो नैव इति ॥ निकृष्टोऽवमो विप्रापेक्षया अधमानां  
क्षत्रियादीनां मध्ये निकृष्टो वर्णः शूद्रस्तु कदाचिदापद्यपि  
कस्यामपि विद्यायां गुरुर्न स्यात् इत्यर्थः । एतेनापदिक्षत्रियादे  
र्गुरुत्वमनुमतमिति ॥ शूद्रादय इति । आदिपदेन संकर-  
जातयः । तदीयाः शूद्रजातीयाः । एतेषामात्मजिज्ञासायां  
सत्यां पुराणवाक्यादिकाव्यादि वाक्यश्रवणेन ज्ञानं संपाद्यं  
अत्र शूद्रादिषु वेदवाक्ये नोपदेशनं तु कदाचित् न कर्तव्य  
मित्यर्थः । तथाच श्रुतिः । पद्युवा एतत् श्रमशानं यच्छूद्र  
स्तस्मात्तत् समीपे नाध्येतव्यमिति । पद्यु पादयुक्त मिति॥

(योगवासिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे वैराग्यदर्शयति १३ स्वर्गः)

परस्परविनाशोक्तेः श्रेयःस्थो न कदाचन ॥

सुखदुःखदशे राम तडित् प्राप्तर भङ्गरे ॥ १

ये विरक्ता महात्मानः सुविविक्ता भवादृशाः ॥

पुरुषान् विद्धि तान् वन्द्यान् भोगमोक्षैकभाजनान् ॥ २ ॥

विवेकं परमाश्रित्य वैराग्याभ्यासयोगतः ॥



संसारसरितं घोरामिमामापदमुत्तरेत् ॥ ३ ॥  
 न स्वप्नव्यञ्च संसारमायास्विह विजानता ॥  
 विषमूर्च्छन सम्मोहदायिनीषु विवेकिना ॥ ४ ॥  
 संसारमिममासाद्य य स्तिष्ठत्यवहेलया ॥  
 ज्वलितस्य गृहस्योच्चैः शेते तार्णस्य संस्तरे ॥ ५ ॥  
 यत् प्राप्य न निवर्तन्ते यदासाद्य न शोचते ॥  
 तत्पदं शेमुपीलभ्य मस्त्येवात्र न संशयः ॥ ६ ॥  
 तत् प्राप्तावुत्तम प्राप्तौ न क्लेश उपजायते ॥  
 न घनान्युपकुर्वन्ति न मित्राणि न वान्धवाः ॥ ७ ॥  
 न हस्तपादचलनं न देशान्तरसंगमः ॥  
 न कायक्लेशवैधुर्यं न तीर्थायतनाश्रयाः ॥ ८ ॥  
 पुरुषार्थैक साध्येन वासनैकार्थकर्मणा ॥  
 केवलं तन्मनोमात्रजयेनासाद्यते पदम् ॥ ९ ॥  
 विवेकमात्रसाध्यं तद्विचारैकान्तनिश्चयम् ॥  
 त्यजतादुःखजालानि नरेणैतदवाप्यते ॥ १० ॥  
 सुखासेव्यासनस्थेन तद्विचारयता स्वयम् ।  
 न शोच्यते पदं प्राप्य न सभूयोहि जायते ॥ ११ ॥  
 श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा स्नात्वा शुभाशुभम् ।  
 न हृष्यति ग्लायति यः स शान्त इति कथ्यते ॥ १२ ॥  
 यः समः सर्वभूतेषु भावि काङ्क्षति नोज्झति ।  
 जित्वेन्द्रियाणि यत्नेन स शान्त इति कथ्यते ॥ १३ ॥  
 स्पृष्ट्वा वदातया बुद्ध्या यथैवान्त स्तथावहिः ॥

दृश्यन्ते यत्र कार्याणि स शान्त इति कथ्यते ॥ १४ ॥  
 तुषारकरविम्बाभं मनो यस्य निराकुलम् ।  
 भरणोत्सवयुद्धेषु स शान्त इति कथ्यते ॥ १५ ॥  
 स्थितोऽपि न स्थित इव न हृष्यति न कुप्यति ।  
 यः सुषुप्तसमः स्वस्थः स शान्त इति कथ्यते ॥ १६ ॥  
 अमृतस्यन्दसुभगा यस्य सर्वजनं प्रति ।  
 दृष्टिः प्रसरति प्रीता स शान्त इति कथ्यते ॥ १७ ॥  
 योऽन्तः शीतलतां यातो यो भावेषु न सज्जति ।  
 व्यवहारी न संमूढः स शान्त इति कथ्यते ॥ १८ ॥  
 अप्यापत्सु दुर्न्तासु कल्पान्तेषु महत्स्वपि ।  
 तुच्छेऽहं न मनो यस्य स शान्त इति कथ्यते ॥ १९ ॥  
 आकाशसदृशी यस्य पुंसः संव्यवहारिणः ।  
 कलङ्कमेति न मतिः स शान्त इति कथ्यते ॥ २० ॥  
 तपस्विषु बहुज्ञेषु याजकेषु नृपेषु च ।  
 बलवत्सु गुणाढ्येषु शमवानेव राजते ॥ इति ॥ २१ ॥  
 योगवासिष्ठे मुमुक्षु प्रशंसा १४ सर्गः ॥  
 न विचारं विना कश्चिदुपायोऽस्ति विपश्चिताम् ।  
 विचाराद् शुभं त्यक्त्वा शुभमायाति धीः सताम् ॥ २२ ॥  
 या विवेक विकासिन्यो मतयो महतामिह ॥  
 न ता विपदि मज्जन्ति तुम्बकानीव वारिणि ॥ २३ ॥  
 विवेकितोदितादेहे सर्व्वं शीतलयत्यलम् ।  
 अलं करोति चात्यन्तं ज्योत्स्नेव भुवनं यथा ॥ २४ ॥  
 न च शाम्यति नाप्यन्तर्नापि बाह्येऽवतिष्ठति ॥



न च नैष्कर्म्यमादत्ते न च कर्मणि मज्जति ॥ २५ ॥  
 उपेक्षते गतं वस्तु संप्राप्तमनुवर्त्तते ॥  
 न क्षुब्धो न च वाक्षुब्धो भाति पूर्ण इवार्णवः ॥ २६ ॥  
 एवं पूर्णेन मनसा महात्मानो महाशयाः ॥  
 जीवन्मुक्ता जगत्यस्मिन् विहरन्तीह योगिनः ॥ २७ ॥  
 वेद वेदान्त सिद्धान्त स्थितयः स्थितिकारणम् ॥  
 निर्णयन्ते विचारेण दीपेन च भुवोनिशि ॥ २८ ॥  
 विवेकान्वो हि जात्यन्वः शोच्यः सर्वस्य दुर्मतिः ॥  
 दिव्यचक्षुर्विवेकात्मा जयत्यखिलवस्तुषु ॥ २९ ॥

### मुमुक्षुप्रकरणे १५ सर्गः ॥

सन्तोषोहि परं श्रेयः सन्तोषः सुखमुच्यते ॥  
 सन्तुष्टः परमभ्येति विश्राममरिसूदन ॥ ३० ॥  
 आत्मनात्मनि सन्तोषं यावद्व्याप्ति न मानसम् ॥  
 उद्भवन्त्यापदस्तावल्लता इव मनोविलात् ॥ ३१ ॥  
 सन्तोषशीतलं चेतः शुद्ध विज्ञान दृष्टिभिः ॥  
 भृशं विकाशमायाति सूर्याशुभिरिवाम्बुजम् ॥ ३२ ॥

### योगवासिष्ठे मुमुक्षुप्रकरणे १६ सर्गः ॥

विशेषेण महाबुद्धे संसारोत्तरणो नृणाम् ॥  
 साधुसङ्गतरोर्जातं विवेककुसुमं सितम् ॥ ३३ ॥  
 रक्षन्ति ये महात्मानो भाजनं ते फलश्रियः ॥  
 विवेकः परमो दीपो जायते साधुसङ्गमात् ॥ ३४ ॥  
 मनोहरोज्ज्वलो नूनमासेकादिवगुच्छकः ॥

यः स्नातः शीतसितया साधुसङ्गतिगङ्गया ॥ ३५ ॥  
 किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः ॥  
 सन्तोषः परमोलाभः सत्सङ्गः परमागतिः ॥ ३६ ॥  
 विचारः परमंज्ञानं शमो हि परमं सुखम् ॥  
 मोक्षोपायावबोधेन शुद्धान्तःकरणं जनम् ॥ ३७ ॥  
 न खेदयति भोगौघो न चानन्दयति क्वचित् ॥  
 दिने दिने च वेदान्तश्रवणाद्भक्तिसंयुतात् ॥ ३८ ॥  
 गुरुशुश्रूषया युक्तात् कृच्छ्राशीतिफलं लभेत् ॥  
 तुर्ये विश्रान्तियुक्तस्य प्रतीपस्य भवार्णवात् ॥ ३९ ॥  
 जीवितोऽजीवितश्चैव गृहस्थस्य तथा यतेः ॥  
 न कृते नाकृते नार्थो न श्रुतिस्मृतिविध्नमैः ॥ ४० ॥  
 निर्म्मन्दर इवाम्भोधिः स तिष्ठति यथा स्थितम् ॥  
 योगवासिष्ठे १२ सर्गे वैराग्यखण्डे ॥

### श्रीराम उवाच

किं नामेदं भवसुखं येयं संसारसन्ततिः ॥ ४१ ॥  
 जायते मृतये लोको म्रियते जननाय च ॥  
 अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचरचेष्टिताः ॥ ४२ ॥  
 आपदां पतयः पापा भावा विभवभूमयः ॥  
 असदेव वयं कष्टं विकृष्टा मूढबुद्धयः ॥ ४३ ॥  
 मृगतृष्णाभ्रसादूरे वने मुग्धमृगादिव ॥  
 जरा मरणा मापञ्च जननं सम्पद स्तथा ॥ ४४ ॥  
 आविर्भाव तिरोभावैर्विवर्द्धन्ते पुनः पुनः ॥



खलाः काले काले निशि निशित मोहैक मिहिका ।

गता लोके लोके विषयशतचोराः सुचतुराः ॥

प्रवृत्ताः प्रोद्युक्तादिशिदिशि विवेकैकहरणो ॥

रणेशक्ता स्तेषां क इव विदुषः प्रोज्झ्य सुभटाः ॥ ४५ ॥

अस्यार्थः । खला इति । अज्ञान लक्षणायां निशि लोके जनेमोहोऽविचार स्तल्लक्षणाभिर्मिहिकाभि स्तुषार-धूमैर्गतालोके विनष्टशास्त्रज्योतिषि सति खलाः परदुःखदा दिशिदिशि सर्वदिक्षु विवेक लक्षण मुख्य रत्नहरणो प्रोद्युक्ताः प्रकृष्टोद्योग युक्ताः सन्तः प्रवृत्ता वर्तन्त इति शेषः ॥

रणो युद्धे तेषां वधाय विदुषः प्रोज्झ्य तत्त्वज्ञानं विहाय अन्ये के सुभटाः शक्ता न केऽपीत्यर्थः । इवकारस्तत्तत् सदृशानामपि दौर्लभ्य द्योतनार्थः । विना तमोनाशं तद्वधा-सम्भवादिति भावः ॥ ४५ ॥

(अथेदानीं प्रायः परमहंसमेव प्रचरतीति तदेव प्रस्तूयते) बह्वचपरिशिष्टे ॥ यथोक्तचारिणं भिक्षुं गुरुमेकं परिग्रहेत् । यतिवृन्दैरनुज्ञातो मोक्षाश्रममुपाश्रयेदिति ॥ (संन्यासारम्भकालीनं प्रथमं प्रायश्चित्तं कर्तव्यमित्याह ।) ॥ कात्यायनः ॥ कुर्यात् कृच्छ्राणि चत्वारि सन्न्यसेत् यस्त्वं नाश्रमी । आश्रमी कृच्छ्रमेकन्तु कृत्वा सन्न्यासं मर्हतीति ॥ एतल्लक्षणमाह ॥ याज्ञवल्क्यः ॥

एक भुक्तेन नक्तेन तथैवायाचितेन च ॥

उपवासेन चैवायं पादकृच्छ्रः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥

यथा कथंचित् त्रिगुणः प्राजापत्योऽयमुच्यते ॥

अथ ग्रासनियममाह । पाराशरसंहितायां ॥

सायन्तु द्वादश ग्रासाः प्रातः पञ्चदश स्मृताः ॥

चतुर्विंशतिरायाच्याः परं निरशनं स्मृतम् ॥ ३ ॥

( प्राजापत्याशक्तौ धेनुं दद्यात् तत् प्रमाणमाह मनुः । )

प्राजापत्य क्रिया शक्तौ धेनुं दद्याद्द्विजोत्तम ॥

धेनोरभावेदातव्वं मूल्यं तुल्यं न संशयः ॥ ४ ॥

मूल्येऽप्यनुकल्पमाह । गवाभावे तु निष्कं स्यात्त-

दर्द्धं पादमेव च ॥ इति ॥ निष्कमिति चत्वारिंशन्माष-

परिमितसुवर्णादेः संज्ञा तत्र प्रथमं सुवर्णनिष्कं तद-

भावेरजतनिष्कं । अशक्तौ निष्कार्धं तत् पादमात्रं वा ॥

अत्यन्तमशक्तौ पादस्यार्द्धमपि मूल्यमित्यपि केचित् ॥

॥ पुनरपि कात्यायनः ॥ कृच्छ्रां स्तु चतुरः कृत्वा पावनार्थं

मनाश्रमी अश्रमीचेत्तप्तकृच्छ्रं तेनासौ योग्यतां व्रजेत्

॥ इति ॥ विश्वेश्वरपद्धतौ स्मृत्यन्तरेऽपि ॥

( संन्यासविधौ प्रायश्चित्तं प्रथमं कर्त्तव्यं वौधायनमतमाह )

अनाश्रमी चतुरः कृच्छ्रानात्मशुद्धयर्थं विदध्यादाश्रमी

तप्तकृच्छ्रमेकमिति । कृच्छ्रानिति प्राजापत्य कृच्छ्रान् ॥

तथा च बहुचपरिशिष्टे ॥ मुमुक्षुरात्मशुद्धये एकं तप्त-

कृच्छ्रं कृत्वा अनाश्रमी च प्राजापत्यानिति ॥ अनेन

कृच्छ्राचरणोनात्मशुद्धिद्वारा संन्यास योग्यता भवति । तथा

च स्मृत्यर्थसारे ॥ कृच्छ्रां स्तु चतुरः कृत्वा इति पूर्वोक्तं ॥

तथा च सूत संहितायां ॥ क्रोधपैशून्यनिद्रादि दूरतः परि-

वर्जयेत् ॥ कृच्छ्रं चान्द्रायणं कुर्यान्मासि मासिवने स्थितः



कृच्छ्रं चान्द्रायणमतिकृच्छ्रं लक्षणानि प्राजापत्यलक्षणानि मनुनोक्तानि ॥ त्र्यहं प्रातः त्र्यहंसायं त्र्यहमद्यादया चितम् ॥ त्र्यहंपरन्तु नाशनीयात् प्राजापत्यं चरन् द्विजः ॥ यथाकथञ्चित् त्रिगुणः प्राजापत्योऽयमुच्यते ॥ वसिष्ठः ॥ अहः प्रातरहर्नक्तमहरेकमयाचितम् । अहः पराकं तत्रैव मेवं चतुरहौपरौ ॥ इति ॥ पराक उपवासः । एकभक्तनक्तमयाचित उपवास इति त्रिरावृत्त्याद्वादश दिनसाध्य इति तत्प्रमाणमपि एक भुक्तादिषु ग्राससंख्या ॥ आपस्तम्बः सायं द्वाविंशति ग्रासाः प्रातः षड्विंशतिः स्मृताः ॥ चतुर्विंशति रयाच्याः परंनिरशनं स्मृतमिति । एवमपि पाराशरेनोक्तं ॥ ग्रास प्रमाणमाह ॥ कुकुटाण्ड प्रमाणञ्चयावांश्चप्रविशेन्मुखं ॥ विशेत् सुखमिति वापाठः ॥ प्रायश्चित्तवानन्तरं पञ्चगव्यभक्षणं तत् शोधनप्रमाणमाह ॥

गायत्र्या गृह्य गौमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् ॥

आप्यायस्वेति क्षीरं च दधिकान्नेति वै दधि ॥ १ ॥

तेजोसि शुक्रमित्याज्यं देवस्यत्वा कुशोदकम् ॥

पञ्चगव्यमृचा पूतं स्थापयेदग्निसन्निधौ ॥ २ ॥

आपोहिष्ठेति चालोढ्य मानस्तोकेति मन्त्रयेत् ॥

सप्तावरास्तु ये दर्भा अञ्छिन्नाग्राः शुकत्विषः ॥ ३ ॥

एभिरुद्धृत्य होतव्यं पञ्चगव्यं यथा विधि ॥

इरावती इदं विष्णुर्मानस्तोके च शंवती ॥ ४ ॥

एतै रुद्धृत्य होतव्यं हुतशेषं स्वयं पिबेत् ॥

आलोढ्य प्रणवेनैव निर्मध्य प्रणवेनतु ॥ ५ ॥

उद्धृत्य प्रणावेनैव पिवेच्च प्रणावेनतु ॥  
 सर्वेषामेव पापानां सङ्करेसमुपस्थिते ॥  
 शतसाहस्रमभ्यस्ता गायत्री शोधनं परम् ॥ ६ ॥  
 ॥ मनुः ॥ सावित्रीञ्च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तिः ॥  
 सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थं मादृतः ॥ ७ ॥  
 । याज्ञवल्क्यः । कुर्यात् त्रिषवणास्नायी कृच्छ्रं चान्द्रायणां  
 तथा । पवित्राणि जपेत् पिण्डान् गायत्र्याचाभिमन्त्रयेत् ॥ ८ ॥  
 अस्यार्थः ॥ मिताक्षरायां स्मर्यते ॥  
 अथ कृच्छ्रचान्द्रायणव्रत साधारणीयमिति कर्तव्यतामाह ॥  
 कृच्छ्रं प्राजापत्यादिकं चान्द्रायणां वा त्रिषवणस्नानयुक्तः  
 कुर्यात् एतच्च तत्कृच्छ्रव्यतिरेकेण तत्र सकृत्स्नायो-  
 समाहित इति मनुना विशेषाभिधानात् । यत् पुनस्तप्त-  
 कृच्छ्रेषु त्रिषवणस्नानमभिहितं त्रिरन्धि त्रिनिशायान्तु सवा-  
 साजलमाविशेदिति तदशक्तविषयं । यत्पुनर्वैशंपाय-  
 नेन द्वैकालिकं स्नानमुक्तं । स्नानं द्विकालमेव स्यात् त्रिकालं  
 वा द्विजन्मन इति तत्त्रिषवणस्नानाशक्तस्य वेदितव्यं ।  
 यत्पुनर्गाग्येण एकवासाश्चरेद्भैक्ष्यं स्नात्वा वासो न  
 पीडयेत् तदपि शक्तस्यैव एकवासा आर्द्रवासा लघ्वाशी  
 स्थण्डिलेशय इत्येकवस्त्रतया अपि शंखेन पाक्षिकत्वा-  
 भिधानात् । स्नाने च हारीतेनविशेष उक्तः त्र्यवरं शुद्ध-  
 वतीभिः स्नात्वाऽधमर्षणमन्तर्जलेजपित्वाधौतमहतं वासः  
 परिधाय सास्ना सौम्येनादित्यमुपतिष्ठेदिति । स्नानान्तर-  
 च पवित्राणि जपेत् पवित्राणि च अघमर्षणां देवकृतः



शुद्धवत्यस्तरत्समा इत्यादि वशिष्ठादिप्रतिपादिताना—

मन्यतमान्यथा विरुद्धेषु कालेषु जपेत् सावित्रीं वा ॥

सावित्रीं वा जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्ति इति ॥

ऋषिभं विरुजञ्चैव तथा चैवाघमर्षणं ॥

गायत्रीं वा जपेद्देवीं पवित्रां वेदमातरम् ॥ १ ॥

शतमष्टशतं वापि सहस्रमथवा परम् ।

उपांशुमनसा वापि तर्पयेत् पितृदेवताः ॥

मनुष्यांश्चैवभूतानि प्रणम्य शिरसा तत इति ॥

तथा पिराडांश्च प्रत्येकं गायत्र्याचाभिमन्त्रयेत् । यमेनापि विशेष उक्तः ॥ अङ्गुल्यग्रे स्थितं पिराडं गायत्र्याचाभिमन्त्रितम् प्राश्याचम्य पुनः कुर्यादन्यस्याप्यभि मन्त्रणमिति ॥ कृच्छ्राति कृच्छ्रमाह ॥ एक विंशतिरात्रं पयसा वर्त्तनं कृच्छ्राति कृच्छ्राख्यं व्रतं विज्ञेयं गौतमेन तु द्वाशरात्रमुदकेन वर्त्तनं कृच्छ्राति कृच्छ्र इत्युक्तं ॥ अब्रह्म स्तृतीयः स कृच्छ्राति कृच्छ्र इति अतश्च शक्त्यपेक्षया तयोर्व्यवस्था ॥ सम्पूर्णादानाशक्ता वपि अनुकल्पमाह ॥ गवामभावे निष्कं स्यात् तदर्द्धं पादमेव च इति स्मरणात् मूल्यदानस्याप्यशक्तौ तावन्तो वोपवासाः कार्याः तत्राप्यशक्तौ गायत्रीजपः षट् त्रिंशलक्षसंख्यकः कार्यः ॥ कृच्छ्रे युतन्तु गायत्र्या उपवासास्तथैव च । धेनुप्रदानं विप्राय सममेतच्चतुष्टयमिति । यत्तु चतुर्विंशति मतेऽभिहितं ॥

गायत्र्या स्तु जपन् कोटिं ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥

लक्षाशीतिं जपेद्यस्तु सुरापानाद्विमुच्यते ॥ १ ॥

पुनाति हेमहर्तारं गायत्र्या लक्षसप्ततिः ॥

गायत्र्याः पंष्टिभिर्लक्षैर्मुच्यते गुरुतल्पग इति ॥ ॥

द्वादशवार्षिकतुल्यविधानतयोक्तं न पुनरशक्तविषयमिति न दोषः ॥ एवमन्येऽपि ॥

कृच्छ्रोदेव्यायुतञ्चैव प्राणायामशतद्वयम् ॥

तिलहोम सहस्रन्तुवेदपारायणं तथेत्यादयः

प्रत्याम्नाया श्रतुर्विंशति मतादिशास्त्राभिहिताः ॥

षष्ठ्यधिक त्रिशत गुणित महापातकेषु बोद्धव्याः ॥

अति पातकेषु सप्तत्यधिक शतद्वयं प्राजापत्यानां कर्त्तव्यं तावन्तो वा धेन्यादयः प्रत्याम्नायाः पातकेषु साशीतिशतं प्राजापत्याः प्रत्याम्नायाः धेन्यादयः स्तावन्त एव वा तथा चतुर्विंशति मतेऽभिहिते जन्मप्रभृतिपापानिवहूनिविविधानि च । कृत्वा वाग्व्रतान्त्यायाः पञ्चद्वयं व्रत माचरेत् ॥ प्रत्याम्नाये गवां देयं साशीतिपानिनाशतं तथाष्टादशलक्षानि गायत्र्या वा जपेद्बुधा ॥ इति ॥

इदमेव च द्वादशवार्षिके व्रते द्वादशदिनै रेकैकप्राजापत्यं कल्पनायां लिङ्गं । एवमुपपातकेषु त्रैवार्षिकप्रायश्चित्तविषयभूतेषु नवति प्राजापत्या स्तावन्तो धेन्यादयः प्रत्याम्नायाः त्रैमासिकविषयेषु पुनः साशीतसप्त प्राजापत्याः प्रत्याम्नायाश्च धेनूदवास्तादयः स्तावन्त एव ॥

मासिकव्रत विषयेषु सार्धप्राजापत्यद्वयं तावानेव प्रत्याम्नाय इचान्द्रायणविषयभूतेषु पुनरुपपातकेषु प्राजापत्यत्रयं ॥ तद्वशक्तस्य प्रत्याम्नाय स्तावानेव यत् पुनश्चतु-



विंशतिमतेऽभिहितं ॥ अष्टौचान्द्रायणे देया प्रत्याम्नायविधौ  
 सदेति तदपि धनिनः पिपीलिकामध्यादि चान्द्रायणप्रत्या  
 म्नाय विषयं । मासातिकृच्छ्रविषय भूतेषु पुनरुपपातकेषु सार्द्ध-  
 सप्तप्राजापत्याम्नायाश्च धेन्वादयस्तावन्त एव ॥ प्राजापत्ये  
 तु गामेकां दद्यात् सान्तपने द्वयं । पराकतप्तकृच्छ्रातिकृच्छ्रे  
 तिस्रस्तु गास्तथेति चतुर्विंशतिमतेऽभिधानात् ॥ एतच्चैकैकं  
 ग्रासमश्नीयादित्यामलकपरिमितैकैकग्रासपक्षे वेदितव्यं  
 पाणि पूरान्न भोजन पक्षे पुनर्धेनुद्वयमेव प्राजापत्यस्य षडुप-  
 वास तुल्यत्वात् द्विगुणात्वाच्चातिकृच्छ्रस्य यद्यपि नवसुदिवसे-  
 पुपाणि पूरान्नं भोजनं तथापिनैरन्तर्येण द्वादशदिवसानुष्ठा-  
 नेऽप्येति शयः षडहोपवाससमानप्राजापत्यद्वयतुल्यमेव  
 प्राजापत्यस्य षडुपवासतुल्यत्वंयुक्तमेव ॥ तथाहि प्रथमेऽत्र्यहे  
 सायन्तनभोजनत्रयनिवृत्तावेकोपवाससंपत्तिः द्वितीयेऽत्र्यहे  
 प्रातःकाल भोजनत्रयवर्जने परस्य तथा अयाचितत्र्यहेऽ  
 पि सायन्तनभोजनत्रयवर्जनेऽन्यस्येत्येवं नवभिर्दिनैरुपवास-  
 त्रयं । ततश्चान्त्यत्र्यहोपवास त्रयमिति युक्तं षडुपवास तुल्यत्वं ॥  
 ऋषभैकादशगोदानसहित त्रिरात्रोपवासात्मकगोवधव्रते  
 तु सार्द्धैकादशप्राजापत्यास्तावत् संख्यकाश्चोपवासादया  
 प्रत्याम्नायाः । मासपयोव्रते तु सार्द्धप्राजापत्यद्वयम् ॥  
 पराकात्मके तूपपातक व्रते प्राजापत्यत्रयं पराकतप्तातिकृ-  
 च्छ्रस्थाने कृच्छ्रत्रयं चरेत् ॥ सान्तपनस्य चाप्यर्द्धमशक्तौ  
 व्रतमाचरेदिति । षट् त्रिंशन्मतेऽभिधानात् । चान्द्रायणपराक-  
 कृच्छ्रातिकृच्छ्रास्तु प्राजापत्यत्रयात्मकंद्वादशवर्षिकं व्रतं

स्थाने विंशत्युत्तरशतसंख्या अनुष्ठेयाः तत् प्रत्यान्मायास्तु  
धेन्वादयस्त्रिगुणाः चतुर्विंशतिमतेऽभिहितमिति ॥

विप्राद्वादश वा भोज्याः पावकेष्टि स्तथैव च ॥

अन्या वा पावनी काचित् समान्यादुर्मनीषिणः ॥ इति ॥  
प्राजापत्यस्थाने द्वादशानां विप्राणां भोजनमुक्तं तन्निर्द्धन-  
विषयं ॥ इति मिताक्षरा धृतवचनमुक्तं ॥

अथ विश्वेश्वर पद्धतौ मतमाह ।

कुच्छ्रा युतन्तु गायत्र्या द्वादशविप्रभोजनम् ॥

तिलहोमसहस्रं च वेदाध्ययनमेव च ॥

विप्राद्वादश वा भोज्याः पावकेष्टिस्तथैव च ॥ इति

तप्तकुच्छ्रन्तु प्राजापत्य द्वयं प्रात्याम्नायकल्पं ॥

ततोऽनन्तरं द्वितीयं नित्यपञ्चयज्ञाद्यभावजन्य प्राय-  
श्चित्तं कर्तव्यमाह । पुनः स्नात्वा आर्द्रवासाः सन् आचम्य  
जलमादाय मासाद्युल्लिख्य ममोपनयनदिवसादारभ्य  
अद्यदिनपर्यन्तं नित्यपञ्चमहायज्ञाद्यभावजन्यपापनि-  
राशार्थं प्रति संवत्सरे एकैकप्राजापत्यं कृत्वा इयत् संख्य-  
क प्राजापत्यव्रतानु कल्पधेनु तत्तमूल्य दानरूपं वा प्रायश्चित्तं  
कर्तव्यमेव ॥ इति संकल्प्यम् ॥ तृतीयं प्रायश्चित्तान्तु । संन्यास  
निमित्तरथं गृहाश्रमिणां एकतप्त कुच्छ्रव्रतं प्रायश्चित्तं कर्तव्यं  
अनाश्रमि<sup>ण</sup>स्तु चतुः कुच्छ्रव्रतं कर्तव्यमेवेति ॥ तत् प्रमाण-  
माह कात्यायनः ॥

कुच्छ्रां स्तु चतुरः कृत्वा पावनार्थमनाश्रमी ॥

आश्रमी चेत्तप्त कुच्छ्रं तेनासौ योग्यतां व्रजेत् ॥ इति ॥



मुख्यकल्पे समर्थेन चानुकल्पो न स्वी कर्त्तव्यः । तथाचमनु॥  
 प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्त्तते । न सांपर्यिकतस्य  
 दुर्मतेर्विद्यते फलमिति ॥ ब्रह्मानन्दीयपद्धत्यनुसृत्य प्रयोगमात्र  
 मुच्यते । संन्यासयोग्यतासिद्ध्यर्थं चतुः कृच्छ्रात्मकं  
 प्रायश्चित्तं प्रति कृच्छ्रमेकैकं धेनुनिष्कयद्रव्यद्वारा प्रायश्चित्तं  
 कर्त्तव्यमिति ॥ उक्तं पुरश्चरणमादौ कृत्वा शुद्धेन कायेनाष्टौ  
 श्राद्धानि निर्व्वपेदिति

संन्यासे योग्यता सिद्ध्यर्थं आश्रमिणां एकतप्त कृच्छ्र  
 व्रतानु कल्प एकधेनुः किम्वा तत् मूल्य दानरूपं प्रायश्चित्तं  
 करणीयमिति ॥ अनाश्रमिणान्तु विशेषमाह ॥

संन्यासे योग्यता सिद्ध्यर्थं चतुः कृच्छ्रात्मकं प्रति कृच्छ्र  
 मेकैकधेनु तत् मूल्यं वा निष्कं द्वादश कार्ष्णपणीलभ्य रजत  
 खण्डदानरूपप्रायश्चित्तमहं करिष्ये इति संकल्प्य ॥

ततो गवामङ्गेषु तिष्ठन्ति भुवनानि चतुर्दश ।

यस्मात् तस्मात् शिवं मे स्यात् इहलोके परत्रचेति ॥

इमं मन्त्रं पठेत् ॥ ततो दक्षिणोत् सर्गं कुर्यात् ॥

ततः पुनः स्नात्वा घौतवस्त्रादिकं परिधाय चम्य पूर्व्वोक्तं  
 मग्नौ पुनः प्रायश्चित्तहोमं कृत्वा अग्निं विसृज्य दक्षिणोत्-  
 सर्गमग्निद्रावधारणं नामोच्चारणादिकञ्च विधाय पञ्चगव्यं  
 पिबेदिति एतत् प्रायश्चित्तत्रयं कर्मसंन्यासयोग्यतां  
 करोतीति । ततो गुर्व्वाज्ञया प्रायश्चित्तधनं ब्राह्मणेभ्यो  
 दद्यात् ॥ इति प्रायश्चित्तकर्म समाप्तम् ॥

अथेदानीं संन्यास विधि निरूपणमाह नारदपरि-

ब्राजकोपनिषदि । अथनारदः पितामहं संन्यासविधिं  
नो ब्रूहीति पप्रच्छ । पितामहस्तथेत्यङ्गीकृत्या तुरे वा क्रमेवा-  
पि तुरीयाश्रमस्वीकारार्थं कृच्छ्रं प्रायश्चित्तपूर्वकमष्ट-  
श्राद्धं कुर्यात् । श्राद्धदेवता विशेषेणाह । नारद परिव्राज-  
के ॥ देवर्षिं दिव्य मनुष्य भूत पितृ मात्रात्मात्मेत्यष्ट-  
श्राद्धानि कुर्यात् । प्रथमं सत्यवसु संज्ञकान् विश्वान् देवान्  
देवश्राद्धे ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान् ॥ १ ॥ ऋषिश्राद्धे देवर्षिं  
क्षत्रियर्षिं मनुष्यर्षीन् ॥ २ ॥ दिव्यश्राद्धे वसु रुद्रादित्य-  
रूपान् ॥ ३ ॥ मनुष्यश्राद्धे सनकसनन्दनसनत् कुमार-  
सनत्सुजातान् ॥ ४ ॥ भूतश्राद्धे पृथिव्यादि पञ्चमहा-  
भूतानि चक्षुरादि करणानि चतुर्विधभूतग्रामान् ॥ ५ ॥  
पितृश्राद्धे पितृपितामहप्रपितामहान् ॥ ६ ॥ मातृश्राद्धे  
मातृपितामहीप्रपितामहीः ॥ ७ ॥ आत्मश्राद्धे आत्म-  
पितृ पितामहान् ॥ ८ ॥ जीवत्पितृकश्चेत् पितरं  
त्यक्त्वा आत्मपितामहप्रपितामहानिति ॥ सर्वत्र युग्म-  
कृत्या ब्राह्मणानर्चयेदेकाध्वरपक्षे अष्टाध्वरपक्षे वा  
स्वशाखानुगतमन्त्रैरष्टश्राद्धान्यष्टदिवसे वा एकदिने वा  
पितृयागोक्तविधानेन ब्राह्मणानभ्यर्च्यमुत्तयन्तं यथा-  
विधि निर्व्वर्च्य पिण्ड प्रदानानि निर्व्वर्च्य दक्षिणा  
ताम्बूलैः स्तोषयित्वा ब्राह्मणान् प्रेषयित्वा शेष कर्म सिद्धयर्थं  
सप्तकेशान् विसृज्य शेषकर्मसिद्धयर्थं केशान् सप्ताष्ट वा  
द्विजः संक्षिप्य वापयेत् ॥ इति ॥



॥ श्रीशिवमहापुराणे कैलाश संहिताया मुत्तरभागे ॥

अष्टमाऽध्याये सन्यासकर्त्तव्यविधये अष्टश्राद्धं  
कर्त्तव्यं दर्शयति ॥

गुरुमाहूय विधिना नान्दीश्राद्धं समारभेत् ॥

विश्वेदेवाः सत्यवसु संज्ञावन्तः प्रकीर्त्तिताः ॥ १ ॥

देवश्राद्धे ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः कथिता स्त्रयः ॥

ऋषिश्राद्धे तु संप्रोक्ता देवक्षत्रमनुष्यजाः ॥ २ ॥

दिव्यश्राद्धे तु वसुरुद्रादित्याः संप्रकीर्त्तिताः ॥

चत्वारोमानुष श्राद्धे सनकाद्यामुनीश्वराः ॥ ३ ॥

भूतश्राद्धे पञ्चमहाभूतानि च ततः परम् ॥

चक्षुरादीन्द्रियग्रामो भूतग्रामश्चतुर्विधः ॥ ४ ॥

पितृश्राद्धे पिता तस्यपिता तस्यपिता त्रयः ॥

मातृश्राद्धे मातृपितामहौ च प्रपितामही ॥ ५ ॥

आत्मश्राद्धे तु चत्वार आत्मा पितृपितामहौ ॥

प्रपितामहनामा च सपत्नीकाः प्रकीर्त्तिताः ॥ ६ ॥

मातामहात्मकश्राद्धे त्रयो मातामहादयः ॥

प्रतिश्राद्धे ब्राह्मणानां युगम् कृत्वोपकल्पितान् ॥ ७ ॥

आहूयपादौ प्रक्षाल्य स्वयमाचम्य यत्नतः ॥ ८ ॥

समस्त संपत्समवाप्तिहेतवः समुत्थितापत्कुलधूमकेतवः ॥

अपार संसार समुद्र सेतवः पुनन्तुमांब्राह्मणपादपांशवः ॥ ९ ॥

आपद्रुधनध्वान्त सहस्रभानवः स<sup>श्री</sup>मुहितार्था पणकामधेनवः

समस्ततीर्थाम्बुपवित्र मूर्त्तयो रक्षन्तुमांब्राह्मणपादपांशवः ॥ १० ॥

इति जपानमस्कृत्य साष्टाङ्गं भुविदण्डवत् ॥

स्थित्वाथ प्रांमुखः शम्भोः पादाब्जयुगलं स्मरन् ॥ ११ ॥  
 सपवित्रकरः शुद्ध उपवीती दृढासनः ॥  
 प्राणायामत्रयं कृत्वा श्रुत्वा तीर्थादिकं पुनः ॥ १२ ॥  
 मत्सन्न्यासाङ्गं भूतं यद्वैश्वदेवादिकं क्रमात् ॥  
 श्राद्धमष्टविधं मातामहान्तं पार्वण्येन वै ॥ १३ ॥  
 विधानेन करिष्यामि युष्मदाङ्गा पुरः सरम् ॥  
 एवं विधाय संकल्पं दर्भानुत्तरतस्त्यजेत् ॥ १४ ॥  
 उपस्पृश्याथ उत्थाय वरणाक्रममारभेत् ॥  
 पवित्रपाणिः संस्पृश्य पाणिं ब्राह्मणायो वदेत् ॥ १५ ॥  
 विश्वेदेवार्थं इत्यादि भवद्भ्यांक्षणा इत्यपि ॥  
 प्रसादनीय इत्यन्तं सर्वत्रैवं विधिक्रमः ॥ १६ ॥  
 एवं समाप्य वरणां मण्डलानि प्रकल्पयेत् ॥  
 उदगारभ्य दश च कृत्वाभ्यर्चनमक्षतैः ॥ १७ ॥  
 तेषु क्रमेण संस्थाप्य ब्राह्मणान् पादयोः पुनः ॥  
 विश्वेदेवस्वरूपस्य ब्राह्मणस्येदमासनम् ॥ १८ ॥  
 इति दर्भासनं दत्वा दर्भपाणिः स्वयं स्थितः ॥  
 अस्मिन्नान्दीमुखश्चाद्धे विश्वेदेवार्थं इत्यपि ॥ १९ ॥  
 भवद्भ्यां क्षणा इत्युक्त्वा क्रियतामिति संवदेत् ॥  
 प्राप्नुतामिति सं प्रोच्य भवन्ताविति संवदेत् ॥ २० ॥  
 देवतां प्राप्नवावेति तौ च ब्राह्मणपुङ्गवौ ॥  
 संपूर्णमस्तु संकल्प सिद्धिरस्त्विति तान् प्रति ॥ २१ ॥  
 भवन्तोऽनुगृह्यन् त्विति प्रार्थयेद्द्विजपुङ्गवान् ॥  
 ततःशुद्ध कदल्यादि पात्रेषुक्षालितेषु च ॥ २२ ॥



अन्नादि भोज्य द्रव्याणि दत्त्वा दध्नेः पृथक् पृथक् ॥  
 परिस्तीर्य स्वयं तत्र परिषिष्योदकेन च ॥ २३ ॥  
 हस्ताभ्यामवलंब्यार्घ्यं पात्रं प्रत्येकमादरात् ॥  
 पृथिवितं पात्रमित्यादि कृत्वा तत्र व्यवस्थितान् ॥ २४ ॥  
 देवादींश्च चतुर्थ्यन्तान नूद्याक्षत संयुतम् ॥  
 उदं गृहीत्वा स्वाहेति देवायान्नं त्यजेत् पुनः ॥ २५ ॥  
 नममेति वदेदन्ते सर्वत्रायं विधिक्रमः ॥  
 यत् पादपद्म स्मरणादूयच्छीनाम जपादपि ॥ २६ ॥  
 न्यूनं कर्म भवेत् पूर्णं तं वन्दे साम्बमीश्वरम् ॥  
 इति जप्त्वा ततो ब्रूयान्मया कृतमिदं पुनः ॥ २७ ॥  
 नान्दीमुख श्राद्धमिति यथोक्तञ्च वदेत्ततः ॥  
 अस्त्विति ब्रूतेति च तान् प्रसाद्य द्विजपुङ्गवान् ॥ २८ ॥  
 विसृज्य स्वकरस्थोदं प्रणम्य भुविदण्डवत् ॥  
 उत्थाय च ततो ब्रूयाद् मृतंभवतु द्विजान् ॥ २९ ॥  
 श्रीरुद्रं चमकं सूक्तं पौरुषञ्च यथा विधि ॥  
 चित्ते सदाशिवं ध्यात्वा जपेद् ब्रह्माणि पञ्च च ॥ ३० ॥  
 भोजनान्ते रुद्रसूक्तं समाप्य द्विजान् पुनः ॥  
 तन्मन्त्रेण ततो दद्यादुत्तरापोशनं पुनः ॥ ३१ ॥  
 प्रक्षालिताङ्घ्रिराचम्य पिण्डं स्थानं ब्रजेत् स्वयम् ॥  
 आसीनो वाङ्मुखोमौनी प्राणायामत्रयं चरेत् ॥ ३२ ॥  
 नान्दी मुखोक्त श्राद्धाङ्गं करिष्ये पिण्डदानकम् ॥  
 नवरेखाः समालिख्य प्रागग्राह्यद्व्यंशः क्रमात् ॥ ३३ ॥  
 इति संकल्प्य दक्षादि समारंभ्योदगन्तकम् ॥

सुस्तीर्य दर्भान् दक्षादि देवादिस्थानपञ्चके ॥ ३४ ॥  
 तूष्णीं दद्यात् साक्षतोदं त्रिषु स्थानेषु च क्रमात् ॥  
 स्थानेष्वन्येषु मातृषु माजीर्यन्तां ततः परम् ॥ ३५ ॥  
 अत्रेति पितरः पश्चात् साक्षतोदं समर्प्य च ॥  
 दद्यात्ततः क्रमेणैव देवादिस्थान पञ्चके ॥ ३६ ॥  
 तत्तदेवादि नामानि चतुर्थ्यन्तान्युदीर्य च ॥  
 पिण्डवर्यं ततो दद्यात् प्रत्येकं स्थानपञ्चके ॥  
 तूष्णीं दद्याद् साक्षतोदं पित्रादि स्थानपञ्चके ॥  
 स्वगृह्योक्तेन मार्गेण दद्यात् पिण्डान् पृथक् पृथक् ॥ ३७ ॥  
 दद्यादुदं साक्षतञ्च ततः साद्गुरयहेतवे ॥  
 ध्यात्वा सदाशिवं देवं हृदयाभोजमध्यतः ॥ ३८ ॥  
 यत् पादपद्मस्मरणादिति श्लोकं पठेत् पुनः ॥  
 नमस्कृत्य ब्राह्मणेभ्योदक्षिणाञ्च स्वशक्तिः ॥ ४० ॥  
 दत्त्वा क्षमापय्य च तान् विसृज्य च ततः क्रमात् ॥  
 पिण्डानुत्सृज्य गोम्रासं दद्यान्नो चेज्जलेक्षिपेत् ॥ ४१ ॥  
 पुण्याहवाचनं कृत्वा भुञ्जीयादुचितैः सह ॥  
 अन्येषुः प्रातरुत्थाय कृतनित्यक्रियः सुधीः ॥ ४२ ॥

इति श्री शिव पुराणे श्राद्धविध्युक्तं ।

आत्मपुराणे एकादशाध्याये संन्यासग्रहणात् पूर्वं दिवसे  
 मङ्गलैर्युतैः नान्दीमुख विधानेन श्राद्धं कर्तव्यमाह ॥  
 विधानं तत्र वक्ष्यामि परहंसाश्रमग्रहे ॥  
 संन्यास ग्रहणात् पूर्वं दिवसे मङ्गलैर्युतः ॥ १ ॥  
 विवाहादौ यथा श्राद्धं कुर्यान् नान्दीमुखं तथा ॥



सत्याश्च वसव स्तद्वद्विश्वेदेवा इहेरिताः ॥ २ ॥  
 आद्धाष्टकं भवेदत्र नवमं वैश्वदेवकम् ॥  
 मातुर्मातामहानाश्च विभेदाद्विशमं पुनः ॥ ३ ॥  
 केचिदाहुः परेतैक्यं मुनयः प्रवदन्त्यपि ॥  
 अनयोस्तु कुलाचाराद्भेदाभेदौ व्यवस्थितौ ॥ ४ ॥  
 भेदेक्रमोऽयं विज्ञेयो ह्यनयोः आद्धयोः सदा ॥  
 माता पितामही तद्वत्तृतीया प्रपितामही ॥ ५ ॥  
 मातुः आद्धे वदन्त्येके केचिन्मात्रा समन्विते ॥  
 मातामही तृतीया च प्रकृष्टा साचते उभे ॥ ६ ॥  
 आद्धे मातामहे व्याहुः पुरुषां स्त्रीन् महाधियः ॥  
 मातामहो द्वितीयः स्यात् प्रमातामहक स्तथा ॥ ७ ॥  
 तृतीयश्च तथा वृद्धप्रमातामहकः स्मृतः ॥  
 इति भेदे समुद्दिष्टं त्रिकं आद्धद्वयेऽपि हि ॥ ८ ॥  
 मातृ मातामहश्चाद्धे यदा द्वैधं न विद्यते ॥  
 तदापि त्रिकभेदः स्यात् कुलाचारस्य भेदतः ॥ ९ ॥  
 मातापितामही तद्वत्तृतीया प्रपितामही ॥  
 एवमेके त्रिकं प्राहुरन्य एवं वदन्ति च ॥ १० ॥  
 माता मातामह स्तद्वत् प्रमातामहकोऽपरः ॥  
 कुलाचारोऽत्र सर्वत्र प्रमाणं कीर्तितो द्विजैः ॥ ११ ॥  
 मातापितामहीत्यादि मातृश्चाद्धे त्रिकं भवेत् ॥  
 कुलाचारानभिज्ञात्वावहुलं तद्व्यतो जने ॥ १२ ॥  
 ब्रह्माविष्णु र्महेशश्च देवश्चाद्धे त्रयं स्मृतम् ॥  
 देवक्षत्रमनुष्याश्च ऋषिभाद्धे मुनीश्वराः ॥ १३ ॥

वसुरुद्रादित्यसंज्ञा दिव्यश्राद्धे प्रकीर्तिताः ॥  
 सनकसनन्दनसनत्कुमाराः मानुषेऽपि च ॥ १४ ॥  
 पृथिव्यादिमहाभूत पञ्चकं नयनादिकः ॥  
 तथैव करुणग्रामः स्वेदजादि चतुष्टयम् ॥ १५ ॥  
 भूतश्राद्धे त्रिकं प्रोक्त मेतद्देवतया सदा ॥  
 पितापितामह स्तद्वत्तृतीयः प्रपितामहः ॥ १६ ॥  
 पितृश्राद्धे पि संप्रोक्तमत्रेदं देवतात्रयम् ॥  
 मातापितामहीत्यादि मातृश्राद्धे पुरेरितिम् ॥ १७ ॥  
 दशमन्तु यदाश्राद्धं पृथङ्मातामहोदितम् ॥  
 मातृश्राद्धात् परस्तात् स्यान्नतु पूर्वं कदाचन ॥ १८ ॥  
 सर्वान्ते त्वात्मनः श्राद्धं कुर्यात् श्रद्धासमवन्वितः ॥  
 आत्मनो यस्य यन्नाम तन्नाम परिगृह्य हि ॥ १९ ॥  
 अनन्तरं पितुः स्वस्य पश्चात् पैतामहन्तथा ॥  
 वैश्वदेवं पुरः कृत्वा श्राद्धं देवादिकं क्रमात् ॥ २० ॥  
 अष्टकं नवकं वापि कुर्याच्छ्रद्धा समन्वितः ॥  
 श्राद्धाष्टकेन पिण्डाः स्युश्चतुर्विंशति संख्यकाः ॥ २१ ॥  
 सप्तविंशतिसंख्याः स्युर्नवकं तु यदा भवेत् ॥  
 यावन्त्प्रोद्देवताः श्राद्धे विश्वेदेवविवर्जिताः ॥ २२ ॥  
 तावन्तोऽत्र प्रदातव्याः पिण्डाब्राह्मणसन्निधौ ॥  
 दधिलाजाक्षता स्तद्वत् कुवलानि मधूनिच ॥ २३ ॥  
 दुर्वादिमङ्गलद्रव्यं पिण्डान्ते संचिपेत् पुमान् ॥  
 पिण्डान्ते मधुरंभूरि कुर्यान्नान्दीमुखे सदा ॥ २४ ॥  
 युग्मांश्च भोजयेद्विप्रान् सर्वदैवाप्रमादवान् ॥



अष्टादशैव विप्राः स्युर्विंशतिर्वात्र सर्व्वदा ॥ २५ ॥  
 ततोऽन्यूनाधिकान् स्युःश्राद्धे नान्दीमुखेत्र हि ॥  
 विभवे सति विप्रेभ्यो दुकूलवल्यादिकम् ॥ २६ ॥  
 छत्रोपानत् प्रभृत्य न्यत् स्वशक्त्यापरिवेदयेत् ॥  
 अतिश्रीमान् यदा कर्त्ता तदाभूमि गृहादिकम् ॥ २७ ॥  
 सर्व्वोपकरणैर्युक्तं दद्यादारिद्र्य नाशनम् ॥  
 ब्राह्मणेषु तु भुक्तेषु पिण्डदानादनन्तरम् ॥ २८ ॥  
 दक्षिणासु च दत्तासु त्यक्तोच्छिष्टं ततोऽधनी ॥  
 यथा शक्तिं प्रकुर्व्वीत ह्यन्नदानमनेकधा ॥ २९ ॥  
 अन्यान्यपि च दानानि कुर्यात् स विभवे सति ॥  
 स्वगृहोक्तप्रकारेण श्राद्धं कुर्याद्विचक्षणः ३० ॥  
 नान्दीमुखं हि देवादेः पितृवच्चाविचारयन् ॥  
 एतस्मिन् दिवसे ह्येतत् कृत्वा निर्वृतिमागतः ॥ ३१ ॥  
 स्वजनैः सह संभाष्य दारादिसहितैरपि ॥  
 दायं दत्त्वा च पुत्राणां होमार्थं किञ्चिदेव हि ॥  
 संस्थाप्य द्रव्यमात्मीयं कौपीनाच्छादनानि च ॥ ३२ ॥  
 ( इति आत्मपुराणे सन्यासनिमित्त्यर्थं श्राद्धं समाप्तम् )  
 विश्वेश्वरोद्धृतं वचनं स्मर्य्यते । श्राद्धविषयम् ॥ उक्तं  
 पुरश्चणमादौ कृत्वा शुद्धेन कायेनाद्यौ श्राद्धानि निर्व्व-  
 पेदिति ॥ अत्रिः ॥  
 दैवमार्थं ततो दिव्यं मानुष्यं भौतिकं तथा ॥  
 पितृणां मातृणाञ्चैव मात्मनो वृद्धिमत् पराम् ॥ १ ॥  
 ॥ शौनकाः ॥ दैवञ्चैवार्थिकञ्चैव दिव्यं मानुष्यमेव वा ॥

भूतश्राद्धं पितृश्राद्धं मातृणामात्मन स्तथा ॥ २ ॥

एकैकस्मिन् दिने कुर्यादेकैकं श्राद्धमर्थवित् ॥

नान्दीमुखविधानेन विधिरेषां प्रकीर्तितः ॥ ३ ॥

( स एव देवादि श्राद्धेषु देवतामाह )

वसवोऽष्टौस्मृता स्तत्र रुद्र एकादशापि वा ॥

तथैव द्वादशादित्यो देवश्राद्धेषु देवताः ॥ ४ ॥

मरीचिरज्यङ्गिरसौ पुलस्तः पुलहः क्रतुः ॥

प्रचेताश्च वसिष्ठ श्रार्षेषु भृगुनारदौ ॥ ५ ॥

दिव्ये हिरण्यगर्भश्च वैराजपतिरेव च ॥

सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः ॥ ६ ॥

कपिलश्चासुरिश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा ॥

एतेमानुष्यके श्राद्धे मनुष्यांसप्तदेवताः ॥ ७ ॥

पृथिव्याप स्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ॥

एतानि पञ्चभूतानि भूतश्राद्धे तु देवताः ॥ ८ ॥

पितृ श्राद्धे कन्यवाडानलसोमोऽर्प्यमा तथा ॥

अग्निष्वत्ता वह्निषदः सोमपाश्चैव देवताः ॥ ९ ॥

गौरीपद्माशचीमेघा सावित्री विजयाजया ।

देवसेना स्वधास्वाहा मातृश्राद्धेषु देवताः ॥

आत्मश्राद्धे देवता तु परमात्माप्रकीर्तितः । इति ॥ १० ॥

॥ विश्वेश्वरमते श्राद्धदेवता उक्ताः ॥

( अत्रिः ) कर्त्तानिरग्निश्चेत् लौकिकाग्नौ तदा कुर्यात्  
श्राद्धार्थी पचनादिकं पूर्वेषुस्तदहर्वापि श्राद्धे विप्रान्निमन्त्र-  
येत् ॥ कृत्वा तु संस्कृतं पाकं हविष्यस्वादुभोजनम् ।



हृदियज्ञेश्वरं ध्यायेदेवं नारायणं प्रभुम् ॥ ११ ॥  
 आरभेत् सर्वकर्मणि स्नानादीनि विधानतः ॥  
 तर्पयेदम्भसास्नात्वा मन्त्रपूर्वद्विजोत्तमः ॥ १२ ॥  
 देवानृषीन्मनुष्यांश्च भूतानि च यथा क्रमम् ॥  
 तर्पयित्वा म्भसा सर्वांश्च पुनः श्राद्धेन तर्पयेत् ॥ १३ ॥  
 पार्वणाञ्च तथा वृद्ध्याश्राद्धं कुर्याद्यथाविधिं ॥  
 दत्त्वा नान्दीमुखेभ्यश्च पिण्डानक्षतसंयुतान् ॥ १४ ॥  
 श्राद्धदेवान्नमस्कृत्य यथोक्त श्रुतिसाधनात् ।  
 तत्राष्टसु क्रमाद्देवा वसवोऽथ प्रजापतिः ॥ १५ ॥  
 हिरण्यगर्भोऽथ विण्डात्मा देवेसमुख्यतः ॥  
 आर्षेमरीचि प्रमुखा दिव्ये च विनतात्मजाः ॥ १६ ॥  
 स्कन्दः प्रजेशस्तत्रात्मा मानुषे सनकादयः ॥  
 कव्यवाहमुखाः पित्रे मात्रिके दिव्यमातरः ॥ १७ ॥  
 युग्माः स्युर्देव पूर्वेषु ब्राह्मणौ देववद्विधिः ।  
 एकैको मन्त्रवत्पिण्डो दीयस्तुष्णीमथापरः ॥ १८ ॥  
 सर्वमन्त्रेषु कर्तव्यं नान्दीमुखविशेषणम् ॥  
 उत्थाय च ततो विद्वान् हृष्टपुष्टेन चेतसा ॥ १९ ॥  
 प्रदक्षिणं ततः कृत्वा नमस्कृत्य द्विजोत्तमान् ॥  
 क्षन्तव्यामिति तान् ब्रूयात् प्रणम्य शिरसा ततः ॥ २० ॥  
 सन्त्यासार्थं मया श्राद्धं कृतमेतद्द्विजोत्तमाः ॥  
 अनुज्ञां प्राप्य युष्माकं सिद्धिं यास्यामि शाश्वतीम् ॥ २१ ॥  
 ( दत्तात्रेयोऽपि ) देवर्षिमानुष्यं भूतं पितृमातृस्वयं भुवम् ॥  
 श्राद्धं परात्मनः कृत्वा वृद्धौ चापि चतुष्टयम् ॥ २२ ॥

ततः परेद्युःपुण्याहवाचनपूर्वकं वपनं कुर्यात् ॥  
( तथापि शौनकप्रभृतीनां विश्वेश्वरपद्धतौ मतमुक्तं )  
निर्णयसिन्धौ धर्मसिन्धौ च मतं श्राद्धविधिं दर्शयति ॥

॥ वौधायनः ॥

कृत्वा श्राद्धानि सर्वाणि पित्रादिभ्योऽष्टकं पृथक् ॥  
वापयित्वा च केशादीन् मार्जयेन्मातृकादयः ॥ इति ॥ २३ ॥  
सर्वाणीति स्वस्य नवश्राद्ध षोडशश्राद्धादि कृत्वेत्यर्थः ॥  
स्मृत्यर्थसारेपि एकोद्विष्टविधानेन कुर्याच्छ्राद्धानि षोडश  
अग्निमान् पार्वणेनैव विधिना निर्व्वपेत् स्वयमिति ॥ २४ ॥  
वौधायनमतं स्मर्यते सदैव मार्षकं दिव्यं पित्र्यं मातृकमानुषे ॥  
भौतिकश्चात्मनश्चान्ते अष्टौ श्राद्धानि निर्व्वपेत् ॥ २५ ॥

अत्रक्रममाह हेमाद्रौ शौनकश्च ॥

देवश्राद्धे ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा देवताः आर्षे देवर्षि ब्रह्म-  
र्षि चतुर्वर्षयः । देवर्षि चतुर्वर्षि मनुष्यर्षयो वा ॥ मरीच्यादि  
ऋषय इति संन्यास पद्धतौ तच्चिन्त्यं । दिव्ये वसुरुद्रादित्याः  
मानुषे सनक सनन्दनसनातनाः । भूतश्राद्धे पृथिव्यादि  
पञ्च भूतानि चक्षुरादिकरणानि चतुर्विधो भूतग्रामश्चेति  
त्रयः पित्र्ये पित्रादित्रयो मातामहाश्च । मातृके मात्रा-  
दय स्तिस्रः । आत्मश्राद्धे आत्मपितृ पितामहा देवताः ॥

आत्मश्राद्धे आत्मान्तरात्मपरमात्मदैवत्यमिति  
संन्यास पद्धतौ तच्चिन्त्यं ॥ सर्वत्र नान्दीमुखत्वं  
विशेषणं ज्ञेयं ॥ सर्वत्र पिण्डदानं युग्मा विद्याः ॥ दक्षकतू  
सत्त्ववसु विश्वेदेवौ । अन्यन्नान्दी श्राद्ध वदिति हेमाद्रिः ॥



स्मृत्यर्थसारे पीत्युक्तम् । अत्र यतिधर्म प्रकाश समुच्चये  
 यन्निर्दिष्टं तत् निर्णय सिन्धावपि मतं द्रष्टव्यमिति श्राद्ध-  
 विषयं पृथक्न आलोचनीयमिति ॥ अत्रि शैनक हेमाद्रि-  
 बौधायनप्रभृतीनां मते नान्दीमुखविधानेन श्राद्धं कुर्यात्  
 इत्युक्तं तत् विश्वेश्वरपद्धता वुक्तं एकैको मन्त्रवत् पिण्डो-  
 देय स्तुष्णीं तथा परः । सर्वमन्त्रेषु कर्तव्यं नान्दीमुख-  
 विशेषणमिति ॥ अत्र वृद्धि श्राद्धं पृथक् नास्त्येव ॥ अने  
 नैव पदार्थ सिद्धेरिति जैमिनीयन्यायकुशलाः । अत्र  
 कर्ता यदि साग्निक स्तदा स्वाग्नावेव यद्यनग्नि स्तदा  
 लौकिकाग्नावेव पाकं कुर्यात् ॥ तथा च कात्यायनः ॥

औपासनं ह्यावसथ्यं पिष्टादि बीजमेव वा । लौकिका  
 ग्निमितरं वा श्रद्धावान् स यदाभवेदित्यु पक्रम्य तस्मिन्  
 होमं महायज्ञान् कुर्यात् मोक्षादिकर्मच । सन्यासार्थं  
 तथा कुर्यात् पाकयज्ञादिकानपीत्याह ॥ पृष्टोदिवि विधा-  
 नापि कात्यायनेनैवोक्तं परिशिष्टे । अनग्निरिति ग्रामा-  
 दग्निमाहृत्य पृष्टोदिवित्य अधिष्ठाश्याममिति द्वाभ्यामु-  
 पस्थाय त्रिभिश्च सावित्रैः प्रज्वलितां सवितुस्तत् सवितु-  
 र्विशानि देव सवितरिति सावित्री दैवतैर्हुत्वा पाकं पचेदिति  
 लौकिकाग्निमितरं वा इत्यस्य परिसमूहान्नादि संस्कारेणो-  
 त्यादित्यमित्यर्थः ॥

( बौधायनोऽपि ) अनग्निरग्निमुत्पाद्य नित्येन विधिना ततः  
 स्वाग्नावेवाग्निमान् कुर्यादपवर्गोक्त मादित इति ॥ २ ॥  
 अपवर्गोक्तं संन्यासार्थमुक्तपाकहोमादि ॥ आदितः

आरम्भ समये अत्रिरप्याह ॥  
 लौकिकाग्नौ तदा कुर्यात् श्राद्धार्थं पचनादिकम् ॥  
 पूर्वैद्युस्तदहर्वापि श्राद्धे विप्रान् निमन्त्रयेत् ॥ ३ ॥  
 कृत्वा तु संस्कृतं पाकं हविषः स्वादुभोजनम् ॥  
 हृदि यज्ञेश्वरं ध्यायेद्देवं नारायणं प्रभुम् ॥ ४ ॥  
 आरभेत् सर्वकर्मणि स्नानादीनि विधानतः ॥  
 तर्पयेद्भस्मा स्नात्वा मन्त्रपूर्वं द्विजोत्तमः ॥ ५ ॥  
 देवान् ऋषीन् मनुष्यांश्च भूतानि च यथाक्रमम् ॥  
 तर्पयित्वा भस्मा सर्वान् पुनः श्राद्धेन तर्पयेत् ॥ ६ ॥  
 पार्वणाञ्च तथा वृद्ध्याश्राद्धं कुर्याद्यथा विधि ॥  
 दत्त्वा नान्दीमुखेभ्यश्च पिण्डानक्षतसंयुतान् ॥ ७ ॥  
 श्राद्धदेवान् नमस्कुर्व्याद्यथोक्तश्रुतिशासनात् ॥  
 इति श्राद्धानन्तरं कर्तव्यतां दर्शयति ॥ यतिधर्मप्रका-  
 शोक्तं ॥ अथ विदुषां प्रति संन्यासं कर्तुं ब्रह्मानन्दीय  
 पद्धत्यनुसृत्य प्रयोगमात्रमुच्यते ॥

तत्रादौ औपासनाग्निमन्तं यजमानं प्रति तादृशविधुरं प्रति  
 च प्रयोगः । तत्रादौ निस्पृहः सर्वतः शान्त इत्यादिलक्षणै-  
 र्युक्तं भिक्षुं गुरुं संशोध्य तन्निकटे वर्षमेकं परमासं त्रिमासं  
 मासमेकं वा वसन् यतिधर्मान् संवीक्ष्यमाणः सर्वैषणा  
 त्यजन्निषिद्धप्रतिग्रहनिवृत्तो गायत्रीजपरुब्राध्यायजप  
 कुष्माण्डहोमरूपपुरश्चरणादौ कृत्वा गुरोराज्ञाञ्च  
 लब्ध्वा उदगयनादौ प्रशस्तेकाले संन्यासमारभेत ॥ कस्या-  
 ञ्चिद्विक्तायां तिथौ न कर्तव्यं न रिक्ता सर्वकर्मसु



इति वचनात् ॥ ततः संन्यासे योग्यता सिद्ध्यर्थं चतुः-  
 कृच्छ्रात्मकप्रायश्चित्तं प्रति कृच्छ्रमेकैकगोनिष्कय-  
 द्रव्यदानं वा कर्तव्यमेवेति ॥ एकादश्यां द्वादश्यां वा  
 ब्रह्मरात्रिर्यदा भवति तथा श्राद्धानि आरभेत ॥ तत्र संन्यासे  
 अधिकारार्थं स्वस्य नवश्राद्धषोडशश्राद्धानि च साग्निकः  
 पार्वण विधिना निरग्निः स्वेकोद्दिष्टविधिना कुर्यात् ।  
 सपिण्डीकरणमपि केचिन्मते उक्तं । तत् चिकी-  
 र्षायां तदपि कार्यं एषां नवश्राद्धादीनां प्रयोगस्तु ब्रह्मा  
 नन्दीय पद्धतौ ज्ञेयः । केचित्तु नवश्राद्धादेः सपिण्डीकरणस्य  
 च नावश्यकत्वं ॥ अच्युताश्रमीय पद्धतावनुक्त त्वादाचाराभावा  
 च । अथाष्टश्राद्धप्रयोगः । तत्रापस्तम्बः ॥ यजमान कर्तृके  
 अग्नौ करण होममन्त्रे ऊहस्यासंभवात् पिण्डदाने विक-  
 ल्पदर्शनात् ॥

संकल्प विधिरेवावतिष्ठते । तत्राश्वलायनानांतु स्वा-  
 हाकारेण वाग्निपूर्वकं यज्ञोपवीतीत्यग्नौकरणे विधिरास्ना-  
 नात् पिण्डदाने विकल्पदर्शनात् पार्वणविधिरेव ॥ इति ॥  
 तत्रापस्तम्बानां प्रयोगमाह ॥ श्राद्धपाकादन्येनाग्नेन  
 वैश्वदेवं कृत्वा ततो नद्यादौ गत्वा प्राङ्मुखो यज्ञोपवीती  
 यवसहितजलेन श्राद्धदेवतानां तर्पणादि कुर्यात् । तर्पण-  
 प्रकारं न्वाह । ब्रह्माणं तर्पयामि । एवं विष्णुं । महेश्वरं ॥  
 देवर्षीन् । ब्रह्मर्षीन् क्षत्रर्षीन् ॥ वसून् रुद्रान् आदित्यान् ॥  
 सनकं सनन्दनं । सनातनं ॥ ॥ पृथिव्यादीनि पञ्चमहा-  
 भूतानि एकादश चक्षुरादीनि करणानि । चतुर्विध भूतग्रामं

पितरं । पितामहं । प्रपितामहं ॥ मातामहं । प्रमातामहं ।  
 वृद्धप्रमातामहं ॥ मातरं । पितामहीं ॥ प्रपितामहीं ॥ आत्मानं ।  
 पितरं पितामह मिति ॥ केचिनु आत्मानं अन्तरात्मानं  
 परमात्मान मिति विधानात् ॥ एवं तर्पणं विधाय ॥ ततोऽ  
 शेषदुःखनिवृत्तिं निरतिशयानन्दप्राप्तिं परमपुरुषार्थप्राप्तये  
 करिष्यमाणं परमहंससंन्यासस्वीकारार्थं तदङ्गत्वेनाष्टौ  
 श्राद्धानि सदैवानि संकल्पविधिनात्रेनामद्रव्येण वा  
 तन्त्रेण करिष्ये इति संकल्पः । अष्टौश्राद्धदेवताः पूर्वोक्ता  
 द्रष्टव्याः इति ॥ हारीतसंहितायां संन्यासविधिमाह ॥  
 दत्त्वापितृभ्यो देवेभ्यो मानुषेभ्यश्च यत्नतः ।  
 दत्त्वा श्राद्धं पितृभ्यश्च मानुषेभ्यस्तथात्मनः ॥

अस्य विचार सापेक्षताऽस्ति ॥ अष्टश्राद्धप्रयोगे । नारद  
 परिव्राजकोपनिषदि एवं संन्यासोपनिषदि । एवं अत्रि शैलक  
 बहुचपरिशिष्ट वौधायनेषु ब्रह्मानन्दीयपद्धतौ । विश्वेश्वर  
 पद्धतौ च एतेषां मते श्राद्धदेवतादयः पूर्वोक्ताः । एतेषांमते  
 मातामहादिपक्षो नोक्तः ॥ किन्तु नान्दीमुखश्राद्धे माता-  
 महादि पक्ष कर्तव्यतास्ति ॥ निर्णयसिन्धौ । एवं शिवम  
 हापुराणोऽपि मातामहपक्षाद्युक्तं । तत्प्रमाणं स्मर्यते ॥  
 मातामहात्मकश्राद्धे त्रयो मातामहादयः ।

प्रति श्राद्धं ब्राह्मणानां युग्मकृत्वोपंकल्पितान् ॥ इति ॥  
 किन्तु यद्यपि अन्यत्र प्रमाणं नास्त्येव तथापि यत्र पितृ  
 श्राद्धादिकं कार्यं स्यात् तत्रैव मातामहादि श्राद्धं कर्तव्यं  
 भवं तत्प्रमाणान्तु । यतिधर्म प्रकाशकेऽयुक्तमेव ॥



पितरो यत्र पूज्यन्ते तत्र मातामहाश्रुवं ।

अविशेषेण कर्तव्यं विशेषान्नरकं व्रजेत् ॥

इति विशेषव चनान्मातामहादिपक्षोऽवश्यमेव कर्तव्यः प्रतीयते इति ॥ आत्मशूद्रपक्षे देवतामतभेदं यदुक्तं तद्वर्शयति । नारदपरिव्राजके । शिवमहापुराणे निर्णयसिन्धौ । ब्रह्मानन्दीयपद्धतावपि आत्मश्राद्धे देवता आत्म पितृ पितामहा इत्युक्ताः किन्तु अन्येषां मते यतिधर्मप्रकाशकपद्धतौ एवं कामरूपमठस्थ-संन्यासपद्धतौ च । आत्मश्राद्धं आत्म अन्तरात्म परमात्म दैवत्यमित्युक्तं ॥ इति ॥ परस्परविरुद्धं प्रतीयते किन्तु प्रामाणिक्य आत्मश्राद्धे देवता आत्म पितृ पितामहाः ॥ यन्मते प्रमाणमस्ति तन्मतं ग्राह्यमिति सिद्धान्तः ॥

सर्वत्र नान्दीमुखत्वंविशेषणं ज्ञेयं॥दक्षकतू॥सत्यवसू वा विश्वेदेवा इति विशेषः ॥ अन्यत्रान्दीशूद्रवदिति हेमाद्रिः ॥ अत्र संन्यास कर्मणि अष्टौश्राद्धे प्रयोगाः नान्दी मुख विधानेन श्राद्धं कुर्यादित्युक्तं ॥ परन्तु संन्यस्त-कर्मार्द्धभूते वृद्धिश्राद्धविषये ऋक् यजुः साम-भेदेन पृथक् पृथक् रूपेण निर्देशो नास्ति ॥ अतएव सर्वेषां वेदानां संन्यास कर्मणि नान्दीमुखविधानेन श्राद्धं कर्तव्यं ॥ किन्तु सामवेदोक्तं नान्दीमुखश्राद्धे मातृपक्षो नास्ति परन्तु यजुर्वेदमते क्रियाङ्ग आभ्युदयिक-श्राद्धे निमित्यर्थं मातृपक्षो गृह्यत इति सर्वशास्त्रसम्मतं ॥

विश्वेश्वरपद्धतौ पितृदेवताःसंन्यास कर्माङ्गीभूतेना-  
न्दी श्राद्धे पितृपक्षे । पृथकरूपेण या उक्ताः ता आह पितृपक्षे  
कव्यवाडोवानल सोमोऽर्घ्यमा तथा अग्निष्वात्ता वह्निषदः  
सोमपा श्वैवदेवताः इत्युक्तं ॥ एवंमातृपक्षेदेवतास्तु गौरी  
पद्मादिषोडशमातृका देवता उक्ता एव ॥ अन्यान्य  
ग्रन्थे विरूढं प्रतीयते तन्मतमाह यथा नारदपरिव्राजके  
अत्रिसंहितायामपि एवं शौनकवृचपरिशिष्टवौधायनादीनां  
मतानि॥एवंनिर्णयसिन्धौ ब्रह्मानंदीयपद्धतौ कामरूपमठस्थ-  
पद्धतावपि एतेषां ग्रन्थानां परस्परस्य एकवाक्यत्वमस्ति ॥  
तदेकवाक्यत्वमाह ॥ यथा पितृश्राद्धे पितृ पितामह  
प्रपितामहादि देवताः एवं मातृ पक्षे तु मातृ पितामही  
प्रपितामहो देवता उक्ताः ॥ नारदपरिव्राजकादीनां सर्वेषां  
ग्रन्थानां परस्परैकवाक्यता प्रतीयते ॥ अतएव एतेषां मतं  
ग्राह्यं॥किन्तु विश्वेश्वरेण यदुक्तं तन्मतं न लिख्यते ॥ इति  
सिद्धान्तः ॥ अष्टविधाभ्युदयिक श्राद्धे प्रथमं यत्  
कर्तव्यं तदाह ॥ करिष्यमाणपरमहंससंन्यास  
कर्माङ्गीभूत सगणाधिप गौर्यादि षोडशमातृकापूजा-  
पूर्वक वसोधारा सम्पातनायुष्य सूक्त जपादिपूर्वकमष्ट  
विधमाभ्युदयिकश्राद्धं तन्त्रेणानन्दीमुख विधिना हं  
करिष्ये इति संकल्प्य विधानेन श्राद्धं कर्तव्यमेव इति श्राद्धं  
समाप्तम् ॥

( श्राद्धानन्तरं वपनं कर्तव्यं तत्प्रमाणमाह ॥ )

नारद परिव्राजकोपनिषदि ॥



यथा विधि निर्वर्त्य पिण्डप्रदानानि निर्वृत्य दक्षिणा  
ताम्बूलैस्तोषयित्वा ब्राह्मणान् प्रेषयित्वा शेषकर्मसिद्धयर्थं  
सप्तकेशान् विसृज्य शेषकर्म सिद्धयर्थं केशान् सप्ताष्टौवा  
द्विजः संक्षिप्य वापयेत् केशश्मश्रुनखानि चेति सप्तकेशान्  
संरक्ष्य कक्षोपस्थवर्जं क्षौरपूर्वकंस्नात्वा सायं सन्ध्यावन्दनं  
निर्वृत्य सहस्रगायत्रीं जप्त्वा ब्रह्मयज्ञं निर्वृत्य स्वाधीनाग्निमुप  
स्थाप्य स्वशाखोपसंहरणं कृत्वा तदुक्तप्रकारेणाज्याहुति  
माज्य भागान्तं हुत्वा हुतिविधिं समाप्यात्मादिभिस्त्रिवारं  
सक्तुप्राशनं कृत्वा चामनपूर्वकमग्निं संरक्ष्य स्वयमग्रेरुत्तरतः  
कृष्णाजिनोपरि स्थित्वा पुराणाश्रवणपूर्वकं जागरणं  
कृत्वा चतुर्थयामान्तेस्नात्वा तदग्नौचरुं श्रापयित्वा पुरुष  
सूक्तेनाग्निं षोडशाहुतीर्हुत्वा विरजाहोमं कृत्वा अथाचम्य  
संदक्षिणं वस्त्रं सुवर्णं पात्रं घेनुं दत्वा समाप्य ब्रह्मोद्वासनं  
कृत्वा ॥ इति ॥

( शिवमहापुराणे श्राद्धान्ते वपनविधिः स्मर्यते ॥ )

उपोष्य क्षौरकर्मादि कक्षोपस्थ विवर्जितम् ॥

केशश्मश्रु नखान्येव कर्मावधि विसृज्यच ॥ १ ॥

सप्ताष्टकेशान् विधिवत् कारयित्वा विधानतः ॥

स्नात्वा घौतपटः शुद्धो द्विराचम्याथ वाग्यतः ॥ २ ॥

भस्म संधार्य विधिना कृत्वा पुण्याह वाचनम् ॥

तेन संप्रोक्षणं प्राप्य शुद्धदेहः स्वभावतः इति ॥ ३ ॥

“यति धर्मं प्रकाशकेऽपि श्राद्धानन्तरं वपनं कर्तव्यं  
माह । माघवीये वौघायनश्च ।”

कृत्वा श्राद्धानि सर्वाणि देवादिभ्योऽष्टकंपृथक् ॥

वापयित्वाच केशादीन् मार्जयेन्मातृकाइमा इति ॥ ४ ॥

विश्वेश्वरी धृत वचने श्राद्धान्ते केशवपनं प्रमाणमाह ॥  
पूर्वेद्युर्नान्दीमुखं कृत्वा ब्राह्मणान् भोजयित्वा पुण्याहं  
वाचयित्वा केशश्मश्रुलोमनखानि वापयित्वा । यथाविधि  
स्नात्वा होमादिद्रव्य व्यतिरिक्तं द्रव्यजातं पुत्रादिभ्यो दत्त्वा  
दण्डादीन् सन्निधाय देवायतने ग्रामे वा पुलिने वा अरण्ये  
वा स्थित्वा । ब्रह्मणेनमः । इन्द्राय । एवंसूर्याय । सोमाय ।  
आत्मने । अन्तरात्मने । परमात्मने ब्रह्माञ्जलिं  
कृत्वा । मानसं जपित्वा । उपस्पृश्य दर्भाञ्जलिं कृत्वा  
वेदादीन् जपित्वा सक्तुंमुष्टित्रयंप्राश्य आचम्येति । अत्र  
विशेषमाह ॥ वौधायनः ॥ ब्राह्मणान्ते आवेश्य पुण्याहं  
स्यस्ति रिद्धिरितिवाचयित्वेति । अन्तरे समीपे आवेश्य  
ततो वपनं कुर्यात् । कात्यायनः ॥

आपोहिष्टेति द्वाभ्यां श्मश्रुरोम नखानिच ॥

गौदानिकं विधानेन सर्वमन्त्रान्नियोजयेत् ॥ ५ ॥

सप्ताष्टकेशान् शिखार्थं स्थापयेत् ॥ तथा चसंप्रदायविदः ॥

शेषस्य कर्मणाः सिद्ध्यै केशान् सप्ताष्ट वा द्विजः ॥

संरक्ष्य वापयेत् सर्वं केशश्मश्रुनखानि चेति ॥ ६ ॥

गोभिलोक्तमाह । ततः समाचरेत् स्नानं हेमरौप्यकुशाम्भसा ॥

कृत्वातुवपनं विद्वान् भवेन्मुण्डोऽथवा शिखीति ॥ ७ ॥

ब्रह्मानन्दीय पद्धतावप्याह ॥ एवमष्ट श्राद्धोत्तरं ब्रह्म  
रात्र्यनुरोधेन तस्मिन् दिने द्वितीये वा शिखार्थं मूर्ध्नि



पञ्चषट् वा केशान् स्थापयित्वा कक्षोपस्थ वर्ज्जं केशप्रमथु  
 लोमादिवपनं विधाय नखानि निकृत्य यथा विधि  
 स्नात्वा कौपीनाच्छादनाद्युपयुक्तं स्वात्मन आचार्याय  
 दक्षिणार्थं होमार्थञ्च द्रव्यं पृथक् कृत्य सति विभवे  
 पुत्रदाराश्रितादिभ्यो धनादि विभज्य संतर्प्य स्वीयं  
 धनं सन्यास दातृभ्यो विप्रेभ्यो यतिभ्यश्च विभज्य  
 तदाज्ञया शेषं सर्व्वमर्थिभ्योदद्यात् । असति विभवे स्वात्मान  
 मेव तेभ्यो निवेदयेदिति ॥

आत्मपुराणो एकादशाध्यायेऽपि ॥

तस्मिन्नेव दिने नोचेद्द्वितीये दिवसे सुधीः ॥

पिण्डदानं दिने तस्मिन्नुपवासः परेहनि ॥ ८ ॥

मुख्य मे तज्जघन्यं स्यादेकस्मिन् दिवसे द्वयम् ॥

उपवास दिने प्राप्ते कक्षोपस्थ शिखात्रयम् ॥ ९ ॥

वर्ज्जयित्वा तु वपनं कुर्व्वीत मतिमान्नरः ॥

स्नातः शुचिस्ततो भूत्वा परिधायान्यदम्बरम् ॥ १० ॥

यावत् सन्यास योग्यं स्याद्धोम द्रव्य विवर्ज्जितम् ॥

शालग्रामादिकं तद्वदसनं कम्बलादि च ॥ ११ ॥

संवत्सरादिकं कालं गुरुं सर्व्वगुणैर्युतम् ॥

ब्रह्मनिष्ठाय गुरवे बहुशोऽपि परीक्ष्य च ॥ १२ ॥

अङ्गीकृतेऽथ तेनायमर्पयेदप्यपेक्षितम् ॥

आत्मनश्च विधायैव पृथक् शीतादिवारणम् ॥

प्रक्षालितं ततो दण्डमव्रणं सौम्यदर्शनमिति ॥ १३ ॥

( निर्णय सिन्धावपि स्मृत्यर्थं सारे ॥ )

केशश्मश्रु लोमनखं वापयित्वोपकल्पयेत् ॥

दण्डंजलं पवित्रं च शिष्यं पात्रं कमण्डलुमिति ॥ १४ ॥

अथ वपनान्तरं सक्तुमुष्ट्यादिग्रहणमाह । शिवपुराणे  
कैलास संहितायां ॥

होमद्रव्यार्थमाचार्यं दक्षिणार्थं विहाय च ॥

द्रव्यजातं महेशाय द्विजेभ्यश्च विशेषतः ॥ १५ ॥

भक्तेभ्यश्च प्रदत्वाथ शिवाय गुरुरूपिणे ॥

वस्त्रादि दक्षिणां दत्त्वा प्रणम्य भुविदण्डवत् ॥ १६ ॥

दोरकौपीनवसनं दण्डाद्यं क्षालितं शुचि ॥

आदाय होमद्रव्यादि समिदादीनि च क्रमात् ॥ १७ ॥

समुद्रतीरे नद्यां वा पर्वते वा शिवालये ॥

अरण्ये वाथ गोष्ठे वा विचार्य स्थानमुत्तमम् ॥ १८ ॥

स्थित्वा चम्य ततः पूर्वं कृत्वा मानसमञ्जरीम् ॥

ब्राह्ममोङ्कारसहितं नमो ब्रह्मण इत्यपि ॥ १९ ॥

जपित्वा त्रिस्तुतो ब्रूयाद् ग्निमीले पुरोहितम् ॥

अथ महाव्रतमित्यग्निर्वैदेवानामवमः ॥ २० ॥

अथैतस्य समाप्ताय मिषेत्वोर्जेत्वा चेत्तितत् ॥

अग्न आयाहि वीतये शन्नो देवीरभीष्टये ॥ २१ ॥

पश्चात् प्रोच्य मय रसतजभनगलैः सह ॥

संमितञ्च ततः पञ्च संवत्सरमयं ततः ॥ २२ ॥

समाप्तायः समान्मातः अथ शिष्टां वदेत् पुनः ॥

प्रवक्ष्यामीत्युदीर्याथ वृद्धिरदैवञ्च संवदेत् ॥ २३ ॥

अथातो धर्मं जिज्ञासेत्युच्चार्य पुनरञ्जसा ॥



अथातो ब्रह्म जिज्ञासा सामादीन पि संजपेत् ॥ २४ ॥  
 ब्रह्माणमिन्द्रं सूर्यञ्च सोमञ्चैव प्रजापतिम् ॥  
 आत्मानमन्तरात्मानं ज्ञानात्मानमतः परम् ॥ २५ ॥  
 परमात्मानमपि च प्रणवाद्यं नमोऽन्तकम् ॥  
 चतुर्थ्यन्तं नमित्वाथ सक्तुमुष्टिं प्रगृह्य च ॥ २६ ॥  
 प्राश्याथ प्रणवेनैव द्विराचम्याथ संस्पृशन् ॥  
 नाभिं मन्त्रान् वक्ष्यमाणान् प्रणवाद्यान्नमोऽन्तकान् ॥ २७ ॥  
 आत्मानं अन्तरात्मानं ज्ञानात्मानं परं पुनः ॥  
 आत्मानञ्च समुच्चार्य प्रजापति मतः परम् ॥ २८ ॥  
 स्वाहान्तान् प्रजपेत् पश्चात् पयोदधिघृतं पृथक् ॥  
 त्रिवारं प्रणवेनैव प्राश्याचम्य द्विधा पुनः ॥ २९ ॥  
 प्राणास्य उपविश्याथ प्राणायामत्रयं चरेत् ॥ ३० ॥

इति श्री शिवमहापुराणे कैलास संहितायामुत्तर  
 भागेऽष्टमोऽध्यायः ॥

( विश्वेश्वरपद्धतौ वपनान्तेयत् कर्तव्यं सक्तु भक्षणं  
 तदाह । ) वपनान्तरं स्नानं कृत्वा तर्पयेत् । देवताः पितृन्  
 ऋषीन् छन्दांसि वेदांश्च यथाविधीति ॥ ततो आगत्य  
 देवतायतनादौ उपविश्य दक्षिणं जानुन्युत्तानं वामहस्तं  
 कृत्वा तत्र द्वे पवित्रे निधाय तदुपरि उत्तानेन दक्षिणं हस्ते-  
 नापि दद्यादिति ब्राह्माजलिः । तं ब्रह्माजलिं कुर्यात् ॥  
 जपेच्च ब्रह्मणोनमः । इत्यादि मन्त्राः । तत आचम्य वेदादीन्  
 जपेत् । अपस्पृश्य दर्भाजलिं कृत्वा वेदादीन् जपित्वेति ।  
 शौनकावचनात् । ततः सक्तुमुष्टिं प्रणवेन प्राश्याचम्य मन्त्रै-

नाभिमभिमन्त्रयेत् । आत्मने स्वाहा अन्तरात्मने स्वाहा  
प्रजापतये स्वाहा । ततः पयोदधिघृतानि त्रिवृत् कृतानि  
त्रिवृद सीति मन्त्रेण प्रथमं प्राशनीयात् । प्रवृदसीतिद्वितीयं  
विवृदसीति तृतीयं । तत आपः पुनन्तु पृथिवी मित्युदकं  
प्राशनीयात् । तदुक्तं बह्वचपरिशिष्टे ॥ अथ पयोदधि सर्पिः  
त्रिवृत् प्राश्याचामेदप स्तद लाभ इति ॥

निर्णयसिन्धौयदुक्तं तदाह ॥ पयोदधि सर्पिरेकी  
कृत्वात्रिवृदसीति प्रथममिति पूर्व्वेणोक्तं ॥ यतिधर्म  
प्रकाशके । माधवीये । दण्डप्रमाणमाह ॥

त्रिदण्डानंगुलिस्थूलान् वैणवान् मूर्द्धसंमितान् ॥

एकादश नवद्वित्रिचतुः सप्तानपर्व्वकान् ॥ १ ॥

सत्त्वचानव्रणान् सौम्यान् समसन्नतपर्व्वकान् ॥

वेष्टितान् कृष्णगोवालै रज्वातु चतुरंगुलान् ॥ २ ॥

एको वा तादृशोदण्डो गोवासरहितोभवेत् ॥

कुशैः कार्पास सूत्रैर्वा क्षौमसूत्रै रथापिवा ॥ ३ ॥

कुशलै र्ग्रथितं शिष्यं रम्याकरसमन्वितम् ॥

षट् पदं पञ्चपादं वा सुष्टिद्वयविदारितम् ॥ ४ ॥

विकेशं सितपृष्ठन्तु उभयं द्वादशांगुलम् ॥

द्विगुणं त्रिगुणं वापि सर्व्वतोऽष्टांगुलन्तु वा ॥ ५ ॥

प्रादेशमात्रं सूत्रन्तु कार्पासैः कृतमव्रणम् ॥

चाण्डालाद्य कृतञ्चैतं स्मृतं जलपवित्रकम् ॥ ६ ॥

गृहीत मन्त्रवत् सम्यक् सञ्चिकञ्च कमण्डलुम् ॥

दारवं वैणवं वापि मृदलावूमयन्तु वा ॥ ७ ॥



पात्रं शिलामयंताम्रं पर्णादि भवमेव वा ॥  
 चतुरस्रं वर्तुलं वाप्यायसंदारवं शुभम् ॥ ८ ॥  
 कौपीनाच्छादनं वासः कन्या शीतनिवारिणी ॥  
 पादुके चापि शौचार्ये दशमात्रा उदाहृताः ॥ ९ ॥  
 छत्रं पवित्रं सूची वा त्रिविष्टवं तथा जिनम् ॥  
 पक्षाणि वासो सूत्रञ्च मृत् खनित्री च पाणिका ॥ १० ॥  
 योगपट्टवहिर्वास इत्येता एकविंशतिः ॥  
 तासां पञ्चादिका नित्या दशवा सर्व्वशोऽपिवा ॥ ११ ॥  
 गृहीत्वेमा अथागत्य देवगो वह्निवेश्मनि ॥  
 ग्रामान्ते ग्रामसीमान्ते यद्वा शुचिमनोहरे ॥ १२ ॥  
 आज्यदधि पयोत्येतत् त्रिवृद्धा जलमेववा ॥  
 ॐ भूरित्यादिना प्राश्य रात्रिञ्चोपविशेत्ततः ॥ १३ ॥  
 एतावतैव विधिना भिक्षुः स्यादापदि द्विजः ॥  
 अथादित्यस्यास्तमयात् पूर्व्वमग्नीन् विदृत्यसः ॥ १४ ॥  
 आज्यञ्च गार्हपत्ये तु संस्कृत्य तेन सर्पिषा ॥  
 पूर्णमाहवनीयेतु जुहुयात् प्रणवेन तु ॥ १५ ॥  
 ब्रह्मान्वाधान मेतत्स्यादग्निहोत्रेहुते ततः ॥  
 आस्तीर्य्य गार्हपत्यस्य दर्भानुत्तरतो यदि ॥ १६ ॥  
 पात्राणि सादयित्वा तु ब्रह्मायतन एव तु ॥  
 संस्तीर्णेषु च दर्भेषु त्वजिनान्तरित्तेषु वा ॥ १७ ॥  
 जागृयात् रात्रि मेता न्तु यावद्ब्राह्म मुहूर्त्तकम् ॥  
 एतामवस्थां संप्राप्य मृदुत्वफलमश्नुते ॥ १८ ॥  
 अग्निहोत्रं स्वकालेन हुत्वा प्रातस्तनन्ततः ॥

इष्टिं वैश्वानरीं कुर्यात् प्राजापत्या मयापि वेति ॥ १६ ॥

अत्र वौधायन वाक्य संदर्भे एतामवस्थां संप्रा—

प्येत्यनेन एतावतैव विधिना इति प्रागुक्तस्यार्थः  
स्पष्टीकृतः ॥ ब्राह्मणानन्दीयपद्धतौ आह ॥ अथ वपनं  
कृत्वा यथाविधि स्नात्वा देवायतनादौ समागत्य ब्रह्म  
यज्ञवद्ब्रह्माञ्जलिं कृत्वा यथाशक्ति वेदादिकं जपित्वा ततः  
सक्तुमुष्टित्रयं प्रणवेन प्राश्याचम्य ॥ आत्मने नमः परमात्मने  
नमः प्रजापतये नम इति मन्त्रैर्नाभिमभिस्पृश्य ततः  
पयोदधिघृतं त्रिवृत् कृतमथवाजलमेव त्रिवृदसीति मन्त्रेण  
प्रथमं प्राशनीयात् प्रवृदसीति द्वितीयम् विवृदसीति तृतीयम्  
ततश्चापः पुनन्तु इति ॥ मन्त्रेण जलं प्राश्य ॥ ततः प्रागुक्त  
विधिना सावित्री प्रवेशं कृत्वोपवासं सकल्पयेदित्युक्तं ।  
तस्माद्यथारुच्यनुष्ठेयम् ॥

नारदपरिव्राजकोपनिषदि सावित्री प्रवेशं दर्शयति

ब्रह्मोद्वासनं कृत्वा ॥ समासिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः  
संवृहस्पतिः संमायमग्निः सिञ्चत्वायुषां च धनेन च वलेन  
चायुष्मन्तः करोतु मेति ॥ यत्ते अग्ने यज्ञिया तनूस्तये  
द्यारोहात्मानम् ॥ अञ्छावसूनि कृशवन्नस्मेनय्यां पुरुषी यज्ञो  
भूत्वा यज्ञमासीद स्वांयोनिं जातवेदो भुव आजायमानः  
सः क्षय एहीत्यनेनाग्निमात्मन्यारोप्य ध्यात्वाग्निं प्रदक्षिण  
नमस्कार पूर्वकमुद्वास्य प्रातः सन्ध्यामुपास्य सहस्रगायत्री  
पूर्वकं सूर्योपस्थानं कृत्वा नाभिदध्नोदकमुपाविश्याष्टदिक्



पालकार्घ्यपूर्वकं गायत्र्युदासनं कृत्वा सावित्रीं व्याहृतिषु  
 प्रवेशयित्वा अहं वृक्षस्यरेरिवा कीर्त्तिः पृष्ठंगिरेरिव ।  
 ऊर्ध्वं पवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि ॥ द्रविणं सुवर्चसं  
 सुमेधा अमृतोक्षितः ॥ इति त्रिशंकोर्वेदानुवचनं ॥ यश्छ  
 न्दसा मृषभो विश्वरूपः छन्दोभ्योऽध्यमृतात् संवभूव ॥  
 समेन्द्रो मेधया स्पृणोतु अमृतस्य देवधारणो भूयासं शरीरं  
 मे विचर्षणं जिह्वा मे मधुमत्तमा कर्णाभ्यां भूरिविश्रवं  
 ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः श्रुतं मे गोपाय ॥ दारेष  
 णायाश्च धनेषणायाश्च लोकेषणायाश्च व्युत्थितोऽहं ॐ भूः  
 संन्यस्तं मया ॐ भुवः संन्यस्तं मया ॐ सुवः संन्यस्तं मया ॐ  
 भूर्भुवः सुवः संन्यस्तं मयेति मन्द मध्यम तालजध्वनिभिर्म  
 नसा वाचोच्चार्याभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते स्वा-  
 हेत्यनेन जलं प्राश्य प्राच्यादिशि पूर्णाञ्जलिं प्रक्षिप्य ॐ  
 स्वाहेति शिखामुत्पाद्य यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापते  
 र्यत् सहजं पुरस्तात् ॥ आयुष्यमग्रं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञो  
 पवीतं वस्त्रम स्तु तेजः ॥ यज्ञोपवीतं वह्निर्न निवसेत्त्वमन्तः  
 प्रविश्य मध्येह्यजस्रं परमं पवित्रं यशोवलं ज्ञानं वैराग्यं  
 मेधां प्रयच्छेति यज्ञोपवीतं छित्वा उदकाञ्जलिना सह ॐ  
 भूः समुद्रं गच्छ स्वाहेत्यप्सु जुहुयात् ॐ भूः संन्यस्तं  
 मयेति पूर्वमुक्तं ॥ ॐ भूः स्वाहेत्यप्सु वस्त्रं कटि  
 सूत्रमपि विसृज्य सर्वकर्मनिर्वर्त्तकोऽहमिति स्मृत्वा  
 जातरूपधरो भूत्वा स्वरूपानुसन्धानपूर्वकं मूर्ध्वाहु  
 रुदीचीं गच्छेत् पूर्ववद्विद्वत् संन्यासी चेद् गुरोः सकाशात्

प्रणवमहावाक्योपदेशं प्राप्य यथा सुखं विहरन्  
 मत्तःकिञ्चिन्नान्योव्यतिरिक्त इति फलपत्रोदकाहारः पर्व-  
 तवन-देवतालयेषु सञ्चरेत् । संन्यस्याथ दिगम्बरः सकल-  
 संचारकं सर्व्वदानन्दस्वानुभवैकपूर्णहृदयः कर्म्ममति-  
 दूरलाभः प्राणाधारणपरायणः फलरसत्वकूपत्रमूलोद-  
 कैर्मोक्षार्थी गिरिकन्दरेषु विसृजेद्देहं स्मरं स्तारकं । विवि-  
 दिषासंन्यासी चेच्छतपथं गत्वा चार्म्यादिभिर्विप्रैस्तिष्ठ-  
 तिष्ठ भूहाभाग दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं गृहाण प्रणवमहावा-  
 क्यग्रहणार्थं गुरुनिकटमागच्छेत्याचार्यैर्दण्डं कटि-  
 सूत्रं कौपीनं शाटीमेकां कमण्डलुं पादादिमस्तकप्रमाणं  
 मन्त्रं समं सौम्यमकाकपृष्ठं सलक्षणं वैश्वं दण्डमेकमां  
 चमनपूर्व्वकं सखामागोपायोजः सखायोऽसीन्द्रस्य वज्रोऽ-  
 सि वार्त्रघ्नः शर्म मेभव यत् पापं तन्निवारयेति दण्डं परि-  
 ग्रहेज्जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं मातेमामन्त्रय स्वसर्व्वदा सर्व्व-  
 सौम्येति । प्रणवपूर्व्वकं कमण्डलुं परिगृह्यकौपीनाधारं कटि-  
 सूत्रमोमिति गृह्याच्छादकं कौपीनमोमिति शीतवातोष्ण-  
 त्राणकरं देहैकरक्षणमोमिति कटिसूत्रकौपीनवस्त्र-  
 माचनपूर्व्वकं योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा कृतार्थोऽहमिति  
 मत्वा स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्युपनिषत् ॥ चतुर्थोपदेशः ॥  
 आत्मपुराणो ११ अध्याये ॥ दण्डादि लक्षणं एवं सक्तु  
 मुष्टिग्रहणाच्चतत् प्रमाणमाह ॥  
 आत्मनश्च विधायैव पृथक् शीतादि वारणम् ॥  
 प्रक्षालितं ततो दण्डमन्त्रं सौम्य दर्शनम् ॥ १ ॥



वैष्णवं संस्कृतं तद्वत् स्वात्मना संमितं तथा ॥  
 कौपीनादि युतं धीमान् स्थापयेदग्निसन्निधौ ॥ २ ॥  
 रात्रौजागरणे होमे देशाः शस्ता इमेसदा ॥  
 महानद्या स्तटं तद्वदेवतायतनं पुनः ॥ ३ ॥  
 अरण्यं वापि गोष्ठं वा गृहंवा जनवर्जितम् ॥  
 ब्रह्मेन्द्र सोमसूर्यात्म चतुर्व्यूहस्वरूपिणाम् ॥ ४ ॥  
 अन्तरं परमं तद्वद्विज्ञानं च विशेषणम् ॥  
 आत्मनो निर्विशेषञ्च चतुर्व्यूहः प्रकीर्तितः ॥ ५ ॥  
 ब्रह्मादि नामकान् मन्त्रानष्टौतान् प्रणवादिकान् ॥  
 नमोऽन्तांश्च चतुर्थ्यां च संयुतान् मनसाजपेत् ॥ ६ ॥  
 वङ्गाञ्जलिञ्च संविश्य स्वासने विजितेन्द्रियः ॥  
 सक्तुमुष्टिं ततः प्राश्य त्रिराचम्य च मन्त्रयेत् ॥ ७ ॥  
 आत्मने च तथैवायं प्रवदेदं तदात्मने ॥  
 प्राजापतय इत्येतं तृतीयं मन्त्रमीरयेत् ॥ ८ ॥  
 स्वाहान्तं प्रणवादिष्या त्रयं नाभेस्तु मन्त्रणो ॥  
 पयोदधिं तथासर्पिं स्त्रिवारं प्राशयेत् क्रमात् ॥ ९ ॥  
 सक्तूनाञ्च त्रयस्यास्य प्राशने प्रणवेरणाम् ॥  
 आचम्य च जपेत् पश्चात् संविश्य प्राडमुखः शुचिः ॥ १० ॥  
 प्रणवं सह गायत्र्या यथा शक्तिं द्विजोत्तमः ॥  
 ॐ कारं सर्वं वेदादिं वेदादीन यवा खिलान् ॥ ११ ॥  
 उच्चार्य्य प्रविशेद्धीमान् सावित्रीं विधिनामुना ॥  
 भूर्भुवः स्वरिति प्रोच्य व्याहृती स्तिस्र आत्मवान् ॥ १२ ॥  
 सावित्रीं प्रविशामीति द्विर्मन्त्राः षट् समीरिताः ॥

त्रिपदामात्रं गायत्रीप्रच्छो मन्त्रद्वये पठेत् ॥ १३ ॥  
 अर्धतः पादतस्तद्वत् समग्रां चक्रमात् सुधीः ॥  
 आदित्यास्तमयात् पूर्वं स्वगृह्योक्तप्रकारतः ॥ १४ ॥  
 श्रौतं स्मारीं तथैवाग्निं लौकिकं वापि निर्व्वपेत् ॥  
 कुण्डे वा स्थण्डिले वापि सावधानमनाः पुमान् ॥ १५ ॥  
 यथा शास्त्रं ततः सायं होमं सम्यग् विधाय हि ॥  
 आज्यभागान्तकं कर्म स्वगृह्योक्तप्रकारतः ॥ १६ ॥  
 कृत्वा तस्मिन् स्ततः कुर्यादग्नावाज्याहुतिं पुमान् ॥  
 भूः स्वाहेति च संपूर्णा पूर्णाहुतिरितीरितम् ॥ १७ ॥  
 सायं सन्ध्यामुपास्याथ वह्नेरुत्तरतस्ततः  
 आस्तीर्य्य दर्भानासीनः कुर्याज्जागरणं ततः ॥  
 तस्यां रात्रौ जपन् ब्रह्म गायत्र्याख्यं सनातनम् ॥ १८ ॥  
 ( इति आत्मपुराणे सक्तुभक्षणादि रात्रि )

### जागरान्तमुक्तम्

ततो गोभिलमतं स्मर्य्यते ॥ वह्नेचपरिशिष्टवौधायनौ ॥  
 ॐ भूः सावित्रीं प्रविशामि । इति पूर्व्वोक्तं । किन्तु वह्नेच  
 परिशिष्टे वौधायनमते निर्णयसिन्धौ ब्रह्मानन्दीयपद्धतौ  
 एवं विश्वेश्वरीधृतवचने एवं नारदपरिव्राजकोपनिषद्यपि  
 एतेषां ग्रन्थानां मते सक्तुभक्षणापयोदधिसर्पिषां  
 त्रिवृत् प्राश्यानन्तरं गायत्रीप्रवेशनमुक्तं । परन्तु शिवमहा  
 पुराणे कामरूपमठस्थपद्धतौ च अग्न्याधानादिसर्व्व  
 कर्मन्ते सावित्रीप्रवेशनमुक्तम् ॥ तन् प्रमाणमाह परमहं



सोपनिषदि च ॥ आत्मश्राद्धं विरजाहोमं कृत्वा अग्नि-  
मात्मन्यारोप्य लौकिकवैदिकस्मार्तकर्मणि समाप्य  
गायत्रीप्रवेशनमुक्तं ॥ शिवमहापुराणेऽपिप्रमाणमाह ॥  
श्रौते वैश्वानरे सम्यक् सर्ववेद सदक्षिणाम् ॥

तथाग्निमात्मन्यारोप्य ब्राह्मणः प्रवजेद् गृहात् ॥ १ ॥

सावित्रीप्रथमं पादं सावित्रीमित्युदीर्य च ॥

प्रवेशयामि शब्दान्तं भूरोमिति च संवेदेत् ॥ २ ॥

इति मतद्वयं तयोर्मध्ये अग्न्याधानादिकर्मान्ते  
सावित्रीप्रवेशनं युक्तं । कुतः सावित्री प्रवेशानन्तरं अग्नि-  
होत्रादिकर्म तस्मिन् दिवसे सायं समयेऽग्निस्था-  
पनादिकार्यविशेषोऽस्ति तदन्ते गायत्रीजपादिकं कर्म  
प्रतीयते । एवं पूर्वेषु ब्राह्ममुहूर्ते प्रातः कृत्यादिसन्ध्यो-  
पासनादिकं च विरजाहोमादिकार्याणां तदन्ते अनर्ह-  
त्वात् ॥ अतएव सक्तुभक्षणानन्तरं सावित्रीप्रवेशनमयुक्तं ॥  
किन्तु सर्वकर्मन्ते सावित्रीप्रवेशनं युक्तमेव ॥ परन्तु  
दक्षिणस्थपद्धतौ आद्यन्ते गायत्रीप्रवेशनं यदुक्तं तद-  
प्युक्तयुक्त्या अग्राह्यमिति ॥ ततः प्रागुक्त विधिना सावित्री प्रवेशं  
कृत्वोपवासं सङ्कल्पयेदित्युक्तं । तस्माद्यथारुच्यनुष्ठे-  
यमिति । अथोपवाससंकल्पानन्तरं ब्रह्मान्वाधानविधिः ।  
तत्र वैयासोक्तप्रकारमाह ॥ यतिधर्मप्रकाशके ॥  
पुरा दित्यस्यास्तमयाद्गार्हपत्यमुपसमाधायान्वाहार्यपचन-  
माहत्य जुलंतमाहवनीयमुद्धृत्य गार्हपत्ये आज्यं विला-  
प्योत्पूय शुचिचतुर्गृहीतं गृहीत्वा समिद्धेत्याहवनीये

पूर्णाहुतिं जुहोति । ॐ स्वाहेति एतद्ब्रह्मान्वाधानं ॥

एकाग्निस्त्वावसथ्याग्नौ निरग्निकस्तु पृष्ठोदिवि-  
विधानेनोत्पादितेऽग्नौ लौकिकाग्नावेवोक्तप्रकारेण पूर्णा  
हुतिं जुहुयादिति ॥ अथ याज्ञवल्क्योपनिषदि प्रमाणमाह ॥  
तदेके प्राजापत्यमेवेष्टिं कुर्वन्ति अथवा न कुर्यादा-  
ग्नेय्यामेव कुर्यात् ॥ अग्निर्हिप्राणः प्राणमेवैतंया  
करोति । त्रैधातवीयामेव कुर्यात् एतैव त्रयोधातवो यदुत  
सत्त्वरजस्तम इति अयन्ते योनि ऋत्विजो यतो जातो  
अरोचथाः । तं जानन्नग्न आरोहाऽथानोर्वर्धया रयिमित्य  
नेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत् । एष वा अग्नेर्योनिजः प्राणं  
गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेव तदा ग्रामादग्निमाहृत्य  
पूर्ववदग्निमाजिघ्रेत् । यदग्निं न विन्देदप्सुजुहुयादापो  
वै सर्वादेवताः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति  
स्वाज्यं हविरनामयं । मोक्षमन्त्रस्त्रय्येवं वेद तद्ब्रह्म तदुपासि-  
तव्यं ॥ शिखां यज्ञोपवीतं च छित्वा सन्न्यस्तं मयेति त्रिवार  
मुच्चरेत् ॥ एवमेवैतद्भंगवन्निति वै याज्ञवल्क्येनेत्युक्तम् ॥

( विश्वेश्वरपद्धतौ यदग्न्याधानं<sup>मु</sup> क्तं तदाह )

अतः सावित्रीप्रवेशानन्तरं सूर्यास्तमयात् पूर्वं आ-  
हिताग्निश्चेदाहवनीये एकाग्निश्चेदौपासनाग्नौ । ब्रह्म  
चारी चेत् लौकिकेऽग्नौ विधुरश्चेत् पूर्वोक्तेन पृष्ठोदिवि-  
विधानेनोत्पादितेऽग्नौ सुवेण सुचि आज्यं चतुर्गृहीत्वा सुचा  
ॐ स्वाहेति जुहुयात् । एतद्ब्रह्मान्वाधानं ॥ तत्रबौधायनः ॥



पुरादित्यस्यास्तमयाद् गार्हपत्यं मुपसमायान्वाहार्यं पचन-  
माहृत्य ज्वलन्तमाहवनीयमुद्धृत्य गार्हपत्यमाज्यं विज्ञाप्यो-  
त्पूय श्रुचि चतुर्गृहीत्वा समिद्धे ह्याहवनीये पूर्णाहुतिं जुहोति  
ॐ स्वाहेत्येतद्ब्रह्मान्वाधानमिति विज्ञापयत इति ॥ (तथा  
कात्यायनः) औपासनमावसथ्यं पृष्ठोदिवि जपेन वा  
लौकिकाग्निमितरं चापि श्रद्धावान् स यदा भवेत् ।  
इत्युपक्रम्य तस्मिन् होमं महायज्ञान् कुर्यात् पक्षादि  
कर्म च संन्यासार्थं तथा कुर्यात् । पाकयज्ञादिकान्  
अपीत्युक्तत्वात् ॥ ततः सन्ध्यावन्दनपूर्वकमस्तमित  
आदित्ये स्वाहाग्नौ होमं कुर्यात् (तत्र वौधायनः)  
अथ सायं हुतेऽग्निहोत्र उत्तरेण गार्हपत्यं तृणानि संस्तीर्य-  
ध्वं पात्राण्यासादयित्वा यष्ट्यादीनि कन्थावासोदक्षिणेनाह-  
वनीयं ब्रह्मायतने दर्भानास्तीर्य कृष्णाजिनञ्चान्तर्धाय तां  
रात्रिं जागर्तीति ॥ तथा दत्तात्रेयः ॥

होमं दत्त्वा तथासायं कुशान् कृष्णाजिनं ततः ॥

ब्रह्मस्थाने समास्तीर्य ब्रह्मभावेन संस्थितः ॥ १ ॥

ब्रह्मरात्रिं ततो दत्त्वा विष्णौ सन्न्यस्य मानसः ॥

समभ्यर्च्य हृषीकेशं जपत्रेकाक्षरं परमिति ॥ २ ॥

य एवं विद्वान् ब्रह्मरात्रिमुपोष्य ब्रह्मणोऽग्नीन्  
समारोप्य प्रमीयते । सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्म  
त्यामिति ॥ अग्न्याधानमुक्तं ॥

दक्षिणस्थपद्धत्यां यदुक्तं तदाह ॥

अथाचनानन्तरं स्नानादि कृत्वा देवागारे अग्न्यागारे

नदीतीरे गोष्ठे अरण्ये वा शुचौदेशे स्वकौपीनादि विवर्णां  
कृत्वा वैष्णवमकल्मषं ग्रन्थियुक्तं योनिरहितं अदग्धं  
सत्वचं शिरः प्रमाणं ललाटान्तं भूप्रमाणं वा दण्डं  
अकृशमस्थूलं समूलोत्पाटितं विप्रानीतं सपर्व्वग्रन्थि  
युक्तं समुद्रादिकं संपाद्य शंखोदकेन १०८ अष्टोत्तरशत  
प्रणवेन पुरुषसूक्तेन च केशवादिनाममन्त्रैरभिषिज्य  
संस्थाप्य ॥ स्मृत्यर्थसारे ॥

दण्डं जलपवित्रञ्च शिक्यं पात्रं कमण्डलुम् ॥

कौपीनमासनं कन्याच्छादनं पादुकादश ॥ १ ॥

यष्टिं जलं पवित्रञ्च शिक्यं पात्रं कमण्डलुमिति  
वा ॥ पञ्च संस्थाप्योपविश्य उदगयनादौ एकादश्यां  
द्वादश्यां वा आतुरश्चेत् कस्मिंश्चित्काले वा देशकालौ  
स्मृत्वा परमहंसादिसंन्यास ग्रहणं करिष्ये इति संकल्प्य  
तदङ्गत्वेन विहितमादौ गणेशपूजननान्दीश्राद्धानि  
करिष्ये इति संकल्प्य ॥ तानि कृत्वा आचम्य प्राणानायम्य  
ब्रह्माञ्जलिं विधाय मनसाजपेत् । ॐ ब्रह्मणेनमः  
इत्यादि पूर्व्वोक्तं ॥

ततोऽस्तमयात् प्राग् औपासनाग्निसमिध्यं विच्छिन्न  
श्चेत् पुनः सन्धानमग्नीत्याङ्गप्रायश्चित्तहोमद्रव्यदानपूर्व्वकं  
कुर्यात् । अनाहिताग्निर्विधुरेण पृष्ठो दिवि विधानेनाग्नि  
मुत्पादनीयः । स यथा आचम्य प्राणानायम्य देशकालौ  
स्मृत्वा ब्रह्मान्वाधानाद्यर्थं विधुरकल्पोक्तविधिनाऽऽग्निमुत्  
पादयिष्ये इति संकल्प्य ॥ स्थण्डिले रेखामुल्लिख्य व्याह



तिभिः प्रणवेन च श्रोत्रियागारादग्निमादाय ॥ अन्वग्नि  
 रुषसामग्रमख्यदन्वहानिप्रथमोजातवेदाः ॥ अनु-  
 सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननुद्यावापृथिवी आततानं ।  
 इति मन्त्रेण स्थण्डिलादाग्नेय्यां दिशिनिधाय । पृष्ठो  
 दिवि पृष्ठो अग्निः पृथिव्यां पृष्ठो विश्वा ओषधीराविवेश  
 वैश्वानरः संहसा पृष्ठो स नो दिवा रिषस्पातु नक्तं । इति  
 मन्त्रे<sup>७</sup> स्थण्डिले लेखासु प्रतिष्ठाप्य तेनैव काष्ठैः समिध्य  
 परि समूह्य । ॐ तत् सवितुर्वरेण्यं । यात् स्वाहा । स  
 पवित्र इदं ॥ तां सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाहुं वृणो सुमतिं  
 विश्वेजन्यां । यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारां  
 पयसां महीं गां स्वाहा । सवित्र इदं ॥ विश्वानि देव  
 सवितुर्दुरितानि परासुव । यद्गद्रं तन्न आसुव स्वाहा । स  
 वित्र इदं ॥ इति तिस्रः समिधोऽभ्याधाय पुनः परिसमूह्य  
 यस्य स्मृत्येत्यादि ॥

एवमग्निसिद्धिं कृत्वा विधुरोऽग्निसमिन्धनं कुर्यात्  
 ततो ब्रह्मान्वाधानं । अस्तमनात् पूर्वं प्राणानायम्य  
 देशकालौ स्मृत्वा परमहंस संन्यासं कर्तुं तत्र विहित  
 ब्रह्मान्वाधानं करिष्ये । इति संकल्प्य ॥ अध्यग्नीन्धनाद्याज्य  
 संस्कारान्ते सुक् सुवौ समृज्या ग्निं परिषिञ्च्य सुचि चतुर्गृहीतं  
 गृहीत्वा । ॐ स्वाहेति हुत्वा परमात्मन इदं उत्तर परिवेचनं  
 कृत्वा यस्य स्मृत्येति ॥ एतद्ब्रह्मान्वाधानं ॥ ततः  
 सन्ध्यावन्दनपूर्वकमस्तमित आदित्ये स्वः स्वाहानौ  
 नित्यहोमं वैश्वदेवञ्च कुर्यात् । अथ सायं होमानन्तर

मुत्तरेऽग्निं तृणानि संस्तीर्य तेषु दण्डादीनि दश यष्ट्या-  
दीनि पञ्च वा द्वादश आसाद्य दक्षिणेनाग्निं कुशेषु कृष्णा  
जिनमास्तीर्य तस्मिन्नुपविश्य गायत्रीं जपन् जागरणं  
कुर्यात् ॥ इति ॥

( अथ शिवमहा पुराणे यदब्रह्मन्वाधानमुक्तं तदाह  
नवमाध्याये ॥ श्रीसुब्रह्मण्य उवाच ॥ )

अथमध्याह्न समये स्नात्वा नियत मानसः ॥

गन्धपुष्पाक्षतादीनि पूजा द्रव्याण्युपाहरेत् ॥ १ ॥

नैर्ऋते पूजये द्वेवं विघ्नेशं विधिपूजितम् ॥

गणानान्त्वेति मन्त्रेण समावाह्य विधानतः ॥ २ ॥

रक्तवर्णी महाकायं सर्वाभरण भूषितम् ॥

पाशांकुशाक्षाभीष्टञ्च दधानं करपङ्कजैः ॥ ३ ॥

गजाननं प्रभुं ध्यात्वा गन्धादिभिरनुक्रमात् ॥

अभ्यर्च्य पायसापूपनारिकेलगुडादिभिः ॥ ४ ॥

परितोष्य नमस्कृत्य निर्विघ्नं प्रार्थयेत्ततः ॥

औपासनाग्नौ कर्तव्यं स्वगृहोक्तविधानतः ॥ ५ ॥

आज्यभागान्तमग्रेर्यन्मुखतः क्रमतः परम् ॥

भूस्वाहेति बुचा पूर्णाहुतिं हुत्वा समाप्य च ॥ ६ ॥

गायत्रीं प्रजपेद्यावद पराङ्गमतन्द्रितः ॥

अथ सायंतनीं सन्ध्यामुपास्य स्नानपूर्वकम् ॥ ७ ॥

सायमौपासनं हुत्वा गुरुं विज्ञाप्य वाग्यतः ॥

अपयित्वा चरुं तस्मिन् समिदन्नाज्यभेदतः ॥ ८ ॥

हुत्वा शौद्रेण सूक्तेन सद्योजातादि पञ्चभिः ॥



ब्रह्मभिश्च महादेवं साम्बं वद्वौ विभावयेत् ॥ ६ ॥  
 गौरीमिमाय मन्त्रेण हुत्वा गौरीमनुस्मरन् ॥  
 ततोऽग्नये स्विष्टकृते स्वाहेति जुहुयात् सकृत् ॥ १० ॥  
 हुत्वोपरिष्ठात्तन्त्रन्तुततोऽग्नेरुत्तरे बुधः ।  
 स्थित्वासने जपेन्मौनी चैजाजिन कुशोत्तरे ॥ ११ ॥  
 यावद्ब्रह्ममुहूर्त्तन्तु गायत्रीं दृढमानसः ॥  
 ततः स्नात्वा त्वशक्तश्चेद्ब्रह्मना वा विधानतः ॥ १२ ॥  
 श्रपयित्वा चरुं तस्मिन्नग्नावे वाभिघारितम् ॥  
 उदगुद्वास्य वह्निष्या सादूयाज्येन ततश्चरुम् ॥ १३ ॥  
 अभिघार्य व्याहृतीश्च रौद्रसूक्तञ्च पञ्च च ॥  
 जपेद्ब्रह्माणि सन्धार्य चित्तं शिवपदाम्बुजे ॥ १४ ॥  
 प्रजापति मथेन्द्रञ्च विश्वान् देवांस्ततः परम् ॥  
 ब्रह्माणञ्च चतुर्थ्यंतं स्वाहान्तान् प्रणावादिकान् ॥ १५ ॥  
 संजप्य वाचयित्वाथ पुण्याहं च ततः परम् ॥  
 परस्तात्तन्त्रमग्नये स्वाहृत्यग्निं मुखावधि ॥ १६ ॥  
 निर्व्वर्त्य पश्चात् प्राणाय स्वाहेत्यारभ्य पञ्चभिः ॥  
 हुत्वा ततश्च रौद्रेण सूक्तेन ब्रह्मभिः क्रमात् ॥ १७ ॥  
 स्वशाखा क्रमतो हुत्वा समिदन्नाज्य भेदतः ॥  
 महेशादि चतुर्व्यूहं स्वस्वव्यूहन मन्त्रतः ॥  
 सशक्तिकमणो हुत्वा समिदन्नाज्य भेदतः ॥  
 साज्येन चरुणा पश्चादग्निस्विष्टकृतं हुनेत् ॥ १८ ॥  
 पुनश्च प्रजपेत् सूक्तं रौद्रं ब्रह्माणि पञ्च च ।  
 महेशादि चतुर्व्यूह मन्त्रांश्च प्रजपन् पुनः ॥ २० ॥

हुत्वोपरिष्ठातन्त्रन्तु स्वशाखोक्तेन वर्त्मना ॥  
 तत्तेदेवान् समुद्दिश्य त्यागं कुर्याद्विचक्षणः ॥ २१ ॥  
 एवमग्निमुखाद्यन्तत् कर्म तन्त्रं प्रवर्तितम् ॥  
 अतः परं प्रजुहुयाद्विरजाहोममात्मनः ॥ २२ ॥  
 पङ्क्तिविंशतत्त्वरूपेऽस्मिन् देहे लीनस्य शुद्धये ॥  
 तत्त्वान्येतानि मेदेहे शुध्यन्तामित्यनुस्मरन् ॥ २३ ॥  
 तत्रात्मतत्त्वशुद्धयर्थं मन्त्रैरारुणा केतुके ॥  
 पद्ममानैः पृथिव्यादि पुरुषान्त क्रमान्मुने ॥ २४ ॥  
 साज्येन चरुणा मौनी शिवपादाम्बुजं स्मरन् ॥  
 पृथिव्यादि च शब्दादि वागाद्यं पञ्चकं पुनः ॥ २५ ॥  
 श्रोत्राद्यञ्च शिरः पार्श्वं पृष्ठोदरं चतुष्टयम् ॥  
 जङ्घाश्च योजयेत् पश्चात्त्वगाद्यं धातुसप्तकम् ॥ २६ ॥  
 प्राणाद्यं पञ्चकं पश्चादन्नाद्यं कोशपञ्चकम् ॥  
 मनो रेतश्च बुद्धिश्चाहंकृतिः ख्यातिरेवच ॥ २७ ॥  
 संकल्पश्च गुणाः पश्चात् प्रकृतिः पुरुषस्य तु ॥  
 भोक्तृत्वं प्रतिपन्नस्य भोजने च प्रयत्नतः ॥ २८ ॥  
 अन्तरङ्गतया तत्त्वपञ्चकं परिकीर्तितम् ॥  
 नियतिः कालरागश्च विद्या च तदनन्तरम् ॥ २९ ॥  
 कला च पञ्चकमिदं मायोत्पन्नं मुनीश्वर ॥  
 मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्माया श्रुतिरितीरिता ॥ ३० ॥  
 तज्ज्ञान्येतानि तत्त्वानि श्रुत्युक्तानि न संशयः ॥  
 कालः स्वभावो नियतिरिति च श्रुतिर्ब्रवीत् ॥ ३१ ॥  
 एतत् पञ्चकमेवास्य पञ्चकञ्चुकमुच्यते ॥



अजानन् पञ्चतत्त्वानि विद्वानपि विमूढधीः ॥ ३२ ॥  
 नियत्यधस्तात् प्रकृतेरुपरिस्थः पुमानयम् ॥  
 काकाक्षिन्यायमाश्रित्य वर्तते पार्श्वतोऽन्वहम् ॥ ३३ ॥  
 विद्यातत्त्वमिदं प्रोक्तं शुद्धविद्या महेश्वरौ ॥  
 सदाशिवश्च शक्तिश्च शिवश्चेदन्तु पञ्चकम् ॥ ३४ ॥  
 शिवतत्त्वमिदं ब्रह्मन् प्रज्ञानब्रह्मवाक्यतः ॥  
 पृथिव्यादिशिवान्तं यत्तत्त्वजातं मुनीश्वर ॥ ३५ ॥  
 स्वकारणक्षयद्वारा शुद्धिरस्य विधीयताम् ॥  
 एकादशानां मन्त्राणां परस्मैपदपूर्वकम् ॥ ३६ ॥  
 शिवज्योतिश्चतुर्थ्यन्तमिदं पदमथोच्चरेत् ॥  
 नममेति वदेत् पश्चादुद्देशत्याग ईरितः ॥ ३७ ॥  
 अतः परं विविटीति कषोत् कायेति मन्त्रयोः ॥  
 व्यापकाय पदस्यान्ते परमात्मन इत्यपि ॥ ३८ ॥  
 शिवज्योतिश्चतुर्थ्यन्तं विश्वभूतपदं पुनः ॥  
 घोसनात् सुकशब्दञ्च चतुर्थ्यन्तमथो वदेत् ॥ ३९ ॥  
 लोकत्रयपदस्यान्ते व्यापिने परमात्मने ॥  
 परस्मै पदमुच्चार्य देवाय पदमुच्चरेत् ॥ ४० ॥  
 उतिष्ठस्वेति मन्त्रस्य विश्वरूपायशब्दतः ॥  
 पुरुषायपदं ब्रूयादौ स्वाहेत्यस्य संवेदेत् ॥ ४१ ॥  
 लोकत्रय पदस्यान्ते व्यापिने परमात्मने ॥  
 शिवायेदं न मम च पदं ब्रूयादतः परम् ॥ ४२ ॥  
 स्वशाखोक्तप्रकारेण पुरस्तात्तन्त्रकर्मच ॥  
 निर्व्वर्त्य सर्पिषा मिश्रं चरुं प्राश्य पुरोधसे ॥ ४३ ॥

प्रदद्यादक्षिणान्तस्मै हेमादिपरिवृंहिताम् ॥  
 ब्रह्माणमुद्वास्य ततः प्रातरौपासनं हुनेत् ॥ ४४ ॥  
 सं मा सिञ्चन्तुमरुत इति मन्त्रं जपन् मुनिः ॥  
 या ते अग्न इत्यनेन मन्त्रेणाम्नौ प्रताप्य च ॥ ४५ ॥  
 हस्तमग्नौ समारोप्य स्वात्मन्यद्वैतधामनि ॥  
 प्राभातिकीं ततः सन्ध्यामुपास्यादित्यमप्यथ ॥ ४६ ॥  
 उपस्थाय प्रविश्याशु नाभिदध्ने प्रवेशयेत् ॥  
 आहिताग्निं स्तु यः कुर्यात् प्राजापत्येष्टिमाहुते ॥ ४७ ॥  
 श्रौते वैश्वानरे सम्यक् सर्ववेदस दक्षिणाम् ॥  
 अथाग्निमात्मन्यारोप्य ब्राह्मणः प्रब्रजेदगृहात् ॥ ४८ ॥  
 सावित्री प्रथमं पादं सावित्रीमित्युदीर्य च ॥  
 प्रवेशयामिशब्दान्तं भूरोमिति च संवदेत् ॥ ४९ ॥  
 द्वितीयं पादमुच्चार्य सावित्रीमितिपूर्वकम् ॥  
 प्रवेशयामिशब्दान्ते भूवरोमिति संवदेत् ॥ ५० ॥  
 तृतीयं पादमुच्चार्य सावित्रीमिति पूर्ववत् ॥  
 प्रवेशयामि शब्दान्ते सुवरोमिति संवदेत् ॥ ५१ ॥  
 पादद्वयमथोच्चार्य सावित्रीमित्यतः परम् ॥  
 प्रवेशयामिशब्दान्ते भूरोमिति वदेदथ ॥ ५२ ॥  
 तृतीयं पादमुच्चार्य सावित्रीमित्यतः परम् ॥  
 प्रवेशयामीति वदन् भुवरोमितिसंवदेत् ॥ ५३ ॥  
 त्रिपदमुच्चरेत् पूर्वं सावित्रीमित्यतः परम् ॥  
 प्रवेशयामिशब्दान्ते सुवरोमित्युदीरयेत् ॥ ५४ ॥  
 इयं भगवती साक्षाच्छङ्करार्द्धशरीरिणी ॥



पंचवक्त्रा दशभुजा त्रिपंचनयनोज्ज्वला ॥ ५५ ॥  
 नवरत्न किरीटोद्यच्चन्द्रेलखावतंसिनी ॥  
 शुद्धस्फटिकसंकाशा दशायुधधरा शुभा ॥ ५६ ॥  
 हारकेयूर कटक रशना नूपुरादिभिः ॥  
 भूषितावयवा देवऋषि गन्धर्व्वदानवैः ॥ ५७ ॥  
 मानवैश्च सदा सेव्या सर्व्वात्मव्यापिका शिवा ॥  
 सदाशिवस्य देवस्य धर्मपत्नी मनोहरा ॥ ५८ ॥  
 यो ह्यन्यथा नयेत् पापी गायत्रीं शिवरूपिणीम् ॥  
 स पच्यते महाघोरे नरके कल्पसंख्यया ॥ ५९ ॥  
 सा व्याहृतिभ्यः संजाता तास्वेव विलयं गता ॥  
 ताश्च प्रणवसम्भूताः प्रणवे विलयं गताः ॥ ६० ॥  
 प्रणवः सर्व्ववेदादिः प्रणवः शिववाचकः ॥  
 शिवो वा प्रणवो ह्येष प्रणवो वा शिवः स्मृतः ॥ ६१ ॥  
 वाच्य वाचकयोर्भेदो नात्यन्तं विद्यते यतः ॥  
 तस्मादेकाक्षरं देवं शिवं परमकारणम् ॥ ६२ ॥  
 उपासते यतिश्रेष्ठा हृदयाम्भोजमध्यगम् ॥  
 एवं विलाप्य गायत्रीं प्रणवे शिववाचके ॥ ६३ ॥  
 अहंवृत्तस्य रेखित्यनुवाकं जपेत् पुनः ॥  
 यच्छन्दसामृषभ इत्यनुवाकमुपक्रमात् ॥ ६४ ॥  
 गोपायान्तं जपन् पश्चादेषणानां त्रयं त्यजेत् ॥  
 पुन्रैषणायाश्च ततो व्युत्थितोऽहमिति क्रमात् ॥ ६५ ॥  
 वित्तैषणायाश्च तथा व्युत्थितोऽहमिति ब्रुवन् ॥  
 लोकैषणायाश्च तथा व्युत्थितोऽहमितीरयेत् ॥ ६६ ॥

वदेज्जपेत् त्रिधा मन्दमध्येच्छ्राय क्रमान्मुने ॥  
 प्रणवं पूर्वमुद्धृत्य सृष्टिस्थिति खयक्रमात् ॥ ६७ ॥  
 तेषामथ क्रमाद्ब्रूयाद्भूः संन्यस्तं भुवस्तथा ॥  
 संन्यस्तं सुवर्तियुक्ता संन्यस्तं पदमुच्चरन् ॥ ६८ ॥  
 सर्वमन्त्राधः प्रदेशे मयेति च पदं वदेत् ॥  
 प्रणवं पूर्वमुद्धृत्य समष्टि व्याहृतीर्वदेत् ॥ ६९ ॥  
 संन्यस्तमित्यतो ब्रूयान्मयेति च सम ब्रवीत् ॥  
 सदाशिवं हृदि ध्यात्वा मन्दादीति ततो मुने ॥ ७० ॥  
 प्रैषमन्त्रांश्च जप्तैवं सावधानेन चेतसा ॥  
 अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहेति संजपन् ॥ ७१ ॥  
 प्राच्यां दिश्यप उद्धृत्य प्रक्षिपेदञ्जलिं ततः ॥  
 शिखांयज्ञोपवीतंच गायत्र्योत्पाद्य पाणिना ॥ ७२ ॥  
 गृहीत्वा प्रणवं भूश्च समुद्रं गच्छ संवदेत् ॥  
 वह्निजायां समुच्चार्य सोदकाञ्जलिना ततः ॥ ७३ ॥  
 अप्सु हुयादथ प्रैषैरभिमन्त्र्य त्रिधात्वपः ॥  
 प्राश्याचम्य समागम्य भूमौ वस्त्रादिकं त्यजेत् ॥ ७४ ॥  
 उदङ्मुखः प्राङ्मुखोवा गच्छेत् सप्तपदाधिकम् ॥  
 किञ्चिद्दूरमथाचार्यं स्तिष्ठ तिष्ठेति संवदेत् ॥ ७५ ॥  
 लोकस्य व्यवहारार्थं कौपीनं दण्डमेवच ॥  
 भगवन् स्वीकुरुष्वेति दद्यात् स्वेनैव पाणिना ॥ ७६ ॥  
 श्रुत्वा सङ्घोरं कौपीनं काषायवसनं ततः ॥  
 आच्छाद्याचम्य च द्वेधा तं शिष्यमिति संवदेत् ॥ ७७ ॥  
 इन्द्रस्य वज्रोसि तत इति मन्त्रमुदाहरन् ॥



संपार्थ्यदण्डं गृहीयात् सखा मा इति संजपन् ॥ ७८ ॥  
 अथ गत्वा गुरोः पार्श्वं शिवपादाम्बुजं स्मरन् ॥  
 प्रणम्य दण्डवद्भूमौ त्रिवारं पुनरुत्थितः ॥ ७९ ॥  
 कृताञ्जलिपुटस्तिष्ठेद्गुरुपादसमीपतः ॥  
 कर्म्मरम्भात् पूर्वमेव गृहीत्वा गोमयं शुभम् ॥ ८० ॥  
 स्थूलामलकमात्रेण कृत्वा पिण्डान् विशोष्यच ॥  
 सौरैस्तु किरणैरेव होमारम्भाग्निमध्यगान् ॥ ८१ ॥  
 निलिप्य होमसंपूर्णौ भस्म संगृह्य गोपयेत् ॥  
 ततो गुरुः समादाय विरजानलजं सितम् ॥ ८२ ॥  
 भस्म तेनैव तं शिष्यमग्निरित्यादिभिः क्रमात् ॥  
 मन्त्रैरङ्गानि संस्पृश्य मूर्द्धादिचरणांततः ॥ ८३ ॥  
 ईशानाद्यैः पञ्चमन्त्रैः शिर आरभ्य सर्व्वतः ॥  
 समुद्धृत्य विधानेन त्रिपुण्ड्रधारये ततः ॥ ८४ ॥  
 त्र्ययायुषैस्त्यं वकैश्च मुद्गरैर्भ्य यथा क्रमम् ॥  
 हृत्पङ्कजे समासीनं ध्यात्वा शिवमुमासखम् ॥ ८५ ॥  
 हस्तं निधाय शिरसि शिष्यस्य प्रीतमानसः ॥  
 ऋष्यादिसहितं तस्य दक्षकणौ समुच्चरेत् ॥ ८६ ॥  
 प्रणवं त्रिप्रकारन्तु ततस्तस्यार्थमादिशेत् ॥  
 षड्विधार्थपरिज्ञानसहितं गुरुसत्तमः ॥ ८७ ॥  
 द्विषट्प्रकारं स गुरुं प्रणम्य भुवि दण्डवत् ॥  
 तदधीनो भवेन्नित्यं वेदान्तार्थानुसारतः ॥ ८८ ॥  
 शिवज्ञानपरो भूयाच्छ्रवणाद्यङ्गपूर्व्वकम् ॥  
 प्राभातिकाद्यनुष्ठानं जपान्तं कारयेद्गुरुः ॥ ८९ ॥

पूजाश्च मण्डले तस्मिन् कैलासप्रस्तराह्वये ॥  
 शिवोदितेन मार्गेण शिष्यस्तत्रैव पूजयेत् ॥ ६० ॥  
 देवं नित्यमशक्तश्चेत् पूजितुं गुरुणा शुभम् ॥  
 स्फाटिकं पीठिकोपेतं गृहीयाद्विष्णुमैश्वरम् ॥ ६१ ॥  
 वरं प्राणपरित्यागरहेदनं शिरसोऽपि मे ॥  
 न त्वनभ्यर्च्य भुञ्जीयां भगवन्तं त्रिलोचनम् ॥ ६२ ॥  
 एवं त्रिवारमुच्चार्य शपथं गुरुसन्निधौ ॥  
 तस्मिन्नेव महादेवं नित्यमुदयुक्तमानसः ॥  
 पूजयेत्परया भक्त्या पंचावरणमार्गतः ॥ ६३ ॥

इति श्री शिव महापुराणे कैलाससंहितायामुत्तरभागे  
 नवमाऽध्याये सन्यासविधिः समाप्तः ॥ इति ॥

( आत्मपुराणे एकादशाध्याये अग्न्याधानविधिमाह ॥ )

अग्निहोत्री निजैरेव वह्निभिः श्रुतिचोदितैः ॥  
 आग्नेयीं प्रविधायैव कुर्यात् त्रैधातवीं ततः ॥ १ ॥  
 इष्टिमौपासनीं तद्वत् प्राजापत्यां समाचरेत् ॥  
 निजाम्निनापि विधुर स्तामेव विधुराग्निना ॥ २ ॥  
 ब्रह्मचर्यादयः सर्व्वेऽलौकिके जातवेदसि ॥  
 स्थानात् पवित्रादानीते कर्म कुर्य्युरिदं सदा ॥ ३ ॥  
 आहितानाहितानीनामनग्नीनांच केचन ॥  
 प्राजापत्याभिधामिष्टि मिच्छन्ति न परे तथा ॥ ४ ॥  
 इष्टिं कृत्वाथवाऽकृत्वा साग्निर्वापि निरग्निकः ॥  
 वक्ष्यमाणमिदं कर्म कुर्यात् सर्व्वं द्विजोत्तमः ॥ ५ ॥  
 ब्राह्मेमुहूर्त्त उत्थाय स्नात्वा विप्रो यथा विधि ॥



जलतो मन्त्रतो वापि भस्मना वा स्वशक्तिः ॥ ६ ॥  
अग्नौ ततश्चरुं विद्वान् श्रपयेत् स्वात्मनः सदा ॥  
प्रागुदग्वाथ तं पक्वं चरुमुद्वासयेत्ततः ॥ ७ ॥  
अभिघार्यजपेत् पश्चाद्व्याहृति त्रयमात्मवान् ॥  
तथा पुरुषसूक्तं च मन्त्रानेतांश्च धर्मवित् ॥ ८ ॥  
इन्द्राय प्रवदेत् स्वाहाथ प्रजापतयेपि च ॥  
स्वाहा विश्वेभ्य एतेभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मणेऽपि च ॥ ९ ॥  
स्वाहान्तद्वयमप्येतदुच्चरेत् पूर्ववद्विजः  
चत्वारः कथिता मन्त्रा एत इन्द्रादिदेवताः ॥ १० ॥  
इदं सर्व्वजपित्वाथ पुण्याहं वाचयेत् पुनः  
सूचाज्यं परिगृह्याथ जुहुयाद्वि मुखाहुतिम् ॥ ११ ॥  
स्वाहान्तमग्नये मन्त्रमुच्चार्य्येदं समाहितः ॥  
प्राणाहुतिसमुद्दिष्टैर्जुहुयान्मन्त्र पंचकैः ॥ १२ ॥  
पौरुषेणापि सूक्तेन स्वशाखापठितेन हि ॥  
समिदाज्य चरुं स्तद्वज्जुहुयात् क्रमतो द्विजः ॥ १३ ॥  
अग्नये जुहुयादाज्याहुत्यास्विष्टकृते ततः ॥  
जपेच्च पौरुषं सूक्तं स्वशाखोक्तप्रकारतः ॥ १४ ॥  
उपरिष्ठात्ततस्तन्त्रं विरजाहोमसंयुतम् ॥  
पूर्णाहुत्या च संयुक्तं प्रविधाय चरुं ततः ॥ १५ ॥  
प्राशयेत् क्रमएषोत्र ज्ञातव्यः शास्त्रवेदितः ॥  
आज्येन चरुणासार्द्धं विरजाहोम ईरितः ॥ १६ ॥  
विरजाहोमतः पश्चाच्चरुं संप्राश्यसर्पिषा ॥  
आचम्य जुहुयात् पश्चात् पूर्णाहुति मन्त्रितः ॥ १७ ॥

ॐ स्वाहेति च सन्त्रेण ब्राह्मणो नियतःश्रुचिः ॥  
 इष्टिः सर्वापि साग्नेः स्यान्निरग्नेनैवकाचन ॥ १८ ॥  
 इति केचिद्वदन्तन्ये प्राजापत्या विवर्जितम् ॥  
 औपासनाग्निसंयोगात् प्राजापत्येष्टिरिष्यते ॥ १९ ॥  
 वचनादेव सर्वेषां चतुर्थीश्रमसंग्रहे ॥  
 प्राजापत्येष्टिरुदितानिषादस्थपतीष्टिवत् ॥ २० ॥  
 ततः साग्नेर्निरग्नेः स्यादिष्टिरेषेति केचन ॥  
 एवमेते त्रयः पक्षाःश्रौतेस्मार्त्ते च लौकिके ॥ २१ ॥  
 बद्धाविष्टौ मयोक्ता स्ते विप्राणां मतभेदतः ॥  
 त्रैधातवीतथाग्नेयी इष्टिरुक्ताग्निहोत्रिणः ॥ २२ ॥  
 भवेत् सा परहंसानां नान्यत्रेति च केचन ॥  
 परहंसाश्रमादन्यं न्यासं चेदाग्निहोत्रिणः ॥ २ ॥  
 कुर्युस्तत्रप्रकुर्वीरन् प्राजापत्येष्टिमादरात् ॥  
 एवं विषयतः प्राहुर्व्यवस्थां हि द्विजोत्तमाः ॥ २४ ॥  
 पौराणिका आहिताग्नेरन्यत्रेष्टिनिवारकाः ॥  
 त्रैधातवीतथाग्नेयी सर्वथैवाग्निहोत्रिणः ॥ २५ ॥  
 प्राजापत्या कृतेवादो वर्ततेत्र द्विजन्मनाम् ॥  
 मुखाहुति मुखं चैतत् पुर्णाहुत्यंतमीरितम् ॥ २६ ॥  
 अविवादं परेहंसे सर्वेषां द्विजन्मनाम् ॥  
 अग्नौश्रौते तथास्मार्त्ते लौकिके वा विधायतत् ॥ २७ ॥  
 कर्मसर्वं ततः कुर्यादौत्तरं परिषेचनम् ॥  
 ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां दद्याद्वलीवर्द्धं सकाञ्चनम् ॥ २८ ॥  
 चर्वाज्यै स्तथाशेषमन्यञ्चापि स्वशक्तिः ॥



क्षमाप्यतां स्तथा बन्धूनन्यानपि विसर्ज्य च ॥ २६ ॥

पुत्रदारादिकान् सर्वान्निःसङ्गो यतिवद्भवेत् ॥

स्वजनाश्च ततः सर्वे स्नेहमात्रविवर्जिताः ॥ ३० ॥

स्वस्व स्थानानि गच्छेयुः प्रहृष्टमनसोऽपि वा ॥

स्थितिं तत्रैव ते कुर्युः प्रेक्षका इव कौतुकम् ॥ ३१ ॥

प्रातर्होमादिकं तत्र कुर्यात् स स्नेहवर्जितः ॥

समासिञ्चन्तु मेत्यादि मन्त्रादग्नेरुपस्थितः ॥ ३२ ॥

कृत्वा यातेह्ययन्ते वा तयोरन्यतरेण वा ॥

त्रिवारं मन्त्रतः स्वीयमग्निमारोपयेद्द्विजः ॥ ३३ ॥

यदा न विद्यते वङ्गिः श्रौतः स्मार्त्तोऽपि लौकिकः ॥

अपूस्वेवात्र तदाहोमं कृत्वा कुर्यात् स्वरोपणम् ॥ ३४ ॥

उदरे स्वेसमारोप्य वङ्गिं श्रित्वा ततो द्विजः ॥

पूर्वमारोपितां तत्र सावित्रीं संस्मरेत् पुनः ॥ ३५ ॥

ततो गत्वा जलाभ्यासं प्रातः सन्ध्यामुपास्य च ॥

नाभिदध्ने जले स्थित्वा जपेन्मन्त्रानमूस्ततः ॥ ३६ ॥

प्राहृतानूर्द्धवाहुः सन्नहं वृक्षस्य रेखिवा ॥

इत्यादिवच इत्यन्तं तद्वदयश्छन्दसामिति ॥ ३७ ॥

नववाक्यान्यथो पुत्रैषणाया इति वा जपेत् ॥

एतदन्ते प्रकुर्वीत व्याहृतित्रयतः पुमान् ॥

त्रिःसंन्यस्तं मयेत्येवं मन्दमध्योत्तरस्वरैः ॥ ३८ ॥

इत्यात्मपुराणे संन्यासविध्युक्तम् ॥

विश्वेश्वरमतं स्मर्यते ॥ अतोऽन्याधानानन्तरं ब्राह्मे  
मुहूर्ते यत् कर्तव्यं तदाह ॥ शौनकः । ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय

यथाविधि स्नात्वा प्रातरग्निकार्यं कृत्वा व्याहृतीर्जपित्वा  
तरत् समन्दीधावतीति सूक्तमप्सु जपेत् ॥ इति ॥

दत्तात्रेयः ॥ ब्रह्मरात्रं ततो दद्यात् पौर्णमास्यां द्विजोरामः ॥

प्रातर्हुत्वा स्वकल्पेन कृत्वा स्नानादिकां क्रियां ॥ १ ॥

प्राजापत्यां प्रतिपदि कृत्वेष्टिन्तुयथाविधि ॥

ततो विप्राय दद्यात् सव्वेदसदक्षिणामिति ॥ २ ॥

अथवा । अहिताग्नि वैश्वानरीष्टिं कुर्यात् । तथा  
च श्रुतिः । आग्नेयीमेव कुर्यात् । अग्ने  
वैश्वानराय द्वादशकपालं पुरोडाशं निर्व्वपति  
प्राजापत्यं चरुं वैष्णावं नवकपालं चेति । तत्र विशेषो  
वौधायनेनोक्तः ॥ देवतायजनोद्धेखन प्रभृत्यग्निमुखान्तं  
कृत्वा पङ्क्त्यां जुहोति वैश्वानराय प्रतिवेद्यां । इति पुरोऽनुवा-  
क्यामनूच्य वैश्वानरः पवमान पवित्रेणोति । अथाज्याहुती  
ज्जुहोति वैश्वानरो न उहुतय इत्यष्टाभिरनुब्रूयन्समग्नये  
स्वाहेति । अथैनमुपतिष्ठते । सहस्रशीर्षा पुरुष इत्यनेना-  
नुवाकेन स्विष्टकृतप्रभृति सिद्धमाधेनुवरप्रादानात् ।  
अथाग्नेरग्रेदर्भस्तम्भेषु हुतशेषं निदधाति । सर्व्वो वै रुद्रं विश्वं  
भूतमिति द्वाभ्यामुन्मृज्येत्यग्निं आयुर्दा अग्नेर्हविषोजुषाणा  
॥ इति ॥ अथ पक्वादुपादाय प्रक्षाल्य प्राश्नाति । सहस्र  
शीर्षा पुरुष इत्यनुवाकेन प्राश्याचम्यात्मानं प्रत्यभिमृश्यति  
ॐमिति ब्रह्मेत्येतेनानुवाकेन । अथाग्निद्रव्यमग्नौ  
प्रक्षिप्यात्मन्यग्नीन् समारोपयेत् । याते अग्ने र्यज्ञिया  
तनूरिति । तत्रैव विशेषमाह शौनकः ॥ प्राजापतयद्ब्रह्म



पुनराहवनीय मुद्धृत्य प्राणापनौ समौ कृत्वा सर्व्वं निदधाति  
यच्च पूर्त्तं यच्च प्रजापतौ तन्मनसि जुहोमि  
विमुक्तोऽहं देवकिल्बिषात् स्वाहा । अयन्तेयोनिऋत्विष्य  
इत्यात्मन्यग्नीन् समारोपयति । प्राणेनगार्हपत्यं । अपानेन  
दक्षिणाग्निं व्यानेनाहवनीयमुदानेनावसथ्यं समानेन  
सभ्यं पुनराहवनीयं गत्वाद्भ्यःसंभूत इत्यादित्यमुपस्थाप्यो-  
त्तर नारायणेन गृहान्निःक्रमेदिति । पात्रविशेषाणां प्रति-  
पत्तिमाह । दत्तात्रेयः ॥ मृन्मयान्यश्ममयानिचाप्सु  
जुहुयात् । गुरवे तैजसानि पात्राणि दद्यादिति । यमसं-  
हितायां ॥ ततश्चाहवनीयाख्ये हुत्वा पात्राणि मन्त्रतः ॥  
असौ स्वर्गायलोकाय स्वाहेत्येवं निधापयेत्अयन्ते योनि  
रित्येवं समारोप्यात्मनो मुखे । ततो वैश्वानरं ध्यायेत्  
स्वर्गाख्यं विश्वतोमुखं ॥ अथवा गार्हपत्येऽग्नौ जुहुयाद-  
रणिं बुधः । अयमग्निं गृहपतिर्मन्त्रेणानेन भावितः अयंते  
योनि रित्येवं समारोप्यात्मनो हृदि ॥ ततो वैश्वानरं  
ध्यायेत् भूसंज्ञं विश्वतोमुखम् जुहुयाद्दक्षिणेऽग्नौ च  
मुशलोबूखलेततः । अयमग्निः पुरीष्येति मन्त्रेणानेन  
यत्नतः । अयंतेयोनिरित्येवं मनस्यारोप्य वेदवित् ।  
ध्यायेत्वैश्वानरं देवमन्त रिद्धाख्यमव्ययं । गत्वाथगार्हपत्यन्तु  
सूक्तं वै पौरुषं जपेत् ॥

वेद्यां मध्ये ततः स्थित्वा ओमिति तु जपेद्द्विज इति ॥  
एकाग्रिरनग्निर्वा शैलकोक्तेन विधिना चरुं श्रापयित्वा  
होमादिकं कुर्यात् । अत्र पुरुषसूक्तेन चर्वाज्यहोमानन्तरं

विरजाहोममपि केचिदाहुः । तदुक्तं शिवगीतायां । जुहुया-  
द्विरजामन्त्रैः प्राणापानादिभिस्तथा । अनुवाकान्तमेकाग्रं  
समिदाज्यं चरुं पृथक् ॥ इति ॥ तदुच्यते ॥ ब्राह्मे सुहूर्ते  
उत्थाय यथा विधिस्नात्वा प्रातरग्निकार्यं कृत्वा व्याहृतीर्ज-  
पित्वा तरत् समंदीधावतीति सूक्तमप्सुजपित्वा स्वगृहोक्तेन  
विधिना चरुं श्रपयित्वा अग्निमुपसमाधाय प्राणाय  
स्वाहा । अपानाय स्वाहा । समानाय स्वाहा । व्यानाय  
स्वाहा । उदानाय स्वाहा । इत्याज्य होमं कृत्वा । अथ  
पुरुष सूक्तेन प्रतिमन्त्रेण चरुमाज्य होमं <sup>प्राज्यं</sup> च कृत्वा । पुरुष  
सूक्तं जपित्वा प्रणीता पात्रं संमृज्या ऽसौ स्विष्टान्तं हुत्वा  
आचार्यायाज्य पात्रं हिरण्यं धेनुं च दत्वा आचार्यं पुरतो-  
ऽवस्थितः सन् समासि श्रन्तुमरुतः समिन्द्रः सं बृहस्पतिः  
समायमग्निः सिञ्चत्वायुषा च वलेन चायुष्मन्तं करोतु  
मामिति जपित्वा या ते अग्ने र्यज्ञिया तनूस्तये ह्यारो  
हात्मनात्मानं अच्छावसूनि कृण्वन् स्मनर्या पुरुषि यज्ञो  
भूत्वा यज्ञमासीद स्त्वां योनि जातवेदो भुवः । अजायमानः  
संभूय एहीति त्रिरात्मन्यग्निं समारोप्येति । अनग्ने स्तु  
समारोप्य एवनास्ति तत्र बह्वृचपरिशिष्टे । अथात्मन्यग्नीन्  
समारोपयेदेकाग्निरेकाग्निं अनग्निर्न कञ्चनेति । अनग्नेः  
कपिलप्रोक्तेन विधिना संन्यासकर्तव्यत्वमपि संक्षेपतो दर्श-  
यिष्यामः ॥ नान्दीमुख ब्राह्मणभोजन पुण्याहवाचन  
केशश्मश्रुलोमनखवपन स्नान सर्व्वदण्डदानादि सन्निधाय  
त्रिवृत् प्राशन सावित्री प्रवेशन सन्ध्याराधनानि कृत्वोपास्य



स्नात्वा सन्ध्याराधनं कृत्वा देवर्षिं पितृतर्पणं कृत्वाच अद्भ्यः  
 स्वाहा ॥ पुत्रैषणायाश्च इति पूर्वोक्तं । व्युत्थितो ऽहं स्वाहेत्य  
 प्सु एव अपः पाणिना हुत्वा यथाविधि प्रैषमुक्त्वा अभयं  
 सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहेत्यभयदक्षिणां दत्त्वा यथा-  
 धिकारं यथा विधिनमस्कारं कृत्वा यथाविधि दण्डादिगृहीत्वा  
 स्वधर्मनिष्ठोभवेदिति ॥ साग्निं स्तु उक्तेन प्रकारेण विधिना  
 अग्निं समारोपं विधाय जलं गच्छेत् । ततः पुत्रं दृष्ट्वा त्वं ब्रह्म  
 इत्यादि वाक्यत्रयं जपेत् । तथा च शौनकः । पुत्रं दृष्ट्वा जपति त्वं  
 ब्रह्म त्वं यज्ञं स्वं लोक इति ॥ स पुत्रः प्रत्याह अहं ब्रह्म  
 अहं यज्ञो ऽहं लोक इति । कण्ठ श्रुतिः प्रमाणमाह ॥ सशि-  
 खान् केशान् निष्कृत्य विसृज्य यज्ञोपवीतं निष्क्रम्य पुत्रं  
 दृष्ट्वा त्वं ब्रह्मा त्वं यज्ञस्त्वं वयट् कारस्त्वं ॐकार स्वं स्वाहा  
 त्वं स्वधा त्वं धाता त्वं विधाता त्वं त्वष्टा त्वं प्रतिष्ठामीति । अथ  
 पुत्रो वदत्यहं ब्रह्माहं यज्ञो इत्यादि पठेत् । तथा च  
 बह्वृच परिशिष्टे । अथ पुत्रान् सुहृदो बन्धून् प्रत्याह । न मे  
 कश्चिन्नाहं कस्य चिदिति । तत आश्रमात् सन्यासाश्रमं  
 गच्छामीति संकल्पयेत् । ततोऽगृस्वेवोदकाहुतिद्वयमाह ॥  
 ॥ कपिलः ॥ अद्भ्यः स्वाहा पुत्रैषणायाश्च इत्यादि पूर्व-  
 णोक्तं ॥ ततो यज्ञोपवीतं द्विहस्ते गृहीत्वा ऽद्विरार्द्राकृत्य  
 वेदान्तं विज्ञानेति मन्त्रेणा प्सु जुहुयात् ॥ तथा च वौधायनः ॥  
 अथ यज्ञोपवीतं विसृज्याद्भिः संस्पृश्याप्सु जुहोतीति ॥  
 आरण्युपनिषदि च ॥ उपवीतं भूमौ चाप्सु वा विसृजेत्  
 इति ततः शिखार्थं रक्षितान् केशानुत्पाद्य भूः स्वाहेति

भूमावप्सु वा निक्षिपेत् ॥ तथा च कठश्रुतिः सशिखान् केशान्  
 निकृत्य विसृज्य यज्ञोपवीतं भूः स्वाहेति तथा षड्वर्णाश्रुति-  
 रपि सशिखं वपनं कृत्वा वहिः सूत्रं त्यजेद्बुधः ॥ ततः प्रैषोक्ति-  
 प्रकारमाह ॥ आरुणिश्रुतिः ॥ ब्रह्मसूत्रमहमेवेति विद्वान्  
 त्रिवृत् सूत्रं त्यजेद्विद्वान् य एवं वेद सन्यस्तं मया संन्यस्तं  
 मयेति त्रिरुक्ता अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं पूर्वर्त्तते ।  
 सखामागोपायज इत्यादि पूर्वोक्तम् । बह्वृचपरिशिष्टे ॥ प्राडमु-  
 खस्तिष्ठन् उर्ध्वं बाहुर्ब्रूयात् ॐ भूः सन्यस्तं मया इति पूर्वोक्तं ॥  
 वौधायन स्वन्यप्रकारमाह ॥ ॐ भूर्भुवःस्वः संन्यस्तं मया  
 सन्यस्तं मयेति त्रिरुपांशुक्तां त्रिरूचै स्त्रि वृत्त्याहि देवा इति  
 विज्ञायते । अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः इत्युपां पूर्णमञ्जलिं  
 निनयतीति ॥ ततो विष्णुं प्रार्थना प्रकारमाह ॥ यमः ॥

दत्वा तोयाञ्जलिं विप्रो भक्त्या संप्रार्थयेद्धरिम् ॥  
 सर्वदेवात्मके तोये तोयाहुति महं हरे ॥ १ ॥

दत्वा सर्ववैषणां त्यक्त्वा युष्मच्छरणा मागतः ॥  
 त्राहि मां सर्वलोकेश गतिरन्या न विद्यते ॥ २ ॥

सन्यस्तं मे जगन्नाथ मां त्राहि मधुसूदन ॥  
 त्राहि मां सर्व सर्वेश वासुदेव सनातन ॥ ३ ॥

सन्यस्तं मे जगद्व्योने पुण्डरीकाक्ष मोक्षद ॥  
 अहं सर्वाभयं दत्वा भूतानां परमेश्वर ॥

युष्मच्छरणमापन्न त्राहि मां पुरुषोत्तमेति ॥ ४ ॥

ततो दिग्भ्ररो भूत्वा किञ्चिदुदङ्मुखो गच्छेत् ततो



विविदिषुर्गुर्बनुज्ञया परावृत्य गुरुसमीपे तिष्ठेत् तदनुशास-  
नात् तथा संप्रदायविदः ॥

ततो दोर कौपीन वह्निर्वासः कन्या दण्डञ्च । क्रमेणै-  
कैकं प्रणवेनैव दद्यादिति ॥

॥ तथा बह्वचपरिशिष्टे ॥ अन्यत् सर्व्वं प्रणवेनेति ।  
तत इन्द्रस्यवज्रोऽसि इति पूर्व्वोक्तं ॥ मैत्रायणिश्रुतिः  
इन्द्रस्यवज्रोसीति । त्रीण वैणवान् दक्षिणपाणौ धारयेदेकं  
वा यद्येकं तदा स्वशिखं वपनं कृत्वा विसृज्य यज्ञोपवीतं  
चतुर्षु वर्णेष्वेकागारे भैक्षं समाश्रयेत् । माधुकरिचेति  
कामं मे वैणवं दण्डं धारयेदित्यारुणीश्रुतेः ॥

### अथदण्डलक्षणमाह ॥

(अत्रिः) धारयेद्वैणवं दण्डं न स्थूलं न कृशं तथा ॥

तस्यचाग्रेच मूलेच ग्रन्थित्यक्त्वा च धारयेत् ॥ १ ॥

द्विचत्वारि षडष्टौ वा द्युङ्गुलानि समाहितः ॥

न स्थूलं नातिरिक्तञ्च द्विगुणमूलतोऽग्रके ॥ २ ॥

भविष्यत् पुराणे ॥ दण्डंसुवैणवं सौम्यं सत्वचं समपर्व्वकं ॥

पुरायस्थानसमुत्पन्नं नानाकल्मषशोभितम् ॥ ३ ॥

अदग्धमहतं कीटैः पर्व्वग्रन्थि विराजितं ॥

स्वयं भूतन्तु मेदिन्यां शाखा वर्ज्जमृजुं शुभम् ॥ ४ ॥

नासादघ्न शिरस्तुल्यं ध्रुवोर्वा विभृयाद्वयतिः ॥ विष्णुपुराणे

एकदण्डी भवेद्वापि त्रिदण्डीचाथवा भवेदिति ॥ ५ ॥

एवं कात्यायनः ॥ एकदण्डधराऽमृण्डा ॥ इति ॥

॥ जामदग्नः ॥ दण्डात्मनोस्तु संयोगः सर्वदैव विधीयते ॥  
न दण्डेन विनागच्छेदिषु क्षेपत्रयं बुधः ॥ ६ ॥  
जलान्तरादिषु क्षिप्ते न कश्चिद्वेषभाग् भवेत् ॥  
शिष्यादिभिर्विनीतोऽपि नीत एव स आत्मना ॥ ७ ॥  
हस्तपादादिवत् शिष्य इति शिष्टा ब्रुवन्ति हि ॥ इति ॥

अथ दण्डस्वरूपादि लक्षणमाह ॥  
पालाशं ब्रह्मचर्य्यस्य वानप्रस्थस्य विल्वकम् ॥ ८ ॥  
यतीनां वैष्णवं दण्डं मन्यन्तु नैव धारयेत् ॥  
केशमितो ब्राह्मणानां ललाटं क्षत्रियस्य च ॥ ९ ॥  
घ्राणं संमितो वैश्यस्य यतीनां ब्रह्मरन्ध्रकः ॥  
एकदण्डी भवेद्वापि त्रिदण्डी वाथ वा भवेत् ॥ १० ॥

क्षत्रियवैश्ययोर्यत् दण्डधारणमुक्तं तदुपनयन-  
कालीनं विधिर्न तु यतिधर्मेऽस्ति ॥ एकदण्डधरा मुण्डा  
इति जामदग्न्यवचनात् ॥ दण्डन्तुवैष्णवंरम्यमिति  
पूर्वोक्तम् ॥ दण्डस्य निर्योनित्वं प्रशस्तमाह ॥  
नासादध्नं शिरस्तुल्यं भ्रुवोर्वा विभृयाद्यतिः ॥  
ब्रह्मदण्डसमोदण्डो यतीनामेव शस्यते ॥ ११ ॥  
धारयेद्वैष्णवं दण्डं न स्थूलं न कृशन्तथा ॥  
तस्य चाग्रे च मूले च ग्रन्थिं त्यक्त्वा तु धारयेत् ॥ १२ ॥  
द्वि चत्वारि षडष्टौ वा ह्यङ्गुल्यश्च समाहिताः ॥  
न न्यूनं नातिरिक्तं वा द्विगुणं मूलतोऽग्रके ॥ १३ ॥  
अतो न्यूनो न कर्तव्यो नाधिको न प्रशस्यते ॥  
कनिष्ठा ब्रह्मदण्डे च तर्जनीविष्णुदण्डके ॥ १४ ॥



मध्यमा रुद्रदण्डे च आसुरेऽङ्गुष्ठकं तथा ॥  
 उत्तमस्तु कनिष्ठेन तर्जन्या मध्यमः स्मृतः ॥ १५ ॥  
 मध्यमया कनिष्ठः स्यादङ्गुष्ठेनासुरोत्तमः ॥  
 दण्डलक्षणं । मूलस्थूलो भवेन्नारी मध्यस्थूलो नपुंसकं ॥ १६ ॥  
 समपर्वसमाकारः पुरुषो वैशावो मतः ॥  
 ॥ दण्डनामान्याहुः ॥ षड्भिः सुदर्शनं दण्डं नारायण-  
 मथाष्टभिः ॥ १७ ॥  
 गोपालं दशभिर्युक्तं द्वादशैर्वासुदेवकम् ॥  
 चतुर्दशैरनन्तञ्च अत ऊर्ध्वं न धारयेत् ॥ १८ ॥  
 पञ्चदण्डा यतीनाञ्च षष्ठञ्च नैवधारयेत् ।  
 अथ ब्रह्ममुद्रास्थापनमाह ॥  
 यतीनां वैशावो दण्डो नान्योग्राह्यो कथञ्चन ॥ १९ ॥  
 पादाङ्गुष्ठप्रमाणेन ब्रह्मरन्ध्रेण सम्मितम् ॥  
 पञ्चभागञ्च कुरुते ज्ञानवान्नतु मस्करी ॥ २० ॥  
 दण्डस्य तृतीये भागे ब्रह्ममुद्रा विधीयते ॥  
 केचिद्भागत्रयं कृत्वा अग्रभागं परित्यजेत् ॥ २१ ॥  
 बध्नीयान्मध्यभागान्ते ब्रह्ममुद्रां तु मस्करी ॥  
 भागद्वयं विहायोर्ध्वं चतुरङ्गुलमानतः ॥ २२ ॥  
 दण्डं कार्पाससूत्रेण वेष्टयेत् संप्रदायतः ॥  
 यज्ञोपवीतं सूत्रेण नवाङ्कसमलाञ्छितः ॥ २३ ॥  
 पूर्वोत्तराभ्यां भागाभ्यां वेष्टयेत्तमखण्डितम् ॥  
 अकारोकारमकाराऽर्धमात्रा चतुरङ्गुलम् ॥ २४ ॥  
 दण्डस्य चोर्ध्वलिङ्गस्य वेष्टयेत् संप्रदायतः ॥

ब्रह्मग्रन्थिः विष्णुग्रन्थिः रुद्रग्रन्थिस्तथैव च ॥ २५ ॥  
 तस्याग्रे चैकग्रन्थिश्च कल्पनीयो विधानतः ॥  
 ( अथ ब्रह्ममुद्रा संप्रदाय कारिकाः ॥ यति धर्म समुच्चये )  
 आदौ तु यमपाशञ्च कालग्रन्थिः द्वितीयकम् ॥ २६ ॥  
 द्वे सूत्रे वेष्टयेन्मात्रा मात्राः सूत्रेण ह्यादयेत् ॥  
 उभेरञ्जु चलन्मध्ये नागग्रन्थि त्रयं ततः ॥ २७ ॥  
 ग्रन्थिद्वयं ततः पश्चादुभे सूत्रे च पीडयेत् ॥  
 सार्द्धत्रयं ब्रह्मग्रन्थिं मात्रा सन्धान पूर्वकम् ॥ २८ ॥  
 ब्रह्ममुद्रा समाख्याता चतुरङ्गुल विभागिका ॥  
 गोशृङ्ग सदृशं ग्रन्थि कारये स्निग्धसम्मुखम् ॥ २९ ॥  
 ॥ अन्यच्च ॥ अष्टाङ्गुलं तदर्धञ्च षडङ्गुल मथापि वा ॥  
 कार्पास सूत्रयुग्मेन वेष्टये ब्रह्ममुद्रिकाम् ॥ ३० ॥  
 ( अङ्गिराः ) द्विर्यज्ञोपवीतञ्च ग्रन्थि मध्येतु कारयेत् ॥  
 षडङ्गुल प्रमाणं वै वदयित्वा तु यत्नतः ॥ ३१ ॥  
 श्वेतसूत्रं भवेद्यत्र ब्रह्ममुद्रा प्रकीर्तिता ॥  
 ( मुद्रान्तराणि ) ब्रह्मधेनुस्तथा शङ्खः परशुर्नाग एव च ॥  
 पञ्चमुद्राः समाख्याताः स दण्डो धारयेद्यतिः ॥ ३२ ॥  
 नागमुद्रा शङ्खमुद्रा धेनुमुद्रा तथैव च ॥  
 ब्रह्मपरशुमुद्रे च पञ्चमुद्राः प्रकीर्तिताः ॥ ३३ ॥  
 नागमुद्रा त्वघोधार्या धेनुमुद्रा च मध्यतः ॥  
 तृतीये दण्डभागे च धार्या परशुमुद्रिका ॥ ३४ ॥  
 परशुमुद्रासंप्रदाय कारिकाः ॥  
 षोडशाङ्गुल विस्तीर्णा दीर्घश्च षोडश त्रयम् ॥



चतुरङ्गुल प्रमाणेन विस्तीर्णा दीर्घितं कृतम् ॥ ३५ ॥  
 मध्यपल्लवमाह्वय ततस्तद्विगुणं कृतम् ॥  
 पुनस्तद्विगुणं कुर्यात् परशुमुद्राविधीयते ॥ ३६ ॥  
 संप्रदाय विधानेन क्रियते दण्डसूत्रकम् ॥  
 यज्ञोपवीत सूत्रश्च चतुर्विंशति सङ्ख्यकैः ॥ ३७ ॥  
 दण्ड प्रशंसा ॥ एतल्लक्षणासंयुक्तो दण्डः सुदर्शनो भवेत् ॥  
 धारयेद्दृश्यते भक्तैः कालदण्डात् प्रमुच्यते ॥ ३८ ॥  
 मनो वाक्काय दण्डाश्च बहूदके शुचिस्मृताः ॥  
 वाग्दण्डो हन्ति वै ज्ञानं मनोदण्डः परागतिम् ॥ ३९ ॥  
 कर्मदण्ड स्त्रील्लोकांश्च हन्यादपरिरक्षितः ॥  
 एकश्च ज्ञानदण्डश्च हंसेपि युज्यते बुधैः ॥ ४० ॥  
 ऊर्ध्वपुण्ड्रश्चोर्ध्वरेता ऊर्ध्वदण्डोर्ध्व योगवित् ॥  
 स ऊर्ध्व पदमाप्नोति यतिरूर्ध्वचतुष्कवान् ॥ ४१ ॥  
 दन्ताः श्वेता नखा श्वेताः श्वेताश्च ब्रह्ममुद्रिकाः ॥  
 कटिपुष्पं दण्डवस्त्रं पञ्चश्वेताः प्रकीर्तिताः ॥ ४२ ॥  
 गन्धर्व्वा मानवा देवाः पितरो दण्ड संस्थिताः ॥  
 अतस्त्वास्थापयिष्यामि ब्रह्ममुद्रे नमोस्तुते ॥ ४३ ॥  
 ब्रह्ममुद्राङ्कितो दण्डः सर्वकाले श्रुचिःस्मृतः ॥  
 भिक्षायामटन श्वैव न दोषो मनुरब्रवीत् ॥ इति ॥ ४४ ॥  
 \* अथ ब्रह्ममुद्रा सहित दण्ड संस्कारः \*  
 पुरुष सूक्तेन मन्त्रेण विप्रहस्ते श्रुभैर्जलैः ॥  
 प्रतिष्ठांकारयेद्विद्वान् शङ्खाभिषेचनैः सहः ॥ ४५ ॥  
 ( अत्रप्रयोगः ॥ शङ्खोदकेनाष्टोत्तरशतप्रणवेन पुरुष-

सूक्तेन केशवादि चतुर्विंशति नामभिरभिषिष्य ॥

ततो ब्राह्मण हस्तस्यंदण्डं प्रति सुरभि मुद्रां प्रदर्श्य ।

॥ प्रार्थनामन्त्रः ॥ सखामां गोपाय इति पूर्वोक्तः ॥ ४६ ॥ खे

विष्णुहस्ते यथा चक्रं शूलं शिवकरे यथा ॥

इन्द्रहस्तेयथा वज्रं तथा दण्डो भवोद्यमे ॥ इति ॥ ४७ ॥ वा

पूर्वाभिमुखः सन् प्रणवेन दण्डग्रहणं कुर्यात् ॥

अदण्डो नैव तिष्ठेत् यतिः कुत्रचिदात्मवान् ॥ ४८ ॥

यदि तिष्ठेत् प्रतिदिनं प्राणायामशतं चरेत् ॥

दण्डत्यागं न कुर्वीत यावत् प्राण विधारणम् ॥ ४९ ॥

आचार्यैर्विहितो मार्गस्तत्यागी पतितो भवेत् ॥

दण्डत्यागं न कुर्वीत प्रमादेन यतिः क्वचित् ॥ ५० ॥

यदि त्यागश्चैव कुर्यात् पुनर्नैव च धारयेत् ॥

प्रमादेन च तं धृत्वा यतिर्धृष्टो न संशयः ॥ ५१ ॥

शतजन्म भवेच्छूद्रः संशयं नात्र कारयेत् ॥

॥ कदाचिद्भूमौ पतिते ग्रहणमन्त्रः ॥

प्रमादाद्यदि क्षीणत्वादण्डः पतति भूतले ॥

उत्तिष्ठेति च मन्त्रेण गृहीयाद्विधि पूर्वकम् ॥ ५२ ॥

उपप्रयन्तु मरुतः सुदानव इन्द्रप्राश्रुर्मवा स च ।

उत्तिष्ठ देवदेवेश उत्तिष्ठ दण्ड देवते ।

ऋषिभिर्मुनिभिर्वाय गन्धर्वाणां तथैव च ॥ ५३ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भगवन् नारायण जगत्पते ।

दण्डरूपिमहाविष्णो प्रसीद पुरुषोत्तम ॥ ५४ ॥

हरिमुद्रे ब्रह्ममुद्रे शंखमुद्रे नमोऽस्तुते ॥



अकारोकारमकारमुद्रे तुभ्यं नमो नमः ॥ ५५ ॥

दण्डात्मनो स्तु संयोगः सर्वदैव विधीयते ॥

न दण्डेन विना गच्छेद्गृहाद्वापि गृहान्तरम् ॥ ५६ ॥

इदं वचनं ग्राम्य विषयं । प्रवेश निर्गमे च विशेषः ।

माता पित्रा समो दण्डो भ्रात्रा च गुरुणा तथा ।

पथि साधनहेतुर्यच हरिमुद्रे नमोऽस्तुते ॥ ५७ ॥

द्वाराद्वहि वामपादं दण्डमूलं पुरो दधत् ।

ततो निर्गत्य विप्रादीन् दृष्ट्वा दक्षिणतो ब्रजेत् ॥ ५८ ॥

वामपादश्च दण्डाग्रे प्रवेशे पुरतःस्थिते ।

सङ्गच्छन्विपरीतश्च इति शौनक आह च ॥ ५९ ॥

( तीर्थे दण्डलोडनाद्याह ॥

तीर्थाभिवादको दण्डमूलाग्राभ्यामनुक्रमात् ।

अपः स्पृशेदभिगमे निर्गमे तद्विपर्ययात् ॥ ६० ॥

अग्रे सप्ताङ्कितं कृत्वा दण्ड मूलेन चाङ्कितम् ।

एवं त्रिभिः स्त्रिभिः कृत्वा तीर्थे वन्द्यादनुक्रमात् ॥ ६१ ॥

मूले जलमधः प्रोक्ष्य अग्रे शिरसि धारयेत् ।

दण्डञ्च करपात्रश्च न भूम्यां स्थापयेद्यतिः ॥ ६२ ॥

आर्द्रमुद्रां ततो वच्चा दण्डमूलेतु तर्पयेत् ।

ततो दण्डस्य मध्ये तु प्रणवेनैव तर्पयेत् ॥ ६३ ॥

द्विपङ्क्तारं तथाग्रेतु तर्पयित्वा समुत्थितः ।

॥ अन्यच्च ॥ सुरास्तिष्ठन्तिदण्डाग्रे दण्डमूलेतु पूर्वजाः ६४

प्रतिग्रन्थिषु गन्धर्वा मध्ये तिष्ठन्ति मानवाः ॥

अस्माकन्तु कुले जाता नानागोत्र समुद्रवाः ॥ ६५ ॥

ते सर्वे तृप्ति मायान्तु दण्ड सम्बन्धि चारिणः ॥  
 आदौमूले तथाग्रे तु मध्ये द्वादशवारतः ॥ ६६ ॥  
 त्रयंत्रयन्तु ग्रन्थिषु पूर्वमध्ये द्विवारतः ॥  
 दण्डस्याग्रे च तन्मूले द्वादश प्रणवैर्जलैः ॥ ६७ ॥  
 तर्पणञ्च ततः पश्चाज्जोडनं मार्जनं तयोः ॥  
 कृत्वा गुर्वर्कतोयानां वन्दनं प्रणवेन च ॥ ६८ ॥  
 शिर आच्छाद्य कौपीनं मन्दं मन्दं मठं व्रजेत् ॥  
 ( वह्निर्गमने ) क्रतुः ॥ विनादण्डेन पात्रेतु न गच्छेदयति-  
 सत्तमः ॥ भिक्षाकाले दण्डमेकं नोदपात्रं कदाचन ॥ ६९ ॥  
 ॥ अत्रिः ॥ दण्डं विहाय गृहानो भिक्षां द्वादश धारयेत् ॥  
 वह्निर्दण्डं प्रतिष्ठाप्य गृहानः षोडशैवतु ॥ ७० ॥  
 अदण्डो न गृहं गच्छेदिषुक्षेपत्रयादृते ॥  
 यदि गच्छेत् प्रतिगृहं प्राणायामशतं चरेत् ॥ ७१ ॥  
 संन्यस्ताखिलकर्मापि पितुर्वन्द्योहि मस्करी ॥  
 सर्व्ववन्द्येन यतिना प्रसूर्व्वन्या प्रयत्नतः ॥ ७२ ॥  
 तामुद्विश्य गयाक्षेत्रम चिरञ्चावलं व्यताम् ॥  
 ( पुनस्तत्रैव वायुपुराणे दण्डव्यवधाने प्रायश्चित्तमाह )  
 दण्डात्मनोस्तु चण्डालैर्व्यवधानेन भिक्षुकः ॥ ७३ ॥  
 प्राणायाम शतं कुर्यात् मुद्राभेद स्तथैव च ॥  
 शूद्रेण व्यवधानेतु प्राणायामा स्तु षोडश ॥ ७४ ॥  
 द्वादशाष्टौ च चत्वारो विट्क्षत्रिय द्विजोत्तमैः ।  
 भग्नदण्डादिकं चैव जलेऽगाधेक्षिपेदयतिः ॥ ७५ ॥  
 मयमूत्र पुरीषैश्च शुक्रकश्मल शोणितैः ॥



स्पृष्टं दण्डं त्यजेद्विक्षुः शेषैः संस्कार मर्हतीति ॥ ७६

आत्महस्तेयदादण्डस्तदादोषो न विद्यते ॥

चाण्डालादिभिः स्पृष्टोऽपि दोषभाक् न भवतीति ॥ ७७ ॥

व्यवधाने मतान्तरमाह ॥

शूद्रस्त्रीव्यवधानेन प्राणायामत्रयं चरेत् ॥

श्वखरोष्ठान्तर्गमने द्वादश प्राणसंयमाः ॥ ७८ ॥

जलान्तरे च क्षिप्तस्य व्यवधाने न दोषभाक् ॥

तथाकाशेऽपि क्षिप्तस्य व्यवधाने न दोषभाक् ॥ ७९ ॥

कुल्याप्रवाहान्तरिते प्राणायामांश्छन्दश्चरेत् ॥

महानद्यान्तरायेतु मुद्राभेदो विधीयते ॥ ८० ॥

विच्छिन्ने दूषिते वापि वध्नीयाद्ब्रह्ममुद्रिकाम् ॥

चातुर्मास्यान्तरे ये तु न वध्नीयाद्व्यतिः क्वचित् ॥ ८१ ॥

सिकण्वर्जं तदास्नायात् प्राणायामत्रयमाहृतः ॥

अनध्याये चापराद्धे न वध्नीयात् कदाचन ॥ ८२ ॥

यतीनाञ्च त्रयोदण्डा एकस्थाने न च क्षिपेत् ॥

कदाचित् स्थापिता स्तेयां पुनर्मुद्रा विधीयते ॥ ८३ ॥

तान्न इतिशेषः । अत्रेयं व्यवस्था ॥ हस्तस्थितदण्डे चण्डाला-  
दिभिर्व्यवधानमेव न संभवति । जलाम्बरादिषु क्षिप्ते न कश्चि-  
दोष भाग भवेदित्युक्तत्वात् । जलाम्बरादि स्थापितं तु तद्वोपा-  
वहमेव नास्ति । तस्मात् केवलं भूमि स्थापितं दण्डस्यैवा-  
त्मनश्चाण्डालादि कृतव्यवधानमेव दोषावहं । तत्रैव चोक्तं  
प्रायश्चित्त मिति मन्तव्य मिति ॥

पूर्व भागः समाप्तः ॥

# यतिधर्मनिर्णय संन्यासदर्पण पूर्वभागस्य

## शुद्धाशुद्ध पत्रं

| अशुद्धं      | शुद्धम्   | पृष्ठं | पंक्तिः | अशुद्धं  | शुद्धं   | पृष्ठं | पंक्तिः |
|--------------|-----------|--------|---------|----------|----------|--------|---------|
| भिक्षु       | भिक्षू    | १      | ६       | अस्थु    | अस्थू    | २१     | १       |
| मुक्तिः      | मुक्तिः   | १      | १५      | तस्थु    | तस्थू    | २१     | ४       |
| याश्चयाश्च   | याश्च     | २      | १२      | मनि नी   | मुनि नी  | २१     | १४      |
| इवि          | इव        | २      | १४      | हादि     | हादि     | २२     | २१      |
| शम्यं        | शून्यं    | २      | १७      | अस       | अस       | २२     | २१      |
| श्वरे        | श्वरे     | ५      | १       | अष्ट     | अष्ट     | २३     | १५      |
| भूवन्        | भूमन्     | ५      | ११      | ज्यात्या | जात्या   | २३     | १५      |
| धम्मा        | धर्मा     | ६      | १२      | श्रय     | श्रूय    | २५     | १६      |
| भक्ति        | भुक्ति    | ७      | ३       | चालमी    | चलमी     | २६     | ५       |
| नकु          | नक्       | ७      | १२      | फार इयि  | फूर इयि  | २६     | ६       |
| सर्वानि      | सर्वाणि   | ८      | २१      | गारु     | गारु     | २७     | १०      |
| कर्म         | कर्मा     | ११     | ४       | योगि     | योगं     | २७     | १२      |
| सुत          | सूत       | ११     | १०      | प्राप्त  | प्राप्तु | २७     | १६      |
| संन्यासत्यगे | संन्यासो  | १२     | १०      | नीप      | नीपि     | ३१     | १९      |
| श्रुय        | श्रूय     | १२     | १७      | स्तेस्यु | स्तेस्यु | ३१     | २१      |
| भुत्वा       | भूत्वा    | १२     | १८      | कुल      | कूल      | ३१     | २३      |
| वहु          | बहु       | १३     | १२      | न्तम     | न्तरम    | ३८     | १६      |
| वासु         | वासू      | १३     | २३      | पद्य     | पद्ये    | ४९     | ५       |
| सुनां        | सूनां     | १५     | १       | युद्ध    | युद्धं   | ४९     | १०      |
| वैका         | वैक       | १५     | ११      | राग्य    | राग्या   | ५१     | २२      |
| शंकरा        | शंकर      | १६     | १८      | त्युने   | त्युने   | ५२     | २१      |
| सिद्धि       | सिद्धिं   | १७     | १५      | वेद      | वेदमावृत | ५२     | २२      |
| ग्निमहो      | ग्निमहो   | १७     | २०      | त्यत्वं  | त्यत्वं  | ५३     | ८       |
| क्षुनां      | क्षुणां   | १८     | ७       | नित्य    | नित्या   | ५३     | १५      |
| श्रोत        | श्रोत     | १९     | २       | वजु      | वजु      | ५३     | १७      |
| दर्शिनो      | दर्शिनो   | १९     | १५      | प्राणा   | प्राणि   | ५३     | १९      |
| निकि         | निकि      | २०     | २       | वंश      | वंशः     | ५३     | २०      |
| प्राप्तमि    | प्राप्तमि | २०     | १०      | लका      | लका      | ५३     | २३      |
| पुत्त        | पुत्त     | २०     | ११      | लापि     | लापि     | ५३     | २३      |
| सज्य         | सज्ज      | २०     | १३      | रति      | रति रिति | ५६     | १४      |
| सज्य         | सज्ज      | २०     | १६      | तद       | तद       | ५८     | ३       |



| अशुद्धं     | शुद्धम्     | पृष्ठम् | पंक्तिः | अशुद्धं  | शुद्धं  | पृष्ठम् | पंक्तिः |
|-------------|-------------|---------|---------|----------|---------|---------|---------|
| वग्र        | वगृ         | ५९      | १२      | श्रोत    | श्रोते  | ७०      | १६      |
| माप्तः      | माप्ता      | ५९      | १८      | ध्याय    | ध्याप   | ७०      | १७      |
| प्राप्तनु   | प्राप्तु    | ६०      | १       | वैधू     | वैधु    | ७०      | १७      |
| तीतो        | तीता        | ६०      | १२      | शाज्यं   | शाज्य   | ७०      | १८      |
| येत         | श्वेत       | ६०      | १५      | श्रोतं   | श्रोते  | ७०      | १९      |
| ग्रहे       | गृहे        | ६०      | २०      | नाधि     | नधि     | ७०      | १९      |
| ग्रह        | गृह         | ६०      | २३      | वह       | वहन्    | ७२      | ७       |
| त्तिक       | त्तिकः      | ६०      | २३      | चार्य    | चार्यः  | ७२      | ९       |
| गोप्य       | गोप्य       | ६१      | २       | न्धरा    | न्धर    | ७२      | २१      |
| शास्त्रात्म | शास्त्रात्म | ६१      | २१      | मेता     | मेत     | ७३      | १       |
| प्रह        | प्राह       | ६१      | २२      | पष्टो    | पष्टा   | ७३      | २       |
| दीना        | दीनां       | ६३      | ८       | स्यति    | स्यते   | ७३      | ९       |
| कांसं       | कानांसं     | ६४      | १२      | दत       | दतः     | ७३      | १३      |
| धानां       | धानाः       | ६४      | १९      | प्रयं    | प्रय    | ७३      | १८      |
| रेगु        | रेगुं       | ६५      | ४       | कर्म     | कर्मा   | ७४      | १४      |
| चका         | चक          | ६५      | १२      | चका      | चक      | ७५      | ३       |
| भूत्वा      | कृत्वा      | ६६      | ११      | वन्धू    | वन्धु   | ७५      | ४       |
| माप्तः      | माप्ता      | ६७      | २       | वहु      | वह      | ७५      | १७      |
| भूत्वा      | कृत्वां     | ६७      | ५       | कश्च     | कस्य    | ७५      | १७      |
| भूत्वा      | कृत्वां     | ६७      | १३      | मुदा     | मृदा    | ७६      | ११      |
| चौरं        | चौर         | ६७      | १५      | श्रुते   | श्रुते  | ७६      | १८      |
| युक्त       | युक्तः      | ६७      | १६      | माधू     | माधु    | ७६      | २२      |
| भिक्षु      | भिक्षु      | ६७      | २१      | मुखो     | मुखो    | ७८      | २१      |
| भिक्षु      | भिक्षु      | ६७      | २१      | विद्या   | विद्या  | ७९      | १८      |
| सेत         | सेतुः       | ६८      | ७       | वात्मा   | वात्मा  | ८०      | ६       |
| पदु         | पदु         | ६८      | २१      | दत       | दत्त    | ८०      | १२      |
| श्रामो      | श्रामो      | ६९      | ४       | पक्ष     | पक्षः   | ८०      | १८      |
| धर्म        | धर्म        | ६९      | ७       | दिना     | दीना    | ८१      | ७       |
| अधि         | अधी         | ६९      | १०      | राग्य    | राग्यं  | ८२      | ८       |
| ईम          | ईमः         | ७०      | ५       | वहु      | वह      | ८२      | १८      |
| ता          | तायां       | ७०      | ७       | वहु      | वह      | ८२      | २१      |
| पक्ष        | पक्षः       | ७०      | ८       | धर्मधर्म | धर्मान् | ८३      | २       |
| नैष्ठि      | नैष्ठि      | ७०      | १५      | चाचा     | चा      | ८३      | ७       |

| अशुद्धं  | शुद्धं        | पृष्ठम् | पंक्ति | अशुद्धं     | शुद्धं     | पृष्ठम् | पंक्ति |
|----------|---------------|---------|--------|-------------|------------|---------|--------|
| अष्टं    | अष्ट श्रे     | ८३      | ९      | किच्छ       | कुच्छ      | ११०     | २२     |
| वह्      | वह्           | ८५      | १३     | कामा        | कामाः      | १११     | ११     |
| विप्र    | विप्रा        | ८५      | १७     | हता         | हताः       | १११     | ११     |
| हात्म    | हात्मा        | ८८      | १८     | निष्ठा      | निष्ठवा    | १११     | १५     |
| रहं      | रमहं          | ८९      | १४     | भार्याः     | भार्याः    | १११     | २०     |
| कूर्म    | कूर्म         | ९०      | १६     | परि         | पारि       | १११     | २१     |
| पूर्व    | पूर्व         | ९१      | १४     | स्मुक्तः    | स्मुक्तः   | ११२     | ३      |
| नूत्ते   | नूत्तेः       | ९२      | ३      | तृष्णं      | तृष्णयं    | ११३     | ९      |
| पट       | पट्           | ९४      | १०     | देह         | देहं       | ११४     | १५     |
| यजु      | यजु           | ९४      | १२     | श्यात्मा    | श्यात्म    | ११४     | २०     |
| येना     | येनां         | ९४      | १६     | हाप्रा      | हाप्र      | ११५     | १५     |
| मेव      | मेव           | ९५      | ३      | हया         | हयां       | ११५     | २१     |
| शुद्रः   | शूद्रः        | ९५      | १४     | कर्त्ता     | कर्त्ता    | १२०     | १०     |
| तीया     | तय            | ९५      | १६     | कारी        | कारि       | १२२     | ४      |
| भूवि     | भूरि          | ९६      | ९      | सिद्धः      | सिद्धम्    | १२३     | ५      |
| कन्या    | कन्यां        | ९६      | १९     | न्यान्य     | न्यान      | १२२     | १०     |
| प्रद     | प्राद         | ९७      | ९      | पदा         | पादा       | १२२     | १२     |
| क्षया    | क्षाय         | ९७      | १३     | ष्टयः       | ष्टय       | १२२     | १३     |
| म्यक्ते  | म्यक्त्वे     | ९७      | १४     | र्यप्रभृतयः | र्याष्टयः  | १२२     | १४     |
| पृथ्या   | पाथ्यां       | ९७      | १८     | धिरो        | विरो       | १२२     | २३     |
| पक्षा    | रक्षा         | ९८      | २१     | वैश्यानां   | वैश्य      | १२४     | ७      |
| यति      | याति          | ९९      | १      | झिरः        | झिराः      | १२४     | १४     |
| यांक्ति  | योत्ते शोक्ते | ९९      | ४      | वैरा        | वैरा       | १२५     | ३      |
| भृयव     | भृयवा         | ९९      | १८     | ख्यामा      | ख्यामा     | १२५     | १६     |
| क्षत्या  | क्षत्य कृत्य  | ९९      | २१     | कृत         | कृत        | १२५     | ९      |
| हन्ने    | हन्ने         | ९९      | २३     | पती         | प्रती      | १२६     | ११     |
| न्द्रिय  | न्द्रियः      | १०१     | १९     | लाय         | लया        | १२६     | १४     |
| वहि      | वहिः          | १०२     | २      | चार         | चर         | १२८     | १७     |
| हेतु     | हेतुं         | १०२     | ११     | शांश्च      | शांश्च     | १२९     | १०     |
| वह्      | वह्           | १०३     | २      | नैप         | नैपं       | १३०     | ३      |
| हित      | हित्य         | १०४     | २१     | त्याय       | त्यान      | १३०     | १४     |
| ष्ठासेत् | ष्ठेत्        | १०५     | ७      | स्मन तत्    | स्म तत् त् | १३२     | ४      |
| दैक      | तदैक          | १०८     | २२     | वाद         | वाद        | १३२     | १५     |



| अशुद्धम् | शुद्धम्       | पृष्ठम् | पंक्तिः | अशुद्धम् | शुद्धम्  | पृष्ठम् | पंक्तिः |
|----------|---------------|---------|---------|----------|----------|---------|---------|
| रोद्ध    | रोद्धु        | १३४     | १७      | इदं      | इद       | १७२     | २३      |
| त्मन     | त्मता         | १३६     | ६       | निध      | निध      | १७५     | २३      |
| ग्रहा    | ग्रहा         | १३६     | ८       | तृप्याया | तृप्याय  | १७७     | ९       |
| धितो     | धिते          | १३६     | १५      | संन्या   | संन्य    | "       | २०      |
| विद्याकृ | विद्यावानधिकृ | १३६     | १९      | वना      | वाना     | १७९     | २       |
| केच      | केन           | १३७     | १६      | अन्त     | अन्तः    | "       | ६       |
| नापि     | ना अपि        | १३७     | २०      | सक्नो    | शक्नो    | "       | ७       |
| तिन      | तिर्न         | १३८     | ६       | न्यर्था  | न्यार्था | "       | ११      |
| परि      | पारि          | १३८     | १४      | धर्म     | धर्मो    | "       | १२      |
| कत्त     | कत्त्व        | "       | १५      | शितं     | शितः     | "       | "       |
| परि      | पारि          | "       | १६      | प्रमु    | प्रभु    | १८१     | १       |
| ब्राज    | ब्रज          | "       | १७      | न्यास    | न्यासः   | "       | "       |
| प्राज    | प्रज          | "       | २०      | भासः     | भास      | १८२     | १२      |
| चित्ता   | चिता          | १४०     | ७       | कृतं     | कृत्य    | १८३     | १       |
| यन्      | यन            | १४१     | १०      | सामु     | समु      | "       | १३      |
| जप       | जपो           | १४२     | २       | निर्दे   | निदे     | "       | २०      |
| होम      | होमो          | "       | "       | पादं     | पादं     | १८४     | २०      |
| सिना     | सिताना        | १४४     | ११      | वज्रं    | वज्र     | १८६     | ११      |
| धर्म     | धर्म          | १४५     | १६      | सुस      | सुसं     | १९१     | ८       |
| यद्      | यद्           | १४६     | ५       | गृस्ये   | गृहस्ये  | १९२     | ८       |
| परि      | परी           | "       | १८      | राज्य    | राज्या   | १९६     | १३      |
| खोमा     | खोम           | १४८     | ८       | स्थिताः  | स्थितः   | "       | १८      |
| गुधु     | गुधु          | १५०     | ६       | भुक्ति   | भुक्त    | १९७     | १०      |
| कच्युताः | क्युताः       | १५१     | ३       | वज्रं    | वज्र     | "       | १०      |
| वति      | वतीति         | "       | १२      | निर्य    | निर्य    | १९८     | ९       |
| नाधि     | नधि           | "       | १५      | निर्दे   | निदे     | "       | २१      |
| मुमु     | मुमु          | १५६     | ११      | न्याज    | न्याज    | २००     | ९       |
| गाह      | गाहं          | १५९     | १०      | प्राणा   | प्राणां  | "       | १५      |
| त्रयो    | त्रये         | "       | १२      | सन्मो    | सन्मो    | २०१     | ६       |
| वर्ण     | वर्ण          | १६४     | ३       | अयसे     | अयसे     | "       | १५      |
| वर्ण     | वर्ण          | १६९     | १४      | योगि     | योगि     | २०२     | १८      |
| शक       | शक            | १७०     | २३      | नीप      | नीप      | २०३     | ४       |
| मीप      | मीपे          | १७१     | ९       | हृष्या   | हृष्या   | २०६     | १       |

| अशुद्धं  | शुद्धं  | पृष्ठम् | पंक्तिः | अशुद्धम्  | शुद्धम्  | पृष्ठम् | पंक्तिः |
|----------|---------|---------|---------|-----------|----------|---------|---------|
| ऽर्वात्य | र्वात्य | २०६     | ४       | साङ्ख्यो  | साङ्ख्ये | "       | ७       |
| क्षयं    | क्षयं   | "       | २१      | तेज       | तेजो     | २३०     | ३       |
| स्तां    | घतां    | २०८     | २०      | यङ्ख      | यङ्खं    | "       | "       |
| हारो     | हारे    | २१०     | २१      | शत        | शतत      | "       | १३      |
| श्रमो    | श्रमे   | "       | २३      | क्षुप     | क्षुपः   | "       | २१      |
| निदं     | निदे    | २१२     | ४       | हंसा      | हंसो     | "       | २२      |
| ग्रज     | ग्रजः   | २१४     | ८       | तीर्थ     | तयं      | २१४     | ३       |
| शने      | शेन     | २१४     | ९       | रथः       | रथः      | २३७     | ११      |
| भञ्ज     | भञ्च    | "       | २२      | विशा      | विशा     | २३४     | २       |
| हंशं     | वेशं    | २१५     | १५      | सिन्धि    | सन्धि    | २३१     | ११      |
| निय      | गिय     | २१७     | ८       | प्रश्ना   | प्रश्नाः | २४३     | ५       |
| सिद्ध    | सिध्य   | "       | १४      | विशो      | विशो     | "       | ९       |
| निष्ठा   | निष्ठा  | २१८     | ४       | विशयो     | विस्मो   | "       | १०      |
| क्षतम्   | क्षतः   | "       | २२      | फ्यार्थः  | फ्यार्थ  | २४७     | ९       |
| मुञ्जी   | भुञ्जी  | "       | २३      | नारि      | नारी     | २५१     | २२      |
| विद्या   | विद्या  | २३९     | ६       | सन्भो     | सम्भो    | २५४     | ३       |
| शमं      | शकं     | "       | "       | दातव्यं   | दद्यात्  | २५९     | ४       |
| धर्मा    | धर्मा   | "       | ७       | पड        | पड्      | २६०     | ९       |
| थिता     | थितो    | "       | "       | इत्य      | इत्यु    | २६२     | १४      |
| कथनम्    | कथनम्   | "       | ९       | वर्षि     | वार्षि   | २६४     | २३      |
| हंशं     | वेशं    | २२०     | १४      | धेनुं     | धेनु     | २६५     | १७      |
| मवे      | भवे     | "       | २३      | श्रमि     | श्रमिण   | "       | २०      |
| अध्या    | आध्या   | २२१     | १७      | यिक       | यिकं     | २६६     | २       |
| स्वम     | क्षम    | २२२     | १२      | क्षत्य    | क्षतिम   | "       | ३       |
| भूना     | भूता    | "       | १३      | कैकं      | कैक      | "       | ५       |
| सन्मो    | सन्मो   | २२३     | १       | सिध्य     | सिध्य    | "       | ८       |
| पूर्व    | पूर्व   | २२५     | १९      | सिध्य     | सिध्य    | "       | ११      |
| वर्षे    | वर्षे   | २२६     | १९      | आत्मात्मे | आत्मे    | २६७     | ५       |
| गन्ध     | गान्ध   | "       | १८      | सहि       | संहि     | २६८     | १       |
| धीत      | धीत्य   | २२७     | १२      | सम        | समी      | "       | २१      |
| हस्थो    | गृहस्थो | २२७     | १४      | दमां श्री | दमा श्री | २६९     | ७       |
| सङ्ख     | साङ्ख   | २२८     | ५       | क्षतः     | क्षतेः   | "       | १३      |



| अनुक्रम  | शुद्धम्   | पृष्ठम् | पंक्तिः | अंशुक्रम   | शुद्धम्        | पृष्ठम् | पंक्तिः |
|----------|-----------|---------|---------|------------|----------------|---------|---------|
| विश्व    | विश्वे    | "       | १७      | माया       | माध्या         | २५८     | १       |
| नुप्या   | नुप्याः   | २७५     | १२      | मज्ज       | माज्यं         | "       | २       |
| अत्यनु   | अतिमनु    | २७९     | १५      | यचना य     | याचमना         | "       | २३।     |
| केचि     | केचानि    | २८०     | ७       | गिनु       | गिन            | २९९     | २१      |
| नुक्ता   | नुक्त     | २८०     | १०      | मन्त्रे    | मन्त्रं        | ३००     | ७       |
| वता      | वताः      | २८१     | ८       | मुद्य      | सूद्य          | "       | ८       |
| शैन      | शैन       | "       | १३      | सलु        | सम्            | "       | १३      |
| प्रति    | प्रती     | २८२     | ११      | गुज        | मज्ज           | ३०१     | १७ १    |
| उत्ताः   | उक्ताः    | २८३     | २       | धम         | धम             | "       | " २     |
| पाङ्     | पोङ्      | २८३     | ५       | राह        | राह            | "       | १९      |
| अखं      | आखं       | २८३     | २०      | परः        | परम्           | ३०२     | १२      |
| ताष्ट    | साष्टौ    | ५८४     | ३       | रौद्रे     | रौद्रे         | "       | १७      |
| चम       | चाम       | "       | ९       | मयां       | मयां शो        | "       | २०      |
| पूर्व    | पूर्व     | "       | "       | भूव        | भुव            | ३०५     | २४ ५ १  |
| ग्नरु    | ग्नरु     | "       | "       | तुय        | तुय शि         | ३११     | ५       |
| सुखं     | सुखं      | २८५     | ४       | आग्नी      | आग्ने          | ३१३     | ८       |
| हिष्टेति | हिष्टाशति | "       | १५      | तेव        | तव             | "       | १०      |
| सम       | संम       | "       | १७      | मन्त्रे    | मन्त्रे        | ३१४     | १४      |
| सिद्धयो  | सिद्धये   | "       | १८      | शैन        | शैन            | "       | २२      |
| कृत्य    | कृत्य     | २८६     | २       | माज्य होमं | होममाज्यं न्यं | ३१५     | ९       |
| वय       | वप        | "       | १४      | सन्ध्या    | सन्ध्या        | "       | २०      |
| ऽपि      | ऽपि       | "       | १९      | त्रिक      | त्रिक          | ३१७     | १०      |
| नान्त    | नानन्तरं  | २८८     | १६      | मा         | मां            | "       | १७      |
| द्विती   | द्विती    | २८९     | ३       | त्याक्त्वा | त्याक्त्वा     | ३१८     | १३      |
| तस्पृ    | तपृ       | २८९     | १८      | अंगु       | अंगु           | ३१८     | १४      |
| वध       | वध्व      | २९०     | २१      | हस्त       | हस्त           | ३१९     | ५       |
| स्पति    | स्पतिः    | २९१     | १६      | को न       | को वा          | ३१९     | २२      |
| यत्ते    | यत्ते     | "       | १७      | मुद्रा     | मुद्रां        | ३२०     | १७      |
| ज्ञान    | ज्ञानं    | २९२     | १७      | रज्जु      | रज्जु          | ३२१     | ६       |
| तुभ्यं   | तुभ्यं    | २९४     | ६       | शुभं       | शुभं           | ३२२     | २१      |
| पत्या    | पत्या     | २९७     | ५       | कुर्वी     | कुर्वी         | ३२३     | ११      |
| धानो     | धानमु     | "       | १७      | शुद्र      | शुद्र          | ३२६     | ५       |
|          |           |         |         | याग्र      | याग्र          | ३२६     | २२      |

पूर्वभागस्य शुद्धशुद्धपत्रं समाप्तं ।























